।। ॐ श्री विश्वेश्वराय नमः।।　　ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।　　ॐ श्री चन्द्रमोहन सद्गुरुवे नमः

सद्गुरुदेव

साक्षात्

योगयोगेश्वर अनन्तविभूषित सद्गुरुदेव
योगीराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के
स्वहस्त लिखित विशेषलेख

।। ॐ श्री विश्वेश्वराय नमः।।　　ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।　　ॐ श्री चन्द्रमोहन सद्गुरुवे नमः

संस्थापक आशीर्वाद स्वरूप

योग योगेश्वर

श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्रकाशन स्थान

प्रभु रामलाल सिद्ध योग साधना भवन, 61– सी/1/121 जोंधवल
छुहारा हनुमान जी रोड, मेंहदौरी कालोनी, तेलियर गंज, प्रयागराज– 211004
मो. 9936678368

संपादक

श्री विनय मालवीय जी

स्वत्वाधिकारी :

श्री विनय मालवीय जी

लेख संकलन कर्त्ता :

श्री विनय मालवीय, श्री अन्तू राम यादव

लेखन व्यवस्था :

अम्बरीष मिश्र

साज–सज्जा

कनौजिया ग्राफिक्स (परमानन्द वर्मा)

प्रकाशक : मनोरथ पब्लिकेशन, जयपुर

नोट :— इस ग्रन्थ के संकलन, सम्पादन, प्रकाशन में किसी भी त्रुटि के लिए क्षमा प्रार्थी

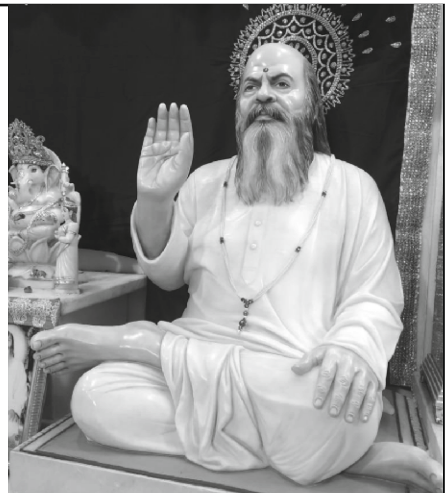

प्रथम ग्रंथ

लेखन अवधि : अप्रैल 1968 से मार्च 1977 तक

सर्वाधिकार प्रकाशन हेतु सुरक्षित

प्रभु रामलाल सिद्ध योग साधना भवन, 61– सी/1/121 जोंधवल
छुहारा हनुमान जी रोड, मेंहदौरी कालोनी, तेलियर गंज, प्रयागराज– 211004
मो. 9936678368

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

दो शब्द

जैसा कि हम सभी, ''सिद्धयोग'' दरबार से जुड़े, भाई-बहन यह भली-भाँति जानते हैं कि हमारे दादा-गुरुदेव योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज जन-कल्याणार्थ नेपाल-हिमालय से अनेक शरीर धारण करके इस धरा-धाम पर आये। धरा-धाम पर आने का मुख्य कारण था- श्री सदाशिव महाराज का आदेश। श्री सदाशिव महाराज, हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्रीरामलाल जी महाराज के गुरुदेव हैं। उनका यह आदेश था कि तुम पृथ्वी पर जाओ और अपने संस्कारी लोगों से जुड़े संस्कारों को भोग कर निपटाओ। संस्कारों को भोग कर निपटाने का आदेश इसलिए दिया गया था। क्योंकि संस्कारों को निर्बीज समाधि में काटकर निपटाने से संस्कारों को भोग कर निपटाना श्रेयस्कर है। महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने संस्कारों को भोगकर निपटाने का केवल मात्र निर्देशन (डिमांस्ट्रेशन) किया था, उस कार्य को अंजाम तक पहुँचाने का कार्य, उन्हीं की प्रतिमूर्ति हमारे प्राण-धन सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने किया। कहने के लिए तो महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज, सद्गुरु देव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के गुरुदेव हैं परन्तु ये दो नहीं बल्कि एक ही है। हमारे चाचा गुरुदेव श्री पारसनाथ सिंह जी प्राय: यह कहा करते थे कि मैं तो धोखा खा गया परन्तु तुम लोग धोखे में ना रहना ''ये वही हैं।''

अर्थात् सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज, दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ही हैं। ये आज भी नेपाल-हिमालय की स्फटिक गुफा में विद्यमान हैं और कल्प के अन्त तक विद्यमान रहेंगे जैसा कि भुषुण्डि संहिता, काकनाड़ी, चेन्नई में अंकित है।

हमारे सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज सिद्धयोग पत्रिका का प्रकाशन अप्रैल-1968 से प्रारम्भ किया। उनके लीला संवरण (25 जून, 1990) के बाद से ही मन में बार-बार यह विचार आता रहा सिद्ध योग पत्रिका में प्रकाशित गुरुदेव के विशेष लेखों को एक जगह लिपिबद्ध किया जाय। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर सन् 1968 से सन् 1992 तक पच्चीस वर्षों की सिद्धयोग पत्रिकाओं को ढूँढ़कर इकट्ठा करने का कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य में मिर्जापुर के भाई श्री दूधनाथ जी, झाँसी के भाई श्री एस.सी. खरे जी, प्रयागराज के भाई श्री उपेन्द्र अग्रवाल जी और भाई अन्तूराम जी, भाई श्री आर. एन. राय का प्रमुख योगदान रहा। पत्रिकाओं से श्री सद्गुरुदेव जी के विशेष लेखों को फोटो स्टेट करना एवं उन्हें क्रमबद्ध तरीके से स्पाइरल बाईंडिग कराकर प्रकाशन के योग्य बनाने का सराहनीय कार्य भाई अन्तूराम जी द्वारा सम्पन्न किया गया।

सद्गुरुदेव भगवान के विशेष लेखों एवं प्रश्नोत्तरों को ग्रन्थ के रुप में लिपिबद्ध करने वाले सभी भाई साधुवाद के पात्र हैं। हम सबका मिला-जुला प्रयास आप के सम्मुख है। यह अद्भुत ग्रन्थ हमारे लिए एक अमूल्य धरोहर है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ हमारे लिए एवं हमारी आने वाली पीढ़ी के लिए एक आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में वरदान साबित होगा।

सादर जयगुरुदेव
श्री सद्गुरुदेव जी का एक अकिंचन बालक
विनय मालवीय
दिनांक 12, जून 2019
गंगा दशहरा, प्रयागराज

।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

योग योगेश्वर आनन्दकन्द सद्गुरु श्री चन्द्र मोहन जी महाराज

''ये वही ही हैं।''

अर्थात् हमारे सद्गुरु श्री चन्द्रमोहन महाराज ही हमारे परम् गुरु श्री रामलाल महाराज हैं।

हमारे अनेक ज्ञानी-ध्यानी वरिष्ठ गुरु भाइयों के अनुभव के आधार पर यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि ये वही ही हैं। भाइयों के अनुभव इस प्रकार हैं—

1. हमारे चाचा गुरुदेव बलिया निवासी आदरणीय श्री पारसनाथ जी ने एक बार हम सबके बीच अपना अनुभव सुनाया था— ''में तो भ्रम में रह गया। इन्हें (श्री चन्द्रमोहन जी महाराज) को केवल मात्र अपना गुरु भाई ही समझता रहा लेकिन तुम लोग भ्रम में रहकर धोखा मत खाना ''ये वही ही हैं।''

2. हमारे एक वरिष्ठ गुरु भाई जो सद्गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के परम लाडले एवं मुँह लगे बच्चे हैं, उन्होंने अपने अनुभव सुनाया था— ''एक बार सद्गुरु भगवान अपने प्रवचन के दरम्यान अचानक यह कह बैठे कि श्री प्रभु जी यानी श्री राम लाल जी महाराज इस समय भी अपने चार शरीरों से योग प्रचार कर रहे हैं। हमारे गुरु भाई जी गुरुदेव जी के पीछे पड़ गये कि गुरु जी बताइए कि वे किस-किस शरीर से और कहाँ-कहाँ प्रचार कर रहे हैं? उनके अत्यन्त हठ करने पर गुरुदेव ने कहा— अच्छा, जाओ गुफा में ध्यान में बैठ जाओ। ध्यान में हमारे गुरु भाई को गुरुदेव ने वाराणसी में, गढ़मुक्तेश्वर में एवं वृन्दावन में योग प्रचार करते हुए दिखाया गया परन्तु चौथे शरीर से योग प्रचार गुरुदेव ने नहीं दिखाया। हमारे गुरु भाई के मन में यह जिज्ञासा हुई कि वह चौथा शरीर कौन है जिससे हमारे परम् गुरु श्री रामलाल जी महाराज योग प्रचार कर रहे हैं। उसी समय आकाश वाणी हुई— ''ये ही यानी योगिराज श्री चन्द्रमोहन महाराज ही वह चौथा शरीर है जिसके द्वारा श्री रामलाल जी महाराज योग प्रचार कर रहे हैं।'' हमारे भाई तत्काल ध्यान से उठे और दौड़ कर गुरु भवन में गये जहाँ हमारे गुरुदेव विराजमान थे। गुरुदेव के चरणों में सिर रखकर हमारे गुरु भाई ने कहा— महाप्रभुजी को शत् शत् प्रणाम। उनके ऐसा कहने पर गुरुजी ने कहा कि अरे! मैं तो तेरा गुरु हूँ, महाप्रभु जी नहीं। तब हमारे गुरु भाई ने कहा कि गुरुदेव आकाशवाणी की बात सत्य होती है कि असत्य? तब गुरुदेव ने कहा लल्ला! आकाशवाणी त्रिलोक में भी असत्य नहीं हो सकती। इसके बाद हमारे गुरु भाई ने ध्यान में हुई आकाशवाणी को बताया। तब गुरुदेव ने कहा— ''अरे, चल अपना काम कर'' ऐसा कहकर अपने को छिपा लिया।

3. एक बार हमारे एक वरिष्ठ ध्यानी गुरु भाई ने अपना अनुभव सुनाया— गुरुदेव कार में बैठ कर श्री सिद्ध गुफा से प्रचार हेतु कहीं जाने के लिए तैयार थे। सब लोग उन्हें प्रणाम करने के लिए कार के पास खड़े थे। हमारे गुरु भाई क्या देखते हैं कि गुरुदेव के स्थान पर कभी परमगुरु श्री रामलाल जी महाराज के रूप में बदल जाता है। अपने इस अनुभव को जब भाई जी ने गुरुदेव को सुनाया तो गुरुदेव ने कहा— ''लल्ला! ये सब एक ही है।''

4. एक हमारे गुरु भाई जो गुरु देव जी की व्यक्तिगत सेवा में लगे रहते थे। भोजन बनाना, स्नान कराना और कपड़ा धोना इत्यादि कार्य किया करते थे। भाई जी के मन में कुछ पूछने की जिज्ञासा बराबर बनी रहती थी परन्तु संकोच वश वे पूछ नहीं पाते थे। परम् अन्तर्यामी हमारे गुरु देव एक दिन भोजन करते समय पूछा लल्ला! तुम कुछ पूछना चाहते हो क्या? भाई जी ने नकारात्मक उत्तर देते हुए अपनी जिज्ञासा प्रकट नहीं की। इसके बाद गुरुदेव ने कुछ गम्भीर मुद्रा में कहा- लल्ला! तुम हमें क्या समझते हो? गुरुदेव जी की गम्भीर मुद्रा को देखकर भाई जी ने कहा- गुरुदेव! मैं आप को सर्वज्ञ, अन्तर्यामी एवं परमगुरु श्री रामलाल जी महाराज का ही स्वरूप मानता हूँ। भाई जी की यह बात सुनकर गुरुदेव उनकी तरफ देखे और मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए भोजनालय से बाहर निकल गये।

5. जैसा कि गुरुदेव के प्रवचन एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हम सभी जानते हैं कि नेपाल हिमालय पर जब हमारे परम् गुरुदेव श्री रामलालजी महाराज, अपने गुरुदेव श्री सदाशिव महाराज के पास विराजमान थे, उस समय वहाँ एक प्रश्न उठा कि संस्कार भोगकर निपटाना श्रेयस्कर है अथवा समाधि में काट कर निपटाना श्रेयस्कर है? अन्ततोगत्वा निर्णय यह हुआ कि संस्कार भोग कर निपटाना श्रेयस्कर है। इसके बाद सदाशिव महाराज ने अपने शिष्य श्री रामलाल जी को आदेश दिया कि अब तुम पृथ्वी पर जाओ और अपने संस्कारियों के संस्कार भोग कर निपटाओ। वे अनेक निर्माण काय से इस धरा-धाम पर आये और संस्कारों को भोग कर निपटाने का केवल मात्र डिमांस्ट्रेशन किया। संस्कारों को पूर्ण रूप से भोगकर निपटाने के लिए उन्हीं में श्री चन्द्र दत्त के रूप में दूसरा शरीर धारण किया। यही चन्द्र दत्त जी, बाद में श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के रूप में अन्तिम स्वाँस तक संस्कारों को भोगकर निपटाने का कार्य सम्पन्न किया।

इस प्रकार अनेकानेक अनुभवों/तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि— ''ये वही ही हैं।''

सम्पादक

मेरे सद्गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

''गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुरूर्देवो महेश्वरः,
गुरूऐकम् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

मैं अपने श्री गुरुदेव के चरणारविन्द की महिमा कितने शब्दों में लिखूँ यह मेरी समझ में नहीं आ रहा। गुरुदेव एक ऐसा शब्द है जो सभी के लिए मान्य है और हर व्यक्ति जो किसी भी प्रकार से गुरुदेव की शरणागति प्राप्त कर चुका है, उसके लिए उसके गुरुदेव पूर्ण ब्रह्म है। साधक जब तक गुरुदेव के स्वरूप में ईश्वर बुद्धि धारण नहीं करता तब तक वह परम श्रेय के पथ का पथिक नहीं बन सकता। इसलिए भारतीय संस्कृति का ज्ञान रखने वाली भारतीय जनता अपने-अपने गुरुदेव के चरणारविन्द में पूर्ण ईश्वर बुद्धि रखती है व श्री गुरुदेव के चरणारविन्दों में न्यौछावर होना अपना परम सौभाग्य समझती है। गुरुदेव क्या है और उनका स्वरूप क्या है यह एक पृथक लेख का विषय है, फिर भी मैं इतना बतला देना उचित समझता हूँ कि गुरुदेव के दो स्वरूप होते हैं, एक उनका अपना निज स्वरूप और दूसरा साधक की श्रद्धा से निर्वाचित स्वरूप। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से श्रीमद् भगवद्गीता के 17 वे अध्याय में कहा हैं-

सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत,
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

गीता 17:3

अर्थात् परमात्मा का रूप श्रद्धामय है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही उसमें सच्चिदानन्दघन नित्य चेतन का स्वरूप होता है। श्रद्धा साधक के अपने हृदय का पवित्र उद्गार है। श्रद्धावान् व्यक्ति जिसके विषय में जो सोचता है वहीं से उसको ईश्वरीय शक्ति मिल जाती है। धन्ना जाट, नामदेव आदि के जितने उदाहरण मिलते हैं वह सब के सब श्रद्धा के ही उज्ज्वल प्रतीक हैं। किसी साधारण व्यक्ति को ईश्वरीय भावना से देखना यह भक्त के हृदय की पवित्र भावना है व ईश्वर का ईश्वर होना उसकी अपनी यथार्थता है। गुरुदेव के विषय में भी सभी आस्तिक लोगों की ईश्वरीय भावना होती है और अपनी भावना के अनुरूप ही वह लोग फल को पाते हैं। **''यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी''**। इसके अतिरिक्त यदि श्रद्धेय पुरुष परिपूर्ण हैं और साधक श्रद्धा का पुतला है तो अभीष्ट लाभ में कोई शंका का स्थान है ही नहीं। मेरे गुरुदेव जिनके विषय में यह पक्तियाँ लिखने लगा हूँ; सिद्धों के महासिद्ध, सर्व समर्थ योगयोगेश्वर व सर्वतः परिपूर्ण हैं। उनकी पवित्र ख्याति को बहुत ही कम लोग जान पाते हैं। सम्भव हो सकता है इस विषय में उनका अपना ही सङ्कल्प हो; किन्तु उनके चरणारविन्दों के चिन्तन करने वाले सर्व-साधारण जन समुदाय के अन्दर जो-जो चमत्कारिक घटनायें घटित होती रहती हैं उनको इस छोटे-से लेख के अन्दर लिखना भी सम्भव नहीं हो सकता।

उनकी पवित्र जन्म भूमि अमृतसर (पंजाब) है। अमृतसर में ज्योतिष विद्या के गण्यमान्य विद्वान महामान्य पं. गण्डाराम जी ज्योतिष के घर में उनका पवित्र अवतरण हुआ। लगभग बारह या चौदह वर्ष की आयु तक बाल-क्रीड़ा करते हुए घर पर रहे। उसके बाद तीव्रवैराग्य के भावों से प्रेरित होकर घर से निकल पड़े और कुछ दिन साधु समुदाय के अन्दर घूमते हुए निर्जन वनों में भ्रमण करने लगे। उसमें सब से बड़े आश्चर्य की बात यह थी जहाँ-जहाँ पर कोई पहुँचवाला सन्त मिलता और मेरे श्रीगुरुदेव जी के स्वरूप को पहचानता वही गद्‌गद् कण्ठ होकर स्तुति करता और कृपा की भीख माँगता। इन पंक्तियों में मैं अपने गुरुदेव जी के जीवन-चरित्र के विषय में कुछ लिखूँ, यह मेरा लक्ष्य नहीं है। फिर भी इतना कह देना तो आवश्यक ही है कि उनके बाल्यकाल में ही वह घटनायें घटीं जो सर्वसाधारण के जीवन में कभी हो नहीं सकतीं। चार साल की उम्र में माता-पिता को दिव्य ज्योति का अनुभव कराना, छः साल की उम्र में वृद्धा पड़ोसिन जो मरणासन्नावस्था में थी उसके सिर पर अपने कर-कमल का स्पर्श कर पूर्ण गति का वरदान देना, लगभग 9 वर्ष की अवस्था में अमृतसर के पास रामतलाई पर दर्शनार्थ आने के इच्छुक महात्माओं को स्वयं ही जाकर दर्शन देना, चौदह या पन्द्रह साल की उम्र में वनों को जाते हुए मुरादाबाद की तरफ से निकलते हुए किसी गांव में किसी कुम्हार के लड़के के सिर पर कर स्पर्श करके दिव्यानुभूति कराना व खेचरी मुद्रा की पूर्णता का वरदान देना उनके जन्मजात सहज सामर्थ्य का पूर्ण परिचायक है किन्तु फिर भी लोकलीला का अनुसरण करते हुये जंगलों में विचरते रहे और अपनी इस वन-यात्रा में कई तपस्वी साधुओं पर परमानुग्रह कर उनको सफल मनोरथ बनाया और अपने आप थोड़े ही समय के अन्दर नेपाल हिमालय को चले गये। नेपाल की राजधानी काठमांडू से ऊपर जहाँ बागमती गंगा का उद्‌गम स्थान है, वहाँ से कुछ दूर चल कर किसी झारखण्ड में रह कर घोर तपस्या का जीवन व्यतीत करते रहे। उस स्थान पर ही स्वयं सदा शिव स्वरूप एक महापुरुष आये जो मेरे श्री गुरुदेव जी को हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेश में आकाश मार्ग से ले गये और एक स्थान पर छोड़ दिया। केवल दो एक बातें बतलाईं। एक नर भक्षक जड़ी दिखाई और कहा कि यह जड़ी नर-भक्षक है, मनुष्य को खा जाती है।

दूसरी बात कि तुम यहाँ रहो, यह कह कर वह महापुरुष अपनी गुफा में जाकर समाधिस्थ हो गये। उस स्थान से 6-6 मील 7-7 मील की दूरी पर कोई-कोई सिद्ध महापुरुष रहते थे। मेरे श्री गुरुदेव विचरते हुए उन लोगों से मिले। उन लोगों ने बताया, यह महापुरुष सदाशिव हैं और कई हजार वर्षों से यहाँ पर बैठे हुए हैं। यही सिद्धियों के दाता स्वयं महासिद्ध हैं और छ: महीने में एक बार समाधि से उठते हैं। श्री प्रभुजी मेरे गुरुदेव अपने मुखारविन्द से यह बतलाते थे कि जब तक श्री महाप्रभु जी समाधि से उठे तब तक उनकी अपनी भी कई-रोज की समाधि लग उठी थी। इसका अर्थ यही है- ''गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तुछिन्नसंशय:''। अर्थात् गुरुदेव का चुपाचुपी का व्याख्यान हो और शिष्यों के संशय स्वत: ही नष्ट होते चले जायें, यही सद्‌गुरु तत्व की महत्ता है सामर्थ्यवान् गुरुदेव को बहुत उपदेश करने की आवश्यकता नहीं होती उनका सङ्कल्प ही ''**कर्त्तुम-कर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्**'' की शक्ति रखता है। मेरे श्री गुरुदेव हिमालय के उन हिमाच्छादित शिखरों पर लगभग 12 वर्ष रहे और फिर संसार के पतित एवं वेदनापूर्ण दु:खी जीवों को देखकर उन दयासागर जी के मन में दया के भाव उमड़े और उन संसार के अधिव्याधियों से पीड़ित दु:खी प्राणियों को पवित्र योग मार्ग का पथ प्रदर्शन करने के लिए श्री कृपानिधि जी भू-मण्डल पर लौट आये। श्री गुरुदेव जी अपने मुखारविन्द से यह कहा करते थे कि हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों पर बैठ करके आधि-व्याधियों से पीड़ित दु:खाक्रान्त जीवों को देखा और उनके भले की भावना पूर्णरूपेण मन में जग उठी, अत: पुन: संसार में आ करके प्राणी मात्र के भले के लिए पवित्र योग-मार्ग के प्रचार को आरम्भ कर दिया-

''प्रज्ञाप्रासादमारूढ़्य अशोच्य: शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थ: सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

अर्थात् प्रज्ञा-प्रासाद पर आरूढ़ हुये योगिराज संसार वालों को इस प्रकार देखते हैं जैसे पर्वत शिखर पर बैठे हुए व्यक्ति भूमि वालों को देख लिया करते हैं। ठीक इसी उदाहरण के प्रतीक बन कर मेरे श्री गुरुदेव भू-मंडल पर आये और उन्होंने योग-प्रचार का पवित्र कार्य आरम्भ कर दिया। श्री प्रभुजी ने अवनि-मंडल पर आकर तीन प्रकार के कार्य आरम्भ किये:

(1) योग के सरल साधनों द्वारा रोग निवृत्ति इसमें भी सबसे विशेष बात यह थी, निज निर्मित साधनों का प्रचार। उनमें उनका एक प्रमुख साधन था; **''जीवन तत्व साधन''** इस जीवन तत्व साधन के अन्दर नौ क्रियायें हैं, जिनके करने से लोगों को अद्‌भुत व आश्चर्यजनक लाभ होता है। इस साधन के अन्दर सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह लगातार विधि-विधान पूर्वक करने से पेट में इस प्रकार की अग्नि पैदा करता है जिसको ''वृक'' अग्नि कहते हैं। जिस प्रकार जंगली जानवर भेड़ियों को हर समय भूख लगती रहती है, उसी प्रकार इन साधनों के करने से मनुष्य को हर समय भूख लगती रहती है। पेट में एक अग्नि सी धधकती मालूम पड़ती है। वह अग्नि तब तक बन्द नहीं होती जब तक मनुष्य का स्वास्थ्य पूर्णरूपेण ठीक न हो जाय। इस के साथ-साथ इस साधन के अन्दर एक प्रमुख विशेषता यह है कि इन साधन को करते हुए बच्चे का ध्यान करने की एक विधि है जिससे मन की एकाग्रता का स्वाभाविक लाभ होता है और बच्चा दीखने लगता है। इस बच्चे के देखने का आल्हाद हर समय बना रहता है। और उससे उसके अधिकांश रोग की निवृत्ति हो जाती है। इसके साथ ही साथ दृढ़तर अभ्यास करने के बाद वही बच्चा श्रीकृष्ण की आकृति में बदल जाता है और साधक का अध्यात्म में प्रवेश हो जाता है। इस साधन का नाम है जीवन तत्व साधन।

जीवन तत्व साधन

इस साधन की प्राथमिक क्रिया का नाम सर्वोत्तान है।

(1) सर्वोत्तान – इसमें मनुष्य को लेट कर अपने हाथों की अँगुलियाँ अपने हाथों में डालकर व उल्टा करके सिर के पिछली तरफ लेजा करके व पैरों को लम्बे पसार करके जितना भी अधिक से अधिक हम तनाव दे सकते हैं, वह देना चाहिये। एक बार ऐसा करके शरीर को ढीला छोड़ देना चाहिये। यह क्रिया केवल मात्र शरीर के तनाव के लिये की जाती है जिससे शरीर का हर एक स्नायु इस तनाव को पाकर यथार्थ गति को प्राप्त हो जाये।

(2) स्कन्ध चालन – इस क्रिया को करने के लिए मनुष्य को सावधान होकर बैठ जाना चाहिए। उसका ठीक प्रकार यह है- अपने दाहिने कन्धे को धीरे से नीचे की ओर झुका दीजिए जितना भी दबाया जा सके। ऐसी स्थिति में बाँया कन्धा अपने आप ऊपर को उठ जायेगा। फिर धीरे-धीरे दाहिने कन्धे को आगे की ओर झुकाओं और झुके हुये कन्धे को ऊपर धीरे-धीरे ले जाओ। ऊपर की ओर ले जा करके उसको पीछे की ओर ले जाओ। ज्यों-ज्यों दाहिने कन्धे को नीचे की ओर ले जाओगे त्यों-त्यों बाँया कन्धा ऊपर की ओर हो जायेगा और ज्यों-ज्यों दाहिना कन्धा आगे को झुकाओगे तो बाँया कन्धा स्वाभाविक पीछे की ओर हो जायेगा , और ज्योंही ऊपर की ओर हो करके दाहिना कन्धा पीछे की ओर जायगा त्योंही बाँया कन्धा नीचे की ओर आकर आगे की ओर हो जायेगा । इस क्रिया के करने पर दोनों कन्धे साईकिल के पैडिलों की तरह से नीचे-ऊपर होकर चलते रहेंगे। इस गति विधि से हम अपने कन्धों को आगे-पीछे की ओर झुकायेंगे। ठीक इसी प्रकार इसकी विपरीत गति से यह कन्धे पीछे से आगे की ओर भी चलाये जा सकते हैं। यदि हम पीछे की ओर से आगे की ओर चलाना चाहते हैं तो अपने दाहिने कन्धे को कान तक ऊपर उठाओ और बाँया कन्धा नीचे की ओर ले जाओ। कान तक ऊपर उठे हुए दाहिने कन्धे को आगे की ओर झुकाओ और बायें कन्धे को गोलाकार घुमाते हुए पीछे की ओर ले जाओ। आगे की ओर झुके हुए दाहिने कन्धे को गोलाकार घुमाते हुए नीचे की ओर ले जाओ। दाहिने कन्धे को नीचे की ओर झुकाने से बाँया कन्धा स्वयं ही पीछे की ओर घूमता हुआ ऊपर की ओर चला

जायेगा। इस प्रकार दोनों कन्धे बेलनाकार घूमते रहेंगे। उदाहरण में जैसे– साईकिल के पैडिल घूमते हैं। इस क्रिया का नाम स्कन्ध–चालन है। इसके करने से दोनों फेफड़े ठीक काम करने लगते हैं। यकृत और प्लीहा अपनी यथार्थ स्थिति में रहते हैं। जिसका यकृत बढ़ गया हैं वह स्कन्ध चालन से अवश्य ही यथार्थ स्थिति में आ जायगा। इसके बाद तीसरी क्रिया का नाम पदचालन है।

(3) पादचालन – यह क्रिया करते हुए सीधे लेट जाना चाहिए और लेट कर अपने पैर के ऊपर पैर रख कर साधारण गति से हिलाना चाहिए। हिलाने का क्रम यह है। यदि हमने अपना दाहिना पैर बाँये पैर के टखने पर रखा है तो दायें पैर की ऐढ़ी को बराबर जमीन में लगाते रहो और बाँये पैर के अँगूठे को बराबर जमीन में लगाने का प्रयत्न करते रहो। इसी प्रकार यदि बाँया पैर दाहिने पैर के टखने पर रखा हो तो इस विधि से हिलाओ कि बाँये पैर की ऐढ़ी जमीन पर लगता रहे और दाँये पैर का अंगूठा जमीन पर लगता रहे। यह क्रिया बहुत साधारण है, किन्तु छोटी व बड़ी आतों के लिए परम लाभदायक है। इसके करने से छोटी व बड़ी आतें यथार्थ गति से अपना काम करने लगती हैं। इसके बाद चौथी क्रिया का नाम नाभिचालन है।

(4) नाभिचालन – इस क्रिया का यथार्थ रूप इस प्रकार है, जैसे कि मगरमच्छ किसी जीव का भक्षण करके बाहर बालुका में लाकर अपने को इधर–उधर हिलाया करता है। इस क्रिया को करते हुए मनुष्य को चाहिये दाहिने से बाईं ओर और बायीं से दाहिनी ओर करवट बदलने की तरह शरीर को पलटता रहे, किन्तु सिर विधिवत् एक ही जगह पर स्थिर रहना चाहिये। इस क्रिया का नाम नाभि–चालन है। इस क्रिया के करने से बहुत भूख लगती है, मन्दाग्नि निवृत्त हो जाती है जिनके उदर में हवा बनती हो वह बननी बन्द हो जाती हो, यह क्रिया प्राय: पेट के सभी रोगों के लिए लाभदायक है। इसके बाद पाँचवीं क्रिया का नाम जानुप्रसार है।

(5) जानुप्रसार – इस क्रिया को नाभि–चालन के बाद अवश्य करना चाहिये। नाभि–चालन के बाद साधारण रीति से लेटे रहना चाहिये और अपने दाहिने पैर को मोड़कर जानु के पास दाहिने पैर के पंजे को सटा देना चाहिये। धीरे–धीरे अपने दाहिने पैर के जानु को जमीन पर लगा देना चाहिये। इस प्रकार यह क्रिया तीन बार दाहिने पैर से और तीन बार बायें पैर से करनी चाहिए। अर्थात् दाहिने पैर से करने के बाद बायें पैर के पंजे को दाहिने पैर की ही तरह बायें पैर के जानु के पास सटाकर बाँयें पैर के घुटने को तनाव के साथ शनै: शनै: जमीन पर लगना चाहिए और धीरे–धीरे छोड़ देना चाहिए। इस क्रिया के करने से जंघाओं व पेट का पूरा स्नायु–मण्डल यथार्थ स्थिति में आ जाता है। इसके बाद छठी क्रिया का नाम बालमचलन है।

(6) बालमचलन – इस क्रिया को करते हुए सीधे लेटकर अपने दाहिने व बाँये पैर को व अपने दाहिने व बाँये हाथ को इस ढंग से जल्दी–जल्दी चलाना चाहिए जिस प्रकार बच्चे अपनी माता से रूठ कर हाथ पैर चलाया करते हैं। अर्थात् लेटकर दाँये पैर को ऊपर करो तो दाँया हाथ ऊपर की ओर चला जायगा और बाँया पैर ऊपर की ओर करोगे तो बाँया हाथ ऊपर की ओर चला जायगा। इस प्रकार से दोनों हाथों और पैरों को क्रमश: जल्दी–जल्दी चलाना चाहिए। किन्तु सिर यथार्थ रूप में स्थिर रहना चाहिए। इस क्रिया का नाम बालमचलन है। यह केवल मात्र बालकों के मचलने की नकल है। इसके करने से शरीर में एक स्वाभाविक आह्लाद पैदा होता है। इसके बाद सातवीं क्रिया का नाम बच्चे का ध्यान है।

(7) बच्चे का ध्यान – इस क्रिया में अपने को स्थिर भाव से ढीला छोड़ दीजिये व शान्त भाव से लेटे रहकर एक सुन्दर चंचल बच्चे का ध्यान कीजिए, जिसकी आयु कल्पना में दो या तीन साल की आये। यह बच्चा किसी रमणीय उद्यान में खेल रहा हो। ध्यान करने वाला साधक कल्पना से स्वयं भी

बच्चे के साथ खेल रहा हो। इस क्रिया के करने से कुछ ही दिन में वह बच्चा दीखने लगेगा और साधक भी अपने आपको बच्चा ही अनुभव करेगा। यह क्रिया इस जीवन तत्व साधन की प्राण भूत है। इस क्रिया के करने से स्वाभाविक आह्लाद प्राप्त होता है। इसी के फलस्वरूप ही सभी रोगों की निवृति स्वत: हो जाती है। इसके बाद आठवीं क्रिया का नाम नाड़ी–संचालन है।

(8) नाड़ी–संचालन – नाड़ी संचालन करने के लिए सीधे बैठ जाइये। सीधे बैठ कर अपने पैरों को जितना अधिक से अधिक फैलाया जा सके खोल कर फैलाओ। इस तरह फैलाने पर घुटने के नीचे का भाग और पैरों की पिण्डली बिल्कुल जमीन से सटी रहनी चाहिए। दोनों पैरों के बीच की दूरी कम से कम 7 बालिस्त की होनी चाहिए।

ऐसे पैर फैलाने के बाद थोड़ा शरीर को आगे की ओर झुकाकर दाहिने हाथ की अँगुलियों से बाँये पैर के अँगूठे को छुओ और बाँये हाथ को एक दम पीछे ले जाओ। उसी प्रकार फिर दाहिने हाथ को घुमाकर पीछे ले जाओ और बाँये हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को छुओ। इस प्रकार बराबर चक्राकार घुमाते रहो। इस क्रिया का नाम नाड़ी–संचालन है। इसके करने से ग्रहणी नाड़ी अपनी यथार्थ स्थिति में रहती है। मन्दाग्नि की निवृत्ति होती है और शरीर में पूर्णरूपेण रक्त रस का संचार होता है। यह क्रिया भी अन्य क्रियाओं की भाँति यौगिक व्यायामों में परम लाभदायक हैं। इसके बाद नवीं क्रिया का नाम उत्क्षेपण हैं।

(9) उत्क्षेपण – इसमें खड़े होकर अपने हाथ पैर को क्रमश: झटक देना चाहिए। इससे शरीर में एक प्रकार की नई चेतना भी आ जाती है और साधक सचेत होकर यथार्थ स्थिति में अन्य कार्यो के लिए तत्पर हो जाता है।

इन क्रियाओं के लिए समय का विभाजन इस प्रकार रखना चाहिए।

(1) सर्वोत्तान – केवल तीन बार समय केवल अधिक से अधिक दो मिनट।

(2) स्कन्ध चालन – समय पन्द्रह मिनट।

(3) पादचालन – आठ मिनट।

(4) नाभिचालन – पन्द्रह मिनट।

(5) जानुप्रसार – दोनों ओर से तीन बार समय लगभग चार मिनट।

(6) बालमचलन – केवल एक मिनट।

(7) बच्चे का ध्यान – पाँच मिनट।

(8) नाड़ी संचालन – पन्द्रह मिनट।

(9) उत्क्षेपण – केवल एक या दो मिनट।

इसी प्रकार यदि क्रियायें अधिक बढ़ानी हैं तो समय अधिक बढ़ाया जा सकता है। सभी प्रकार की बीमारियों में मेरे गुरुदेव के अपने चित्त से प्रकट किया हुआ यह जीवन तत्व साधन अमृत के समान परम लाभदायक है। इसमें भी बच्चे का ध्यान सब प्रकार से लोक व परलोक के लिए परम श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त राजयक्ष्मा के क्षीण रोगियों के लिए श्री गुरुदेव जी ने अपने चित्त से अमर तत्व साधन को निर्माण किया।

(2) अमर तत्त्व साधन – जिसमें केवल क्षीर समुद्र का ध्यान किया जाता हैं और हाथ–पैरों को इस प्रकार से चलाया जाता है जिस प्रकार हम समुद्र में तैर रहे हों। जो साधक श्री गुरुदेव की परम कृपा से अपने को क्षीर–सागर में तैरते हुये देखने लग जाते हैं उनका राजयक्ष्मारोग बहुत थोड़े दिन में दूर हो जाता है और उनको इतनी प्रसन्नता होती है कि उसमें उनकी समस्त बीमारियाँ भाग जाती हैं। और बहुत ही थोड़े दिन के अन्दर अपने आपको पूर्ण स्वस्थ देखने लगते हैं। प्रथम बार श्री गुरुदेव जी यह जीवन तत्त्व व अमर तत्त्व आदि साधन ही लोक–हितार्थ कराया करते थे; किन्तु कुछ समय बाद नेती, धौति, न्यौली, बस्ति, गजकरणी आदि क्रियायें भी अधिकारी देखकर कराने लगे। इसके अतिरिक्त अन्य आसन, बन्ध, मुद्रायें और विभिन्न प्रकार की गुप्त क्रियाओं का

शिक्षण भी आरम्भ कर दिया, यह सबसे बड़ा काम उन्होंने इस संसार में आकर किया।

(3) शक्तिपात दीक्षा – जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रों में योग का वर्णन दो प्रकार से मिलता है, सिद्ध-योग और साधन योग। साधन-योग में मनुष्य साधन करता-करता शनैः-शनैः अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, और सिद्ध योग में सिद्धानुग्रह से ही मनुष्य का उत्थान हो जाता है और उसकी प्रगति इतनी ऊँची होती है कि जिसे वह अपने पुरुषार्थ से अनेक जन्म में भी नहीं प्राप्त कर सकता। सिद्ध योग के दातापूर्ण सद्गुरु सिद्ध योगिराज ही हो सकते हैं, और वही लोग शक्ति-संचार भी कर सकते हैं। इस ''सिद्धयोग'' का प्रारम्भ भगवान् सदाशिव से हुआ। पुराणों में हिमालय के घन-घोर जंगलों में होने वाले एक सिद्धाश्रम की चर्चा मिलती है, जिसमें भगवान् सदाशिव के शिष्य-प्रशिष्य योगाचार्यगण निवास करते हैं, यह सभीं लोग महासिद्ध हैं और समय-समय पर संसार में व्यस्त गृहस्थ जनो के सन्मार्ग-दर्शन के लिए संसार में आया करते हैं। यह लोग सर्व-समर्थ महापुरुष हैं। यह लोग शक्ति संचार कर सकते हैं। मेरे श्री गुरुदेव भी इन सब की तरह एक अनादि महासिद्ध हैं। उन्होंने संसार में आकर शक्तिपात दीक्षा देनी प्रारम्भ की।

उनके कृपा-फल को प्राप्त कर सैकड़ों की संख्या में साधु जंगलों में समाधि लगा रहे हैं और तत्व विजयी होकर अपने शरीरों को एक सुन्दर नवयुवक के समान रखते हैं। कितने ही साधु षट् चक्रों का भेदन करके लोक-लोकान्तरों में गमन करने की शक्ति वाले हो गये और स्वायत्ततनु हो कर हिमालय की कन्दराओं में निवास कर रहे हैं। मेरे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज सन् 1914 के लगभग हरिद्वार के कुम्भ मेले में हिमालय से उतर कर आये। जिन जीवों के संस्कार उनके चरणारविन्द में उन्हें ले आते हैं या जो इस पवित्र योग-मार्ग के जिज्ञासु हैं उनको पवित्र योग-मार्ग का अनुयायी बनाकर चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। हरिद्वार कुम्भ मेले के समय महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के अपने सङ्कल्प से ही उनके परिजनों ने उन्हें पहिचाना और श्री महाप्रभु जी से साधारण चर्चाओं में ही तर्क वितर्क करने लगे कि महाराज जी आप कहीं पर किसी स्थिति में रहें, अब हम आपको अवश्य ही पहचान लेंगे। श्री महाराज जी ने उन लोगों से कहा कि भाई! हम साधू हैं तुम्हें हमसे आग्रह नहीं करना चाहिये। तुम अपना कार्य करो हम अपना कार्य करेंगे। किन्तु वे लोग नहीं बदले। आग्रह करते ही रहे। इसी बीच में उन्होंने आश्चर्य देखा कि उनसे बात करते-करते ही श्री गुरुदेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। वह लोग लाख प्रयत्न करने पर भी उनका अन्वेषण नहीं कर सके। अपनी हठ-धर्मी का दुष्परिणाम पाकर उन सभी को महान् दुःख हुआ। किन्तु उनको यह भी ज्ञान हो गया कि यह हमारे कुटुम्बी भाई बन्धु नहीं हैं किन्तु कोई सामर्थ्यवान् परम योगिराज हैं। श्री गुरुदेव जी की इस प्रभुता को जानकर लोगों ने अत्यन्त विनय की, जिसके फलस्वरूप श्री प्रभु जी वहीं प्रकट हो गये किन्तु एक बालक के रूप में। उस बालक को ये लोग नहीं पहचान सके। सोचते रहे यह कोई 15-16 साल का बालक है। कहीं कुम्भ मेले में आया होगा, हमारे पास आकर बैठ गया है। किन्तु इन लोगों की अनभिज्ञता को देखकर उन बालक के रूप में छिपे हुए सर्व समर्थ सिद्धों के सिद्धेश्वर मेरे गुरुदेव उनसे मुस्कराकर कहने लगे कि भाई तुम किस चिन्ता में हो? किसका अन्वेषण कर रहे हो? उन लोगों ने कहा; ब्रह्मचारी जी! हमारे एक भाई साधु रूप में अभी अभी यहाँ थे, किन्तु पता नहीं कहाँ चले गये हैं? हमने उनके साथ बड़ा आग्रह किया था, उस आग्रह का हमें भारी पश्चात्ताप है। जब वह लोग यह कह ही रहे थे तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह कोई ब्रह्मचारी नहीं है, प्रत्युत योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज हैं। इस अद्‌भुत घटना को देखकर सभी कुटुम्बी जनों ने निश्चय कर लिया कि यह केवल मात्र हमारे कुटुम्बी ही नहीं है; किन्तु इस आकृति में छिपे हुए कोई सर्व-समर्थ योगिराज हैं उसके बाद उन्होंने श्री प्रभुजी, के चरणारविन्द में कोई हठ नहीं की

और अपने अपने घरों को लौट गये, कुछ लोगों ने श्री प्रभुजी को अमृतसर ले जाने का हठ किया। श्री प्रभु जी की स्वयं अपनी इच्छा थी इसलिये वे हिमालय से उठ करके आये। उनके हठ को स्वीकार करके अमृतसर चले गये और वहाँ जाकर कुछ समय के लिये पंडित वेष में रहने लगे। यह श्री प्रभुजी का गृहस्थ वेष था। इस वेष में उनको कोई पहचान नहीं सकता था। केवल अपने निवास स्थान पर रहते हुए जिस समय वन की बात किया करते थे सुनने वाले समझते कि इतने घनघोर जंगलों में सम्भवत: नहीं गये होंगे। अचानक इन्हीं दिनों में एक घटना घटी। अमृतसर में हाल दरवाजे से बाहर एक सराय है, जिसको सन्तराम की सराय कहते हैं। उसमें एक परम तेजस्वी देदीप्यमान मुख-मण्डल वाले एक महात्मा आकर समाधिस्थ होकर बैठ गये। वे बिल्कुल नग्न थे। तीन दिन व तीन रात्रि बिना कुछ खाये पिये समाधि स्थिति में वह महात्मा वहीं बैठे ही रहे। सारे शहर में उनकी प्रख्याति फैल गई। दर्शकों की भारी भीड़ उनके पास एकत्र हो गई। श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में जाकर गृहस्थी लोगों ने प्रार्थना की श्री महाराज जी! आप बड़े-बड़े जंगलों में हो आये हैं, किन्तु अभीं तक आपको इस प्रकार के सिद्ध योगिराज जी नहीं मिले होंगे जैसे महात्मा सन्तराम की सराय में आकर बैठे हैं। वह तीन दिन से बिलकुल निराहार हैं और पत्थर की मूर्ति की तरह से बैठे हैं, न हिले हैं न डुले हैं। चलिये आपको भी उनके दर्शन करालावें। श्री गुरुदेव जी ने उत्तर दिया भाई! हमें रहने दो, तुम्हीं दर्शन कर आओ। जब तीन रात्रि से बैठे हैं तो अच्छे तो हैं ही। किन्तु लोगों ने बड़ी भारी हठ की। लोगों मन में यह भावना थी कि उस महात्मा को देखकर श्री गुरुदेव जी आश्चर्य चकित हो जावेंगे और कहेंगे कि हाँ, यह तो कोई अवश्य सिद्ध योगिराज हैं। किन्तु बात कुछ और ही थी। श्री प्रभु जी उन लोगों के आग्रह करने पर सन्तराम की सराय में गये। जहाँ वह महात्मा समाधि लगाकर बैठे हुए थे, धीरे से उनके पीछे जाकर खड़े हो गये। लोगों को यह आश्चर्य हुआ कि और लोग सामने खड़े हैं और यह पीठ की पीछे खड़े हैं। थोड़ी ही देर में लोगों ने देखा कि महात्मा के शरीर में एक कम्पन पैदा हुआ। उस कम्पन के साथ उनके प्राण-कोष ब्रह्माण्ड से नीचे आ गये। महात्मा सचेत होकर जाग उठे और बड़ी तीव्रता के साथ खड़े होकर परम करुणार्णव मेरे श्री गुरुदेव जी के चरणारविन्द में गिर पड़े और चरणों से लिपट गये। महात्मा इतने रोये कि श्री प्रभु जी के बहुत समझाने पर भी उनके आँसू बन्द नहीं होते थे। श्री प्रभु जी ने उनको दोनों हाथों से उठाकर कण्ठ से लगा लिया और सिर पर हाथ रख आशीर्वाद देते हुये कहा- बेटा! रोते क्यों हो? मैंने ही तुमको शतपथ से बुलाया है तुम्हारी समाधि अपूर्ण थी, आज से वह पूर्ण हो जाएगी। और तुम्हारी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाएगी। आकाश-गमन आदि सब ठीक हो जायगा। महात्मा ने बड़ी कठिनता से श्री प्रभु जी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की। प्रभो! हे सर्वशान्तिमान्! मेरे रोने का केवल एक ही कारण है। मैं आपका मन्द बालक हूँ। तीन दिन तीन रात मेरे कठोर परीक्षा के बाद आपने मुझे दर्शन दिये हैं। मैं तड़पता रहा आपके दर्शन के लिए किन्तु आपके चरणाविन्दों में बहुत से स्त्री पुरुषों का जमघट होने के कारण मैं नहीं आ सका और आप दर्शन देने के लिए नहीं आये। आज मेरा यह शुभ दिन है।

उन्हीं कृपा निकेतन जी की कृपा के फलस्वरूप यह मेरा प्रथम प्रयास है जो उन्हीं के चरण-कमलों में समर्पित है। पता नहीं मेरे कौन से पुण्य प्रारब्ध से प्राणि मात्र के अन्तर्द्रष्टा श्री प्रभुजी! आपने मुझे आकर कृतार्थ किया है। श्री प्रभुजी ने उस महात्मा को कुछ समय अपने पास रखकर हिमालय भेज दिया। जो लोग श्री प्रभुजी के साथ सन्तराम की सराय में गये थे, उनके आश्चर्य का तो कोई ठिकाना ही नहीं रहा। वे लोग भली प्रकार जान गये, इस विप्र वेष में छिपे ये अवश्य कोई सर्वसमर्थ महापुरुष हैं। यह पहली घटना थी जिसमें कुछ सर्व साधारण लोग मेरे गुरुदेव के स्वरूप को कुछ 2 समझने लगे। तब यहाँ से ही शक्तिपात और सब प्रकार के योग प्रचार का कार्य आरम्भ हुआ। मेरे गुरुदेव ने इस बीच में क्या-क्या कार्य किया, वह शनै: शनै: इस पत्र में प्रकाशित होता रहेगा और पाठकगण समझते रहें कि सद्गुरुदेव कौन होते हैं और उनके कार्य किस प्रकार के हुआ करते हैं।

गुरु बुध्यात्मनो नान्यत, सत्यं सत्यं वशनने।
स्वलाभार्थं प्रयत्नेन कर्त्तव्यं मनीषभि:।।

सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

'योग' शब्द इतना व्यापक व महत्वशाली है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने उसको अपने हृदय से अपनाया है। भक्ति-योग, ज्ञान-योग, कर्म-योग, राज-योग, लय-योग, हठ-योग, शून्य-योग इत्यादि ये सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो, किन्तु '**मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना**' के नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति ने इसका अपनी मति के अनुसार प्रयोग किया। जो लोग हृदय-प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना, वन्दना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति के लिए संलग्न हैं, उन्होंने इसको 'भक्तियोग' जो लोग ज्ञान निष्ठा प्रधान हैं और महा वाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्होंने 'ज्ञान-योग' इसी प्रकार से जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि से निष्काम भाव से कर्म करते हुए, कर्मबन्धन से छूटकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्होंने इसे 'कर्मयोग' नाम से अपनाया। इसके अतिरिक्त योग के व्यापक प्रभाव और महत्ता को देख करके कुछ दम्भी लोगों ने भी इस शब्द को अपनाकर यक्षिणी, पिशाचिनी आदि छोटी-छोटी तामस, राजस शक्तियों की आराधना कर सिद्धियों को पाकर संसार के भोले-भाले प्राणियों को चमत्कार में डाल कर अपनी पूजा कराई और अपने को योगी सिद्ध किया। इसके अतिरिक्त जिन्होंने योग के कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया, उन्होंने योगाश्रम स्थापित कर लिये और केवल मात्र नेति-धोति आदि षट्कर्म व आसन बन्ध मुद्राओं के द्वारा शारीरिक साधनायें ही उन लोगों का परम लक्ष्य बन गया। इसी प्रकार से बिना अष्टांग योग की साधना के ही किन्हीं लोगों ने भू-गर्भ, जल गर्भ आदि समाधियाँ लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया। यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझकर उसकी उपेक्षा के कारण हुआ।

वस्तुत: ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाय तो 'योग' शब्द का अर्थ है मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज धातु से सन्धानार्थ-भाव अर्थ में धम् प्रत्यय होकर योग शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है जुड़ना मिलना। युज् समाधी से 'योग' का अर्थ है समाधि।

योगाचार्य भगवान् पतञ्जलि जी ने '**योगश्चितवृत्ति निरोध:**' कह कर योग शब्द को अभिव्यक्त किया। जिसका अर्थ है चित्त-वृत्तियों का निरुद्ध होना। **चित्त वृत्ती नाम् नितरां रोध: निरोध:** अर्थात् चित्त वृत्तियों का नितान्त रूक जाना ही निरोध शब्द का अर्थ है। और हमारी शास्त्रीय परिभाषा में '**निरोध: समाधि**' '**समाधिर्वैयोग:**' अर्थात् समाधि का ही नाम योग है और निरोध को ही समाधि कहते हैं। और समाधि शब्द का अर्थ '**समाधि: समतावस्था जीवात्म परमात्मनो:**' कह कर हमारे आचार्यों ने जीवात्मा और परमात्मा की सम स्थिति को ही समाधि बतलाया है अर्थात् जिस क्रिया के करने पर जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जायें उसी क्रिया को समाधि कहा गया है। भगवान् पतञ्जलि देव ने जहां पर '**योगश्चित्त वृत्ति निरोध:**' कह कर योग का लक्षण किया वहाँ पर उसके साथ ही '**तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्**' कह करके जीवात्मा का समाधि स्थिति में स्वरूपावस्थित होना स्पष्ट बतला दिया है।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये श्री व्यास देव जी ने बिल्कुल स्पष्ट लिखा कि **स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये**, अर्थात् चिति शक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। जीवात्मा समाधि में भी कैवल्य की तरह ही स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। किन्तु 'योगश्चित वृत्ति निरोध:' इस सूत्र में केवल मात्र चित्त वृत्ति निरोध को योग कहा है न कि सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग कहा है, क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है। इसलिए योग की संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग है। इसी कारण से वितर्क विचारानन्दा-स्मितानुगमात् संप्रज्ञात:' कह करके संप्रज्ञात योग, व 'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्व: संस्कारशेषोऽन्य: कह करके असंप्रज्ञात योग का कथन किया है।

संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि को दूसरे शब्दों में एकग्रावस्था व निरोधावस्था कहना चाहिए। सारे संसार के प्राणियों के चित्त 5 अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं। उनमें से––

1. मूढ़ावस्था के प्राणी – जिनमें तमोगुण प्रधान रहता है तथा रज और सत्व, गौण हो जाया करते हैं, इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से आवृत्त रहा करती हैं और वे आलस्य तन्द्रा में घिरे रहते हैं। किसी भी प्रकार उनकी उदर पूर्ति होती रहे, इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित लोक परलोक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

2. क्षिप्तावस्था के प्राणी – जिनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सत्त्वगुण गौण रहने के कारण इनके मन से चंचलता, दु:ख, शोक, चिन्ताएँ बनी रहती हैं। लौकिक साधना ही उनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य, धन्धे, व्यापार के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी आस्था नहीं होती।

इन लोगों का प्राय: सिद्धान्त रहा करता है

''यावज्जीवेत् सुखजीवेत् ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुत:''।।

अर्थात् मनुष्य संसार में जब तक जीवित रहे उसे सुख पूर्वक जीना चाहिये। ऋण लेकर के भी उसे ऐश आराम करना चाहिए। मृत्यु के बाद शरीर जल कर भस्म हो जायेगा। भस्मी भूत हुआ यह शरीर फिर नहीं मिलेगा। लोक व परलोक की बातें थोथी हैं। स्वर्ग व अपवर्ग किसने देखा है। इसलिए जो भी कुछ स्वर्ग व अपवर्ग हैं इसी लोक में है। इस प्रकार का सिद्धान्त रजोगुण प्रधान व्यक्तियों का हुआ करता है। इसके अतिरिक्त तीसरी अवस्था के प्राणी–

3. विक्षिप्तावस्था के प्राणी – जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाया करते हैं। इनके मन में पूर्ण प्रसन्नता क्षमा, दया, परोपकार की भावना और साधनों से संलग्नता व ज्ञान, धर्म, वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है, इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलने लगता है तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन, उपासनायें आदि करते हैं किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी योगश्रेणी के नहीं माने जाते हैं क्योंकि इनमें समाधि गौण रहती है। विक्षेप प्रधान रहता है। भगवान् व्यासदेव ने इस स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के लिये स्पष्ट लिखा है। **तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूत: समाधिर्न योग पक्षे वर्तते।**

अर्थात्, विक्षेपोपसर्जनी भूत समाधि योग पक्ष में नहीं मानी जाती। ये लोग जपतप स्वाध्याय आदि में प्रयत्नशील रहते हैं और ईश्वरानुग्रह की प्रतीक्षा में अपने मनको आश्वासित रखा करते हैं। जब कभी इनके मन में तरंग उठती है तो यह कह उठते हैं।

रामनाम रटते रहो, जब लगि घट में प्रान।
कबहुँ तो दीन दयाल के, भनक पड़ेगी कान।
इन तीन स्थितियों में रहने वाले व्यक्ति योगी।

शब्द से अभिवाच्य नहीं कहे जाते योग की वर्णमाला मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है।

4. एकाग्रावस्था के प्राणी – जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है व रजोगुण व तमोगुण मात्र में शेष रहते हैं। इनका मन दृष्टानु श्रविक विषय वितृष्णास्य वशीकार संज्ञा- वैराग्यम् हो

करके अपर वैराग्य को प्राप्त होता है। मनुष्य का मन बहुत बड़ा अद्भुत व शक्तिशाली है, वस्तुत: विचार कर देखा जाय तो प्रभु की सृष्टि के बड़े-बड़े अद्भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं। जब तक मन के अन्दर एकाग्रावस्था का उदय नहीं होता तब तक हम किसी भी मन्त्र का उच्चारण करते रहें वह केवल वर्ण विन्यास मात्र है। र म क च ट ये सब शब्द हैं। शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है और आकाश में ही उसका विलय हो जाया करता है। राम नाम का उच्चारण करके तब तक हम कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते जब तक श्रीराम के रूप में हमारा मन एकाग्र न हो जाय। इसीलिये भगवान् पतञ्जलि देव ने ईश्वर के मुख्य नाम ॐ का वर्णन करते हुए 'तज्जपरतदर्थ भावनम्' अर्थात् उसके नाम का जप करना और अर्थ का ध्यान करना ये दोनों क्रियायें साथ होने पर ही मनुष्य नाम जप आदि के शुद्ध परिणाम को पा सकता है। मन क्योंकि बहुत चंचल है मन की चंचलता को जगदात्मा अखिल लोकनायक भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने स्वयं स्वीकार की है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।
गीता 6:35

अर्थात्- हे अर्जुन अवश्य मन बहुत चंचल हैं और वह अभ्यास और वैराग्य के द्वारा नियन्त्रण में लाया जा सकता है। मन की शक्ति को हम तब तक नहीं जान सकते जब तक वह एकाग्र नहीं हो जाता। हमारे आचार्यों ने मन को ज्योतियो का भी परम ज्योति माना है। किन्तु उसकी शक्ति को एकाग्र होने के बाद ही हम जान सकते हैं। जिस प्रकार से तीव्रगति से चलने वाले बिजली के पंखे को हम केवल एक गोल चक्र ही देखते हैं और जब वह रुक जाता है तो उसकी तीनों पंखड़ियाँ अलग-अलग दिखलाई देने लग जाती है। इसी प्रकार मन को हम जान सकते हैं। अत: मन की एकाग्र अवस्था को हमारे योगाचार्यो ने समाधि पक्ष में माना है और इसी को संप्रज्ञात योग कहा गया है। संप्रज्ञात योग के विषय में अपने भगवान् व्यास देव ने अपने भाष्य में ये शब्द लिखे हैं-

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्म बन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, सम्प्रज्ञातों योग इत्याख्यायते।

अर्थात्- जो एकाग्रचित में सद्भूत अर्थ को प्रकट करता है और कलेशों को क्षीण करता है और कर्म बन्धनों को ढीला करता है और चित्त को निरोधाभिमुख बनाता है उसको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसलिए सम्प्रज्ञात योग में क्योंकि मन की एकाग्रता होती है और मन की शक्तियाँ प्रकट होती रहती हैं, इसलिये इसको सम्प्रज्ञात योग कहा है। इससे आगे पांचवीं स्थिति के प्राणी निरोधावस्था के प्राणी कहलाते हैं।

5. निरोधावस्था के प्राणी – जिनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है। वह द्रष्टा अपने में स्थित हो जाते हैं। ऊपर वर्णन की हुई पाँचों प्रकार की अवस्थाओं में केवल मात्र एकाग्रावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया है। संसार का कोई भी प्राणी किसी प्रकार की साधनाएँ करता रहे जब तक मन में एकाग्रता का उदय न हो तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता। भगवान् पतञ्जलि जी ने-

''यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।'' कह करके अष्टांग योग का वर्णन किया। अंग अंगी से अलग नहीं होते इस विचार से अष्टांग योग के किसी भी एक अंग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही।

उनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच, अंग धारणा ध्यान, संम्प्रज्ञात समाधि, असंम्प्रज्ञात की अपेक्षा बहिरंग हैं। भगवान् पंतञ्जलि जी के शब्दों में किसी एक में चित्त को बाँधना धारणा कहलाती है। **'देशबन्धश्चितस्य धारण'** धारणा से ही सम्प्रज्ञात योग का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग में प्रवेश की योग्यता हो जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाले मन की वृत्ति अन्तर्मुख होती है। सम्प्रज्ञात योग का अधिकारी बनता है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगत योग का अभ्यास करता है, जिसमें वह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँच महा भूतों का व शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध इनके

गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगत योग में पंच भूत व पंच-भूतों से होने वाले सब विस्तार का और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अभ्यास में पृथ्वी तत्त्व में पहाड़ सुरम्य वन उपवन व नाना प्रकार की दिव्य सुगन्धों का अनुभव करता है और जल तत्व में नाना प्रकार के समुद्र और दिव्य रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्व में अनेक विधि ज्वालाओं और महान् दिव्य रूपों को अनुभव करता है। वायु तत्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है व आकाश तत्व में शून्य आकाश व आकाश से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है। इस वितर्कानुगत योग के सवितर्क यह दो अलग-अलग भेद हैं। उसमें सवितर्क निर्वितर्क समाधि:, **तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पै: संकीर्ण सवितर्का समापत्ति:** अर्थात् वितर्कानुगत में जिस समाधि में शब्द अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर अलग-अलग भाषित होते रहें वह सवितर्क समाधि कहलाती है व इसका अभ्यास करते-करते चित्त मध्येकार हो जाये व शब्द अर्थ ज्ञान न रहे तब वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है। इस विषय को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए। जैसे साधक के ध्यान में एक गाय है। गाय एक शब्द है और लम्बे गले वाली दो सींगों वाली सफेद रंग चार पैरों वाली गाय है, यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द, अर्थ और ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते हैं। ऐसी स्थिति का नाम सवितर्क समाधि है। जिसमें साधक का मन ध्येयाकार बन जाय व शब्द अर्थ ज्ञान अलग-अलग अनुभव में न आकर अर्थ मात्र भाषित होता रहे वह निर्वितकं समाधि है।

'स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।'

विचारानुगत योग निर्वितर्क समाधि की पराकाष्ठा में पहुँच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था। किन्तु अब विचारानुगत योग में महाभूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म रूप तन्मात्राओं को तन्मात्रा का प्रत्यक्ष करता है। जैसे वितर्कानुगत समाधि में स्थूल महाभूत आकाश व उसके गुण शब्द का अनुभव किया था अब विचारानुगत में सूक्ष्म आकाश या शब्द तन्मात्रा का अनुभव करेगा व इसी प्रकार वायु में सूक्ष्म वायु तत्व या स्पर्श तन्मात्रा अग्नि में सूक्ष्म अग्नि तत्व या रूप तन्मात्रा, जल में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्रा, पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्रा का अनुभव करेगा। इसके साथ-साथ दस इन्द्रियों का मन बुद्धि अहंकार का प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है। जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद है-

इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में 1. सविचार 2. निर्विचार दो भेद हैं। सूक्ष्म विषय की सीमा प्रधान अलिंग तक है। 'सूक्ष्म विषयत्वं का सूक्ष्मध्यान आरम्भ किया उसका अनुभव देश काल व निमित्त से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याताध्यान, ध्येय तीनों अलग-अलग भाषित होते रहें। इनका नाम सविचार समाधि है व जिस समाधि में ध्येय विषय देश काल व निमित्त से सीमित न दिखालाई दे तो वह निर्विचार समाधि कहलायेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। और सूक्ष्मता की परिधि को पहुँच जाता है। क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मन का सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म बुद्धि व अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कर लेता है। इसलिए इसमें दैविक शक्तियों का विकास हो जाता है। इस स्थिति के योगी को दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूर स्पर्श आदि स्वत: होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं। और उन सब मायिक स्थानीय देवताओं को देखकर भी योगी अपने आपको इन सबसे उत्कृष्ट देखता है व बुद्धि के आमोद-प्रमोद आह्लादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनन्दमय देखता है। ऐसी स्थिति में देव लोग अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं उस समय योगी को बहुत सचेत होकर रहने की आवश्यकता है। भगवान् पतञ्जलि जी की आज्ञा है कि **स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनिरनिब्द पुनर्निष्ट प्रसङ्गा।**

ये चारों प्रकार की समाधियों सबीज कहलाती हैं। यहाँ तक संसार का बीज बना रहता है। मनुष्य संसार से परे नहीं हो पाता, इसलिए स्थूलार्थ में सवितर्क और निर्वितर्क और सूक्ष्मार्थ में सविचार और निर्विचार समाधियाँ सबीज हैं। किन्तु निर्विचार समाधि ज्यों-ज्यों बढ़ती है। त्यों-त्यों उसकी

स्थिति निर्मल बनती चली जाती है। पुरुष को प्रकृति पर्यन्त सब सूक्ष्म स्थूल पदार्थ शीशे की तरह चमकते हुये दिखाई देने लगते हैं। तब **'निर्विचार वैशारधेऽध्यात्म प्रसादः'** निर्विचार समाधि की निर्मलता में योगी को स्फुट प्रज्ञालोक होता है।

प्रज्ञाप्रासाद मारुह्य अशोच्यः

शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्

प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

ऐसी स्थिति में योगी सब चिन्ताओं से रहित होकर सांसारिक प्रवाह में बहते हुये प्राणियों को इस प्रकार देखता है जिस प्रकार पहाड़ पर खड़ा होकर मनुष्य जमीन वालों को देखा करता है। इस स्थिति में समाधिस्थ योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। उस समय योगी जो कुछ भी देखता है सत्य देखता है। इस बुद्धि का विषय श्रुत और अनुमान से बहुत आगे का होता है। इसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आमोद-प्रमोद विषयों में ज्योंही योगी संयम करता है त्यों ही अपने आपको आनन्दमय देखने लगता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी स्थिति आनन्दानुगत की गति है। इसी प्रकार पुरुष की दृक्शक्ति और बुद्धि की दर्शन शक्ति जब एक रूप में भासित होती है और उसमें योगी संयम करता है तब वह अस्मितानुगत योग को प्राप्त होता है। इस अस्मितानुगत योग में पुरुष की दृक्शक्ति और बुद्धि की दर्शन शक्ति क्योंकि एकाकार भासित होती है। इसलिए इसको जड़ चेतन की गाँठ कहा गया है। विवेक ख्याति के द्वारा ही स्फुट प्रज्ञालोक हों जाने के बाद ख्याति से ही जड़ चेतन की गांठ खुल जाती है। और ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा अन्य संस्कारों का प्रतिरोध हो जाने के बाद निर्बीज समाधि को योगी प्राप्त करता है। यही परमपुरुषार्थ है। निर्बीज समाधि प्राप्त करने के लिए मनुष्य को किन-किन उपायों का अवलम्ब लेना पड़ता है। इसके विषय में यद्यपि शास्त्रों के बहुत से मत हैं। जिनके विषय में हम आगे चलकर वर्णन करेंगे किन्तु भगवान् पतञ्जलि जी ने इस विषय में दो सूत्रों की रचना की है। जिनमें पहला-

1. भव प्रत्ययों विदेह प्रकृतिलयानाम्

2. श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें-

1. पहले प्राणी वह हैं, जो अपने जन्म जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग की वितर्क और विचारानुगति समाधि में पूर्णतः प्रविष्ठ हो चुके हैं और बाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे। अभी उनको विवेक ख्याति नहीं हुई थी। इतनी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया, ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं उनमें से (1) विदेह (2) प्रकृतिलीन

2. विदेह – वो कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं इसलिये वह शरीर की यथार्थता को समझ करके देहाभिमान से शून्य हो चुके हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वह सम्प्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके। अतः वह लोग विदेह कहलाते हैं और देव कोटि में माने जाते हैं।

2. प्रकृतिलीन – वह योगी है जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुए निर्विचार सभापति से पंच तन्मात्रा अहंकार और महतत्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं व अभी वह प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं, आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये, अचानक देहपात हो गया। इसलिए यह लोग प्रकृति लीन कहलाते हैं। यह भी प्राणी देव कोटि में माने जाते हैं इसलिए भगवान् व्यास देव जी ने इन लोगों के लिये-

विदेहानां देहानां भव प्रत्ययः तेहि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पदभिवानु भवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयक, मतिवाह, यत्ति तया प्रकृति-लयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदनिवानु-भवन्ति यापन्नपुनरार्त्ततेऽधिकार-वशाच्चित्त-मिति।

कैवल्य पदमिवा-नुभवन्ति कह करके भगवान् व्यासदेव जी ने इनको मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु ये लोग प्रकृति लीन होते हुए भी मोक्ष पद जैसा अनुभव करते हैं क्योंकि अभी इनका ग्रन्थि-भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को

प्राप्त नहीं हुए। इसलिये इनका चित्तसाधिकार है। और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है। क्योंकि पिछले जन्म जन्मातरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रवृतिलीन रहते हुए भी अपने आप को मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि आह्लाद-आमोद-प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुए अपने आप को आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहते थे। किन्तु विवेक ज्ञान के हुए बिना इनका चित्त साधिकार है इसलिए इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है। और जन्म से ही इनको पूर्व जन्म जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति को पाकर के जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों की कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि ये लोग विदेहावस्था में व प्रकृति लीनावस्था में परमानन्द में रहे व जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया हुआ अभ्यास सामने आया और पुन: उसी योग समाधि में प्रवृत्त हो गये। इसी प्रकार का प्रश्न गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण जी से अर्जुन ने किया।

अयति: श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानस:।
अप्राप्य योग संसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।

गीता 6:37

कच्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ो ब्रह्मण: पथि।।

गीता 6:38

एतन्मे संशयं कृष्णच्छेत्तुमर्हस्यशैषत:।
त्वदन्य: संशयस्यास्यछेत्ता न ह्युपदद्यते।।

गीता 6:39

अर्थात् - अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे कृष्ण! जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है और अपने आपको वश में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते-करते जिसका मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न करके किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित उभयभ्रष्ट होकर के फटे हुये बादलों की तरह से नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता, क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म ज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय का नाश करने वाला हे श्रीकृष्ण! दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा :

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद्दुर्गति तात गच्छति।।

गीता 6:40

प्राप्त पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: सभा:
शुचीनां श्रीमतां गेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते।

गीता 6:41

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।।
एतद्धिदुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृश्म्।

गीता 6:42

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।।
यतते च ततो भूय: संसिद्धौकुरुनन्दन।

गीता 6:43

पूर्वाभ्यासेन तेनैवह्लियते ह्यवशोऽपि स:।।
जिज्ञासुरपियोगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तत।

गीता 6:44

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विष:।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततोयाति परांगतिम।।

गीता 6:45

भगवान् श्रीकृष्ण जी उत्तर देते हैं, कि हे अर्जुन ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर और बहुत समय तक वहाँ रह कर पुन: पवित्र श्रीमानों के घरों में जन्म-ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में लौटना पड़ता है। योग मार्ग इस प्रकार का जन्म ग्रहण करना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और उस बुद्धि संयोग को पा करके

वे लोग पुन: सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं। क्योकि पूर्व जन्मों में उन्होंने इस प्रकार का योगाभ्यास किया हुआ था। इसी कारण विवश हो करके उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्म-काण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्नपूर्वक अपने सब पापों को भस्म करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परम गति को पा लेता है इसीलिए भगवान् पतञ्जलि जी की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार से विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को ही प्राप्त नहीं हो पाते हैं। उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, उसके बाद दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जिन्होंने नया-नया योगारम्भ करना है पिछले जन्म का कोई विशेष संस्कार है ही नहीं ऐसों के लिए-

''उपाय प्रत्ययों योगिनां भवति।''

कह करके भगवान व्यास देव जी ने योगारम्भ करने वालों को उपाय प्रत्यय का निर्देश किया है और उसमें—

'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।'

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी योग की महिमा को सुनता है व योग के अनेक विधि ऐश्वर्य को अनेक प्रकार की गतियों के चमत्कारिक व्याख्यान को सुनता है तो उसके मन में योग के प्रति श्रद्धा पैदा होती है श्रद्धा रहा के विषय में भगवान् व्यासदेव जी लिखते हैं-

'श्रद्धा चेतस: सम्प्रसाद: जननीव कल्याणी योगिनं पाति।'

मनुष्य का जिस विषय में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। वह माता की तरह उसकी रक्षा करती है, किन्तु सारे संसार के प्राणी श्रद्धावान् बन जाए यह सम्भव नही है। सत्व नुरूप प्राणी मात्र के अन्दर श्रद्धा रहा करती है भगवान् श्रीकृष्ण जी ने गीता के सत्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में स्पष्ट शब्दों में लिखा है यथा—

'सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भर्वात भारत श्रद्धामयाऽयं पुरुषो योयच्छद्ध: स एव स:।' 17 : 3

सत्त्वानुरूप प्राणी मात्र की श्रद्धा होती है उस परम पुरुष परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसे ही उस परमात्मा का स्वरूप है। अविचल श्रद्धा प्राप्त हो जाने पर योगी के मन में बल प्राप्त होता है अर्थात् उस लक्ष्य प्राप्ति के लिए मन में उत्साह बढ़ता है और उत्साह बढ़ जाने ने के बाद जब वह अपने स्वरूप प्रतिष्ठा रूप परम योग को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है तो उसकी स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति से जिन-जिन विषयों में वह ध्यान लगाता है वे स्थिर हो जाती हैं। चित्त एकाग्रता की ओर जाने लगता है। ज्यों-ज्यों उसका ध्यान स्थिर होता है त्यों-त्यों समाधि का प्रकाश होता रहता है और समाधि प्राप्त होने पर समाधि के निर्मल प्रवाह की विशुद्धता बढ़ जाने पर प्रज्ञा विवेक उत्पन्न होता है-

''**ऋतम्भरातत्रप्रज्ञाय**'' बुद्धि अवर्था है सदा सर्वथा सत्व को धारण करती है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर योगी हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान करके पर वैराग्य को प्राप्त होता है क्योंकि योगी हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान उन सब में दु:ख का अनुभव करता है। इसलिये दृष्टानुश्रकविक विषयों में वितृष्णा हो करके पुरुष विवेक-ख्याति को प्राप्त होता है। व्यक्त-व्यक्त धर्मों के गुणों में विरक्त होकर कृतार्थ हो जाता है और प्रत्युदित ख्याति योगी जिसने परवैराग्य को प्राप्त कर लिया है अनुभव करता है। **प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणा, क्षतव्या: क्लेशा: छिन्न: श्लिष्टपर्वों भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा भ्रियते मृत्त्वा च जायइति।**

मैंने जो कुछ पाना था पा लिया। क्षीण होने लायक कलेशों को क्षय कर दिया। पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ भव संक्रम काट दिया जिसके न काटने से जन्म लेकर मरना पड़ता था, और मर कर जन्म लेना पड़ता था। ज्ञान की पराकाष्ठा का नाम ही पर-वैराग्य है, और यह मोक्ष का स्वरूप है। इसके उदय हो जाने पर योगी स्वरूप प्रतिष्ठा रूप निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है और कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले योगियों में भी तारतम्य देखने में आता है।

उनमें से— (1) मृदु उपाय (2) मध्योपाय (3) अधिमात्रोपाय से ये योगी तीन प्रकार के होते हैं– और उनमें भी मृदु उपाय वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं- (1) मृदु संवेग (2) मध्य संवेग (3) तीव्र संवेग। इसी प्रकार से मध्योपाय वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं- (1) मृदु संवेग (2) मध्य संवेग (3) तीव्र संवेग। इसी प्रकार से अधिमात्रोपाय वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं (1) मृदु संवेग (2) मध्य संवेग (3) तीव संवेग। यह सब मिला करके 9 प्रकार के हो गये। इनमें से जो योगी अधिमात्रोपाय वाले और तीव्र संवेग वाले हैं उनको

शीघ्रातिशीघ्र समाधि लाभ होती है व समाधि का फल होता है।

''तीव्र संवेगानामासन्नः''

अर्थात् – जिस योगी का उपाय तीव्र होता है और उसका प्रयत्न भी तीव्र होता है उसको शीघ्रातिशीघ्र समाधि लाभ हो सकता है; और जिसके पिछले कर्म संस्कारवश समाधि प्राप्ति के लिये मृदु उपाय मिला और प्रयत्न भी हल्का है उस हालत में उतना ही विलम्ब समाधि में होगा। इसी प्रकार मध्योपाय वाले को व मृदु संवेग वाले को उतनी ही देर लगेगी जैसा जिसका तीव्र संवेग वाले को उतनी ही देर लगेगी जैसा जिसका तीव्र संवेग या तीव्र उपाय है उतनी ही जल्दी समाधि को प्राप्त करेगा और समाधि के फल के लिये दो प्रकार के मुख्य उपाय हैं जो भगवान पतञ्जलि जी ने लिखे हैं उनका वर्णन भी कर दिया गया है। भव प्रत्यय वाला योगी कोई विरला ही होता है और उसको अपने पूर्व संस्कार वश उसी प्रकार के उपाय उसी प्रकार सहवास सत्संग, उसी प्रकार का तीव्र बुद्धि योग प्राप्त हो जाना आवश्यक होता है। किन्तु जो लोग उपाय प्रत्यय आरम्भ करते हैं उनके अन्दर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि का होना परम आवश्यक है। इस छोटे से लेख में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों का संक्षेप में वर्णन कर दिया। इसी का नाम योग है न कि अनेक प्रकार की छोटी छोटी राजस, तामस उपासनाओं का व्यक्ति योगी कहला सकता है। इसी स्थिति में जाकर जीव परम कल्याण को प्राप्त होता है। मनुष्य को जब तक निर्बीज समाधि प्राप्त नहीं होती तब तक उसको परम पुरुषार्थ सीमा तक प्रयत्नशील बना रहना चाहिये। धैर्य से जो अपने साधन में लगे रहते हैं वह अवश्य ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के निम्नलिखित वाक्यों को याद रखते हुए मनुष्य को प्रयत्नशील बना रहना चाहिये,

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेक जन्मसंसिद्धस्ततोयाति परां गतिम्।।

अर्थात् जिस व्यक्ति का अधिमात्रोपाय व तीव्र संवेग नहीं है वह अपने मन्द प्रयत्न के द्वारा भी निर्बीज समाधि रूप परमगति को पालेता है फिर जिनके संस्कार उत्तम हैं उनका तो कहना ही क्या। सबसे मुख्य बात तो यह है कि मनुष्य योग सिद्धान्तों को समझ ले और दृढ़ता से उसमें संलग्न हो जाय, भगवान की आज्ञा है–

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।

केवल मात्र योग का जिज्ञासु ही कर्मकाण्ड के विषय से आगे निकल जाता है और जो लोग योग सिद्धान्तों को समझ करके गुरु के बतलाये मार्ग के अनुसार शास्त्र विधि से योगाभ्यास करते हैं उनके परम कल्याण में तो शंका ही क्या हो सकती हैं।

योगी की अचित्य शक्ति

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

उपरोक्त लेख के विषयानुसार योगी की शक्ति का वर्णन करना सहज वस्तु नहीं हैं; किन्तु फिर भी पाठकों की योग-जिज्ञासा बढ़े, इस बात को दृष्टि में रखते हुए मैंने इस लेख में योगी की क्या ताकत हुआ करती है उस पर यत्किचिंत् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्णजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का परिचय देते हुए निम्नांकित श्लोक कहा है जिसको पढ़ करके हर व्यक्ति यह समझ सकेगा कि योगी की सीमा कहां तक है-

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।
(गीता 6:8)

अर्थात् युक्त योगी वह कहलाता है कि जिसका हृदय ज्ञान और विज्ञान से परिपूर्ण हो चुका हो और जिसने विकार रहित स्थिति उपलब्ध करली है। जिसके लिए लोहा, पत्थर, सोना, सब एक समान है। ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ करके संयमी विधि से उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाला योगी ज्ञान तृप्तात्मा एवं जिसने पूर्ण आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह विज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। और कभी भी जिसको कामादि नहीं सताते हैं। अर्थात् विकार वाली स्थिति से आगे निकल जाता है ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। श्लोक के अर्थानुसार योगियों के इस प्रकार के इतिहास मिलते है जिन्होंने पूर्णता को पाकर के लोहा, सोना, पत्थर और मिट्टी को बराबर समझा। श्री गोरखनाथ जी का वह उदाहरण यहाँ पर परिपूर्ण रूप से लागू होता है जबकि वह अपने गुरुदेव को संगल द्वीप से ले आने के लिए छद्मवेष से संगल द्वीप गये और अपने गुरुदेव श्री मत्स्येन्द्रनाथ को साथ लौटा लाये थे। जिस समय मत्स्येन्द्रनाथ जी संगलद्वीप से श्री गोरखनाथ जी की प्रेरणानुसार चले थे तो उन्होंने कुछ अर्थाभाव को दूर करने की इच्छा से दो सोने की ईंटें अपने साथ रख ली थीं, जिसके परिणामस्वरूप वह हर समय चिन्तित रहा करते थे कि इनको कोई चुरा न ले जाय, किन्तु जिस समय श्री गोरखनाथ जी ने इस रहस्य को जाना तो उन्होंने वे दोनों सोने की ईंटें उठाकर कुंए में डाल दीं और आगे को चल पड़े। थोड़ा समय व्यतीत हो जाने के बाद मार्ग चलते हुए जिस समय श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी ने अपनी सोने की ईंटों को नहीं पाया तो वह बड़े क्लेषित हुए। श्री गोरखनाथ जी ने अपने गुरुदेव के मन की चिन्ता को जानकर हंस कर कहा, गुरुदेव आप क्यों चिन्तित है, उन्होंने सत्य-सत्य कारण बतला दिया, इस पर श्री गोरखनाथ जी हंसे और अपने गुरुदेव श्री मत्स्येन्द्रनाथ से बोले महाराज आप सोने की दो ईंटों की क्यों चिन्ता करते हैं, यह देखो यह पत्थर सोने का है यह कहकर उन्होंने एक बड़ी भारी चट्टान पर मूत्र त्याग किया तो वह सारी चट्टान तत्क्षण सोने की बन गई। इस आश्चर्य को देखकर मत्स्येन्द्रनाथ समझ गये कि गोरखनाथ की कितनी बड़ी शक्ति है। योगी जिस समय षट्चक्रों पर संयम करता हुआ चलता है और वह मणिपूरक चक्र में पहुँचता है और वहां संयम करता है तो उस चक्र के ध्यान का जो फल मिलता है उसका वर्णन भगवान् शिव ने शिव-संहिता में इस प्रकार किया है-

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणि पूरके।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यान्निरत्तर सुखावहा।।

ईप्सितं च भवेल्लोके दु:ख रोग विनशानम्।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेह प्रवेशनम्।।
जाम्बूनदादि करणं सिद्धानां दर्शन भवेत्।
औषधी दर्शनं चापि निधीनां दर्शन भवेत्।।

अर्थात् उस पवित्र मणि पूरक चक्र में जो योगी ध्यान करता है उसको पाताल सिद्धि अर्थात् पाताल प्रवेश करने की ताकत उसको प्राप्त हो जाती है और संसार के रहते हुए जिस कामना की वह चिन्ता करता है वह ईप्सित पदार्थ उसको अवश्य प्राप्त होता है। उसके सब प्रकार के दु:खों का स्वाभाविक नाश हो जाता है, अर्थात् उस योगी पर काल का अधिकार नहीं रहता। परदेह में प्रवेश करना और सोना बनाने की ताकत उसको सहज भाव से प्राप्त होती है। यदि वह योगी तीव्र संकल्प करे तो जहाँ पर मिट्टी या पत्थर पर वह मूत्रोत्सर्ग करेगा तो वह पत्थर आदि अवश्य सोना बन जायेगा। अत: अपने गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ को भ्रमित समझ कर अपनी इस विपुल शक्ति का प्रयोगात्मक रूप श्री गोरखनाथजी ने तत्काल करके दिखा दिया। योगी की कितनी बड़ी सामर्थ्य होती है। इसका योग दर्शन के एक सूत्र में बहुत बड़ा संकेत है। जहाँ पर योग-दर्शन के विभूतिपाद में समाधि प्राप्ति के उपाय बतलाये गये हैं। वहां पर **''ईश्वर प्रणिधानाद्धा''** अर्थात् ईश्वर से आत्म निवेदन करने से भी मनुष्य को सच्ची जिज्ञासा के साथ अवश्य समाधि प्राप्त होती है जब इस सूत्र की रचना भगवान् पतंजलिदेव ने की तो उस समय पातंजलि सिद्धांत को समझने वाले सभी जिज्ञासुओं को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उन्होंने तत्काल सवाल कर दिया—

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्त:, कोऽयमीश्वरो नामेति।

अर्थात् अभी तक तो योग दर्शन में प्रकृति और पुरुष का ही वर्णन था और प्रकृति पुरुष विवेक ही योग दर्शन का उच्चतम लक्ष्य था किन्तु यहाँ पर समाधि प्राप्ति के लिये ईश्वर भक्ति भी एक साधन है, यह सुनकर उसको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उसने बड़ी जल्दी यह कह दिया कि प्रकृति पुरुष से न्यारी यह ईश्वर नाम की तीसरी वस्तु कौन है तो भगवान् पतंजलि देव ने जवाब दिया-

कलेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष ईश्वर:।।

अर्थात् जो कभी भी कर्म विशेष विपाक आदि से छुआ नहीं गया है, उस ही पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। सुननेवाले जिज्ञासु ने उसी समय कहा ठीक है-

कैवल्यं प्राप्तास्तार्हि सन्ति च बहव: केवलिन:।

जिज्ञासु ने कहा- बहुत से कैवली लोग इस प्रकार के हैं जो विविध प्रकार की साधना करते हुए कैवल्य लाभ कर चुके हैं और उनके अन्दर भी कोई कर्म विशेष विपाकादि नहीं है। इसीलिए वह सभी ईश्वर है। इसके उत्तर में पतंजलिदेव योग दर्शन पर भाष्य लिखने वाले भगवान् व्यास देव ने अपना यह कहकर पीछा छुड़ाया कि भाई बात तो तुम्हारी ठीक है किन्तु एक अन्तर अवश्य है :-

तेहित्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ता: ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतौ न भावी।

अर्थात् वो सारे के सारे कैवली लोग तीन बन्धनों को काटकर कैवल्य को प्राप्त हुए और ईश्वर कभी तीन बन्धनों के अन्दर न कभी था और न आगे होगा। इस प्रकार से योगी की उत्कृष्ट ताकत का अनुमान स्पष्टतया लगाया जा सकता है कि योगी पूर्णरूपेण ईश्वरीय ताकतों से परिपूर्ण हो जाता है और उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। यदि ईश्वर में और उसमें कोई भेद मान लिया जाय तो वह केवल मात्र इतना ही रहेगा कि यह साधन करके उस कोटि को प्राप्त हुआ है बाकी क्लेश कर्म आदि उसके उसी प्रकार छूट गये हैं जिस प्रकार ईश्वर के अन्दर कर्म विपाक आदि नहीं हुआ करते हैं जिस प्रकार घड़े में रहने वाले आकाश को लोग तब तक घटाकाश कहते हैं जब तक घड़ा टूट कर वह आकाश महा आकाश का रूप धारण नहीं कर लेता।

उपनिषदों में योगी की अद्‌भुत शक्ति का वर्णन

अचिन्त्य शक्तिमान्योगी नाना रूपाणि धारयेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रिय:।।
नासौ मरण माप्नोति पुनर्योग बलेन तु।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुत:।।

मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवित।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ मृत एव वै।।
कर्त्तव्य नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते।
जीवन्मुक्तः सदा सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः।।

अर्थात् जिस योगी ने सम्प्रज्ञात योग की भूमिकाओं में संयम करते हुए अपने मन पर पूर्णरूपेण वशीकार प्राप्त कर लिया है उसकी शक्ति अचिन्त्य हो जाती है। वह चाहे तो हजारों शरीर एक साथ धारण कर ले और फिर उनका संहार भी कर ले। जिसने अपने आपको हठयोग की साधना के द्वारा मार लिया है वह योगी अमर हो जाता है, जहाँ पर संसार के प्राणियों की मृत्यु होती है वहाँ पर वह अमर रहता है, और जहाँ जिन विषयों को वह छूता तक नहीं उन सब में वह मृत की तरह रहता है क्योंकि इसने अपने आप पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है। इसलिए इच्छा रूप होकर के तीनों लोकों में जहाँ-तहाँ विचरा करता है। उपरोक्त श्लोक के अन्दर योगी की शक्ति का बहुत बड़ा वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान् श्रीकृष्णजी ने श्री मद्भागवत के 11 वें स्कन्ध में उद्धव को उपदेश देते हुए अपनी अष्टादश सिद्धियों का वर्णन किया है जो अन्तरमुख वाले को ही धारणा, ध्यान के प्रभाव से प्रगट हुआ करती हैं। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण से उद्धव ने प्रश्न किया :-

कया धारणया कास्वित कथंग्वित् सिद्धिरच्युत।
कविता सिद्धयो ब्रूहि-योगिनां सिद्धिदो भवान्।।

अर्थात् सर्व शक्तिवान सिद्धियाँ कितने प्रकार की हैं और किस धारणा से वह किस प्रकार प्राप्त की जाती हैं? आप योगियों को सिद्धियों के देने वाले हैं। कृपा करके उन सिद्धियों के नाम व गुण बताइये। इसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी अष्टादश सिद्धियों का स्वरूप बतलाया जिनमें से आठ प्रमुख हैं वे इस प्रकार हैं-

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारण योगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुण हेतवः।।

अर्थात् ध्यान योग के वेत्ता योगिराज लोगों ने सिद्धियाँ अठारह प्रकार की बतलाई जिसमें आठ मुझसे सम्बन्ध रखने वाली हैं और दश गुणों से पैदा होने वाली हैं।

आठ महा सिद्धियाँ जो प्रकृति के विश्लेषणों पर अधिकार प्राप्त करने वाले योगियों को भगवान् के निज स्वरूप में तदरूपता प्राप्त करने पर होती है, उनका वर्णन इस प्रकार हैं-

आठ महासिद्धियाँ

अणिमा महिमा भूर्ते-र्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्ति प्रेरणमीशिता।।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कमस्त दवस्यति।
एता में सिद्धयः सौम्य अष्टौचौत्पत्तिकामताः।।

अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वसित्व यत्रकामावसायत्व, ये आठ महा सिद्धियाँ हैं। इसके स्वरूप को इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

अणिमाः - योगी का अणु के समान बहुत ही सूक्ष्म हो जाना।

महिमाः - बड़ा हो जाना।

लघिमाः - रुई के समान हल्का हो जाना।

प्राप्तिः - सब प्रकार की पहुँच, अर्थात् योगी चाहे तो अपनी अँगुली के अग्रभाग से पृथ्वी से चन्द्रमा को छू सकता है।

प्राकाम्यः - यद्रिच्छागति, अर्थात् जिस प्रकार सर्व साधारण मनुष्य पानी में अनायास प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार योगी चाहे तो पृथ्वी में प्रवेश कर सकता है।

वसित्वः - प्राणीमात्र पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना।

ईशत्रित्वः - हुकूमत करना या मालिक होना।

यत्र कामावसायत्वः - सत्य संकल्प होना जो विचार मन में आ जाय उसका ही यथार्थ पूर्वक होना।

ये योगियों की आठ महासिद्धियाँ हैं जो दृढ़तर अभ्यास करने वाले योगिराज लोगों को ही प्राप्त हुआ करती है। समय-समय पर योगियों के इतिहास में इन्हीं सभी सिद्धियों का आविर्भाव पूर्णरूपेण दिखलाई देता है। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि अष्ट महासिद्धियाँ हर समय वास किया करती हैं और उनके जीवन में स्थान-स्थान पर उनकी चमत्कारिक घटनाओं में यह बिल्कुल स्पष्ट उनकी आत्माशक्तियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कई स्थानों पर वे अन्तरध्यान हुए, रासलीला के प्रकरण में गोपियों के अन्दर अभिमान पैदा हो जाने पर तत्काल वहाँ के वहाँ ही अन्तरध्यान हो जाना। उनकी योग ऐश्वर्य का परिचायक है। तृणावर्त्त को मारने के समय रुई के मानिन्द हल्का होकर उसके साथ आकाश में जाना और फिर उसके बाद पत्थर के समान भारी होकर जमीन पर आना यहाँ उनके लघुत्व एवं गुरुत्व का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार से पाताल आदि लोकों से अपने गुरुदेव के मरे हुए पुत्रों को लाकर देना, यह उनके स्पष्ट प्राकाम्य का प्रभाव है। ईशत्व और वसित्व तो उनके जीवन में प्रतिक्षण बनी ही रही हैं। इसके अतिरिक्त गुणधर्मों से पैदा होने वाली दस उप-सिद्धियों का वर्णन भी भगवान् ने अपने मुखारविन्द से किया है। वह इस प्रकार हैं-

दस उप-सिद्धियाँ

अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन दूर श्रवण दर्शनम्
मनोजवः कामरूपं परकाय प्रवेशनम्।।
स्वच्छन्द मृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथा संकल्प सं सिद्धि राज्ञा प्रतिहता गतिः।।
त्रिकालज्ञत्व मद्बन्द्वं पर चित्ताघभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः।।

इसके अतिरिक्त और भी सिद्धियाँ हैं जो विविध प्रकार के संयमों से मनुष्य को प्राप्त होती है।

अनूर्मिमत्वंः – भूख प्यास आदि के वेगों का न होना।

दूर श्रवण, दूर दर्शनम्ः – दूर की बातें सुनना व दूर तक देखना।

मनोजवित्वः – मन के वेग वाला बनना।

एक योगी का मन जहाँ जाय तत्काल उसका शरीर वहीं पहुँच जाये इसको मनोजविता कहते हैं अर्थात् मन के वेग से पहुँचना। जिस प्रकार हस्तिनापुर में द्रौपदी के चिन्तनमात्र से भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका से पहुँचना व उनके वस्त्र को बढ़ाना। दुर्वासा के वन में जाने पर और उनके आतिथ्य के लिए द्रौपदी का श्रीकृष्ण का चिन्तन करना और तत्काल श्रीकृष्ण का वहाँ पहुँच जाना। यह सब मनोजविता का ही उदाहरण है।

कामरूपंः – जैसा मन चाहे उसी प्रकार का रूप धारण कर लेना।

परकाय प्रवेशनम्ः – दूसरे के शरीर में घुस जाना, जिस प्रकार से मण्डन मिश्र के साथ श्रीनगर में शास्त्रार्थ करने पर विद्याधरि से परास्त होकर के श्री शंकराचार्य जी छः महीने का अवसर लेकर किसी राजा के शरीर में जाकर घुस गये थे और छः महीने बाद उसको परास्त किया।

स्वच्छन्दमृत्युः – अपनी इच्छानुसार मृत्यु ग्रहण करना अर्थात् जब तक योगी चाहे जीवित रहे।

देवानाम् सहक्रीडा दर्शनम्ः – देवताओं की अप्सराओं के साथ होने वाली हास-विलास आदि क्रीडाओं को अनावर्ण देखना।

संकल्पसिद्धिः – जैसा सोचे वैसा ही हो जाना।

आज्ञाप्रतिहता गतिः – सब जगह हकूमत करना।

यह दस सिद्धियाँ सतोगुण से होने वाली हैं। इनका सम्बन्ध सतोगुण से है। इसके अतिरिक्तः-

त्रिकालंज्ञत्वः – अर्थात् तीन काल की बातों को जानना।

अद्वन्द्वः – सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि द्वन्दों के वश में न होना।

परिचित्ताद्याभिज्ञताः – दूसरे के चित्त की बातों को जानना।

अग्न्यर्काम्बु विषादीनां प्रतिष्टम्भः – अग्नि, सूर्य, जल और विष आदि का योगी के शरीर पर किसी भी प्रकार का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ना।

अपराजयः – किसी से भी पराजित न होना।

ये पाँचों सिद्धियाँ भी योगियों को अपने योग ध्यान से प्राप्त हुआ करती हैं। जितनी सिद्धियों का वर्णन योग दर्शन, श्रीमद्भागवत् में, उपनिषदों में या योग वसिष्ठ आदि में मिलता है वो सब उनका अपना ऐश्वर्य है। मेरे श्री गुरुदेवजी महाराज अपने मुखारविन्द से हिमालय के सिद्धों की आश्चर्यजनक कथाएँ सुनाया करते थें, जिनको सुनकर आजकल के समय का मनुष्य आश्चर्यचकित हो जायेगा, और गप्प कहकर छोड़ देगा, किन्तु बात ऐसी नहीं है। हमारे पूज्य श्री गुरुदेवजी ने एक बार जिक्र करते हुये बतलाया कि हिमालय के अन्दर इस प्रकार के उच्च कोटि के महात्मा हैं जिन्होंने रोम–कूपों से हजारों स्त्री पुरुषों की रचना कर ली। बड़े–बड़े महल व बँगले बना लिये, मालूम पड़ने लगा यह एक नया लोक बसा है। किन्तु उन्होंने फिर निज निर्मित सृष्टि का संहार करना चाहा तो एक बार स्वर–श्वासों का आकर्षण किया और वह सारी सृष्टि उन्हीं में विलीन हो गई। यदि आधुनिक समय में इन सब बातों को लोगों के मध्य में प्रचारार्थ बताया जाए तो गप्प कहकर छोड़ देने के अतिरिक्त तीसरी चीज नहीं होगी। किन्तु बात इस प्रकार की नहीं है, हमारा पुराना इतिहास इस प्रकार के उपाख्यानों की पूरी–पूरी गवाही देता है। त्रिशंकु का इतिहास आप लोगों ने सुना ही होगा, महाराज त्रिशंकु के निमित्त विश्वामित्र का नये स्वर्ग की रचना करना, इसी प्रकार की घटनाओं का ज्वलंत उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रामायण में श्री सीताजी द्वारा श्रीराम की बारात का अनुपम प्रबन्ध करना। जनकपुरी में भगवान् श्री रामचन्द्रजी की बारात के पधारने पर अपनी योगशक्ति से सिद्धियों को लाकर जो आतिथ्य किया वह भी सीताजी की योग शक्ति का पूर्ण परिचायक है। सीता जी ने जिस समय देखा कि बारात शहर में आ गई है और उनके प्राणपति भगवान् श्री राम का पूर्णरूपेण आतिथ्य नहीं हो रहा, ऐसी स्थिति में स्वयं सीताजी ने ही मन में संकल्प करके सिद्धियों को बुलाया और उचित आतिथ्य का आदेश दिया:–

जानी सिय बरात पुर आई,
कछु निज महिमा प्रगटि जनाई।
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई,
भूप पहुनाई करन पठाईं।।
सिधि सब सिय आयसु,
अकनि गई जहां जनवास।
लिये संपदा सकल सुख,
सुरपुर भोग विलास।।
निज निज बास बिलोकि बराती।
सुरसुख सकल सुलभ सब भाँती।।
विभव भेद कछु कोउ न जाना।
सकल जनक कर करहिं बखाना।।
सिय महिमा रघुनायक जानी।
हरषे हेतु हृदय पहिचानी।।
पितु आगमनु सुनत दोऊ भाई।
हृदय न अति आनन्द अमाई।।

अर्थात् जिस समय श्री सीताजी ने अपने शहर में आई हुई बारात को देखा तो हृदय में स्मरण करके सब सिद्धियों को बुला लिया और महाराज दशरथ के आतिथ्य सत्कार के लिये उनको प्रेरित किया। सब सिद्धियाँ सीताजी के आशीर्वाद को प्राप्त करके देवताओं के नगर में होने वाली सब प्रकार की सम्पत्ति व भोग–विलास की सामग्री को लेकर के जहाँ जनवासा था वहाँ गई और बड़ा ही अद्‌भुत वैभव पलों में प्रकट कर दिया। बाराती लोग अपने आवास को देख कर बड़े आश्चर्यचकित थे किन्तु उस सम्पत्ति के मूल कारण को कोई नहीं समझ सका। सब लोग यही समझते थे कि यह सारा ऐश्वर्य महाराज जनक का ही है। किन्तु एक मात्र श्री रामचन्द्रजी ने इस बात को पहचाना:–

सिय महिमा रघुनायक जानी।
हरषे हृदय हेतु पहिचानी।।

सीताजी की महिमा को केवल मात्र रघुनाथजी ने जाना और वे उनकी शक्ति के इस अद्‌भुत प्रभाव को देख करके बड़े हर्षित हुए। सीता उनकी अपनी आत्मशक्ति थी।

इसी प्रकार से मुनि श्री भरतजी के भारद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचने पर मुनि की योगशक्ति के प्रभाव को दिखलाने वाली अद्‌भुत घटना को गुसाई तुलसीदासजी ने अपने शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है–

राम विरह व्याकुल भरत,
सानुज, सहित समाज।
पहुनाई करि हरहुँ श्रम,
कहां मुदित मुनिराज।।
रिधि सिधि सिरधरि मुनिवर बानी,
बड़भागिनी आपुहि अनुमानी।
कहहिं परस्पर सिधि समुदाई,
अतुलित अतिथि राम लघु भाई।
मुनिपद बन्दि करिअ सोई आजू,
होई सुखी सब राज समाजू।
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना,
जेहि बिलोक बिलखाहि बिमाना।
भोग बिभूति भूरि भर राखे,
देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे।
दासी दास साजु सब लीन्हे,
जोगवत रहहि मनहिं मनु दीन्हें।
सब समाजु सजि सिधि पलमाहीं,
जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं।
प्रथमहि बास दिए सब के ही,
सुन्दर सुखद जथा रुचि जेही।
बहुरि सपरिजन भरत कहुँ
रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव
मुनिवर तपबल कीन्ह।।

अर्थात् श्रीरामजी को लौटाने के लिए भरत जी को वन में आया देख करके सेना सहित भरतजी के आतिथ्य के लिये मुनि ने अपने संकल्प से सिद्धियों को बुलाकर आज्ञा दी कि भरतजी का आतिथ्य करके इनकी रास्ते की थकान को दूर करो। मुनिराज के इन वचनों को सुनकर रिद्धि–सिद्धियों ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर और श्री भरत के आतिथ्य की सेवा मिलने पर अपने आपको बड़भागिनी माना। सिद्धियों ने विचार किया कि मुनिराज के चरणों में प्रणाम करके श्री भरत के लिये हम वह काम करें जिसको देखकर देवी–देवता सभी आश्चर्य में पड़ जाए। यह विचार कर उन्होंने सुन्दर–सुन्दर रहने के मकान बनाये जिनको देखकर देवता लोग भी आश्चर्यचकित रह गये। इसके अतिरिक्त उन मकानों में भोग–सामग्रियो को देख करके देवताओं की अभिलाषायें भी जाग उठी, बहुत से दास–दासी बनाये जो मनुष्य को स्वप्न में भी स्वर्ग में नहीं मिल सकते वह सब सुख–सिद्धियों ने मुनि की आज्ञा मानकर पल में कर दिया ओर भरतजी व उनकी सेना के लिये उचित स्थान दिये। इस वैभव को देखकर देवी–देवता, वरुण आदि लोकपाल सब देखकर हैरान थे वह वैभव जो मुनिराज ने अपने संकल्प से किया:–

आसन सयन सुबसन बिताना,
बन बाटिका विहँग मृग नाना।
सुरभि फूल–फल अमिअ समाना,
बिमल जलासय बिबिध बिधाना।
असन पान सुचि अमिअ अभी के,
देखि लोग सकुचात जमी के।
सुर सुरभी सुरतरु सब ही के,
लखि अभिलाषु सुरेस सची के।

आसन, सुन्दर सेज, अच्छे–अच्छे कपड़े ऊपर लगाने के चन्दोबे बड़े, सुन्दर वन–वाटिकायें, सुन्दर–सुन्दर पक्षी, मृग, बड़ी सुगंधीवाले फूल अमृत के समान स्वादिष्ट जल वाले कुएँ–तालाब आदि निर्मल जलाशय, अमृत के समान खाने–पीने के पदार्थ और इसके अतिरिक्त सभी के डेरों में कामधेनु, कल्प वृक्ष आदि सम्पत्ति बनाई, बसन्त ऋतु का सुहावना समीर वहाँ चलने लगी। ये सारा का सारा प्रभाव मुनि भारद्वाज की अचिंत्य योग शक्ति का था। इसी प्रकार से हमारे

पुराने इतिहास में सैकड़ों उपाख्यान इस प्रकार के हैं जिनको पढ़ करके भारतवर्ष में होने वाले पुराने योगियों की अचिंत्य योग शक्ति को देखकर मन उमंगित हो उठता है किन्तु हम अपने महापुरुषों की इस प्रकार की दिव्य घटनाओं को देखकर व सुनकर समझ भी न पाते कि ऐसा हुआ था या नहीं। यह तो बहुत पुरानी बात है अब भी भारतवर्ष में समय-समय पर इस प्रकार के महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता रहता है जिन्होंने समय-समय पर अपनी योग शक्ति का परिचय दिया-

सन्त ज्ञानेश्वर

महाराष्ट्र प्रान्त में होने वाले सन्त ज्ञानेश्वर ब्राह्मण कुल में जन्म लेने व संन्यास आश्रम से बदलकर पुन: गृहस्थ में आने वाले विप्र की सन्तान थे। उनके जीवन में अलौकिक और आश्चर्यप्रद घटनायें घटीं। ज्ञानेश्वर के चरित्र की धूम जिस समय महाराष्ट्र में मची तो उनके समकालीन उसी समय में होने वाले 1400 वर्षीय योगी चांगदेव ने बड़ा आश्चर्य माना और वह शेर पर सवार होकर सन्त ज्ञानेश्वर से मिलने के लिये चले। उनकी बहन मुक्ताबाई ने 14 वर्षीय अपने भाई ज्ञानेश्वर से कहा कि भाई योगी चांगदेव जहरीले सर्पों का चाबुक हाथ में लेकर और खूंखार शेर पर चढ़कर तुमसे मिलने आ रहे हैं। उस समय ज्ञानेश्वर जी एक कच्ची दीवार पर बैठे हुए थे। उन्होंने अपनी बहन को आश्वासन दिया और कहा मुक्ता चिन्ता मत कर अपने पास शेर तो नहीं है पर हमारी यह दीवार ही उनके आतिथ्य के लिए आगे बढ़ेगी। सन्त ज्ञानेश्वर के इतना संकल्प करने पर दीवार आगे चलने लगी जिसको देखकर सभी लोगों ने बड़ा आश्चर्य माना और योगी चांगदेव के आश्चर्य का तो ठिकाना ही नहीं रहा। 14 वर्षीय बालक और 1400 वर्षीय योगीराज का अद्भुत मिलन हुआ। योगी चांगदेव ने समझ लिया कि यही मेरे गुरुदेव हो सकते हैं और यही मुझ पर शक्तिपात करके मेरा आत्मोत्थान करायेंगे और बाद में अवसर पाकर 1400 वर्षीय योगी चांगदेव ने 14 वर्षीय बाल योगी ज्ञानेश्वर की चरण शरण ग्रहण की और अपने आप को कृतार्थ किया। आजकल के इस घोर कलिकाल के समय में भी योगियों की चमत्कारिक घटनायें समय-समय पर घटित होती रहती हैं।

योगीराज श्यामचरण लाहिड़ी महाशय

जेको पब्लिशिंग हाउस, महात्मा गाँधी रोड बम्बई से अंग्रेजी में एक पुस्तक निकली जिसका नाम योगी कथामृत लेखक परमहंस योगानन्द जी (Autobigraphy of yogi by Yogonandji)। इस पुस्तक को पढ़ने वाले लोग श्री लाहिड़ी महाशय की आत्म-कथा को पढ़कर आश्चर्य में पड़ जायेंगे। श्यामचरण लाहिड़ी महाशय बनारस में निवास करते थे और वे सरकारी कर्मचारी थे। एक बार उनको किसी सरकारी काम से रानीखेत जाने का अवसर हुआ। रानीखेत पहुँचने पर उनके मन के अन्दर धारणा बनी कि वह जंगलों का भ्रमण करें, अपनी इसी धारणा के अनुसार जिस समय वे वन में गये तो उनको एक आवाज सुनाई दी, लाहिड़ी आओ तुम्हें गुरुदेव याद कर रहे हैं, तुम बहुत दिन के बाद आ रहे हो लगभग 32 साल से हम तुम्हारे आसन को सम्हाले हुए हैं। लाहिड़ी महाशय कुछ दूर आगे बढ़े तो उनको दो तपस्वी साधू दिखाई दिये। लाहिड़ी महाशय का मन उन दोनों महात्माओं की ओर स्वभावत: आकर्षित हुआ जा रहा था। लाहिड़ी महाशय यह विचार कर रहे थे कि ये दोनों साधु मेरे अपने हैं, मैं इनका हूँ। उनको ऐसा आभाषित हुआ कि जिस प्रकार कोई मृग अपनी मृगों की टोली से अकेला भटक जाये और बाद बिछुड़ी टोली में मिल जाए, जो हर्ष मृग को हुआ करता है वह हर्ष श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के मन में पूर्णरूपण भर गया। श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय ने आगे बढ़कर अपने पिछले जन्म से सुरक्षित रखे आसन को देखा उनकी पहचान हुई कि यह आसन मेरा ही होगा। वहाँ खड़े श्री गुरुदेव के दर्शन की तीव्र लालसा मन में पैदा हुई और अपने गुरु-भाइयों से कहा कि भाई मुझे गुरुदेव के दर्शन कराओ। दोनों महात्मा लाहिड़ी महाशय को एक गुफा में ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने अपने पूर्व जन्म के गुरुदेव के दर्शन प्राप्त किये। गुरुदेव लाहिड़ी को देखकर हंसे और कहा कि लाहिड़ी तुम रानीखेत में स्थानान्तरित होकर नहीं आये हो प्रत्युत चार दिन के लिए तुम्हें यहाँ बुलाया गया है। अभी 4 रोज के बाद तुम्हारे ऑफिसर तुम्हें तार देकर बुला लेंगे। अब तुम दीक्षा प्राप्त करो। उस गुफा में खड़े हुए लाहिड़ी महाशय के मन में विचार घूमने लगा कि मैं अपने इस प्यारे गुरुदेव का पूजन सोने के मन्दिर में बैठा करके करूँ किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है।

करोड़ों, अरबों का सोना, कहाँ से आये। लाहिड़ी महाशय के मन में यह धारणा धूम ही रही थी कि उनके गुरुदेव उनके मनोभावों को तत्काल जान गये और कहा बेटा लाहिड़ी तुम स्वर्ण मन्दिर में बैठकर दीक्षा लेना चाहते हो। अच्छा ऐसा ही हो जाता है। तुम दीक्षा के लिए तैयार हो जाओ। श्री गुरुदेव के मुख से इस प्रकार के वचन निकल जाने के बाद, महाशय लाहिरी ने देखा कि वहां पर रत्नों से जड़ित बड़ा भारी प्रकाशमय स्वर्ण मन्दिर स्वत: ही तैयार हो गया। गुरुदेव ने आज्ञा दी अच्छा लाहिड़ी तुम इसमें चले आओ और इसमें बैठकर हमारा पूजन करो। लाहिड़ी महाशय ने उस स्वर्ण मन्दिर में अपने गुरुदेव का पूजन किया, एक उच्चतम आध्यात्म प्रसाद को प्राप्त किया। श्री गुरुदेव ने एक बार में ही उनके सिर पर हाथ रखा और लाहिड़ी को सिद्धि-शक्तियों का भण्डार बना दिया। लाहिड़ी महाशय ठीक चार दिन वहाँ पर रहे। चार दिन के बाद अपने ऑफिसर के बुलाने पर पुन: यथा स्थान लौट आये। उसके बाद उनके दिव्यानुभव दिन दूने रात चौगुने बढ़ने लगे। और थोड़े समय के अन्दर ही वे पूर्ण योगी बन गये और उन्होंने भारतवर्ष के और विदेश में योग का प्रचार कराया। ब्रह्मचारी योगानन्द और उनकी शिष्या बहिन दया माता लाहिड़ी महाशय के ही कृपा पात्र हैं। जो आजकल भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर योगदा सत्संग सोसायटी चला रहे हैं।

कानपुर में घटने वाली एक योगी की शक्ति की अद्‌भुत घटना नर कंकाल में प्राण संचार

अभी लगभग 8 वर्ष पूर्व 18 मई 1961 को आगरा से प्रकाशित होने वाले 'सैनिक' अखबार में एक घटना प्रकाशित हुई (जिसको उसने ''स्वतन्त्र भारत'' अखबार कानपुर से प्रकाशित होने वाले से प्राप्त किया) कानपुर में गङ्गा के किनारे स्थित अग्रसैन व्यायाम शाला में श्री दंडी स्वामी विद्याश्रमी ने एक योग शक्ति का अद्‌भुत प्रदर्शन किया जिसमें उन्होंने एक नर-कंकाल (अस्थि पंजर) को नंगा करके प्राण सञ्चार किया और थोड़ी देर में वह मनुष्य आकृति के रूप में लोगों के सामने जिन्दा होकर बैठ गया क्योंकि यह क्रिया दण्डी स्वामी ने पर्दे के अन्दर की इसलिए कुछ लोगों के मन में शंकायें बनी रहीं। उनमें से प्रधान आलोचक श्री भूदेव शर्मा विद्यालंकार थे। शंका निवृति के लिए कानपुर के सभी सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने श्री स्वामी जी से पुन: प्रदर्शन की मांग की। स्वामी जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कुछ समय बाद उसी प्रकार से पुन: प्रदर्शन किया गया। भूदेव शर्मा विद्यालङ्कार के द्वारा ही किसी व्यक्ति का अस्ति-पंजर मंगाया गया और उसमें प्राण-सञ्चार करके बहुत जल्दी ही मनुष्य रूप में परिवर्तित कर दिया। कानपुर के भूतपूर्व सिविल सर्जन श्री दीक्षित ने उस अस्थि पञ्जर से बने हुए मनुष्य की नाड़ी देखी और पूरा परीक्षण किया और बाद में उन्होंने सब के सामने परिणाम घोषित कर दिया कि अस्थि-पञ्जर से बना हुआ वह व्यक्ति बिल्कुल जिन्दा मौजूद है। कोई भी चाहे उसका परीक्षण कर सकता है। भूदेव शर्मा विद्यालङ्कार ने उसे मनुष्य रूप में पूर्ण रूपेण ठीक देखा। ठीक इसी प्रकार की एक घटना 2-3 वर्ष पहले जिला मिर्जापुर के छोटे से एक गांव बरैनी में घटित हुई थी। वहाँ पर भी एक महात्मा ने एक अस्थि पंजर मँगा कर उसमें प्राण-संचार किया और वह मनुष्य जिन्दा हो गया किन्तु उसका परिवर्तन उस स्थिति में हुआ जिस स्थिति में वह मर गया था अर्थात् तीव्र बुखार की हालत में ही वह सब के देखने में आया। अस्थि-पञ्जर में प्राण-संचार करने वाले महात्मा से लोगों ने पूछा कि यह कितने दिन जिन्दा रहेगा, उन्होंने कहा कि यह अधिक से अधिक आठ रोज ही जिन्दा रह पायेगा उसके बाद यह जिन्दा नहीं रह सकेगा क्योंकि यह अपनी आयु भोग चुका है। इस प्रकार की अद्‌भुत घटनायें भारतवर्ष में समय-समय पर घटित होती रहती है। योगिराज लोगों की जिन अद्‌भुत घटनाओं का स्थान-स्थान पर हमारे इतिहास में वर्णन मिलता है उस प्रकार के महापुरुष आज कलिकाल के समय में भी मौजूद हैं।

इसलिए योगी की शक्ति अचिंत्य शक्ति है। ये लोग 'कर्त्तुमकर्त्तूमन्यथा कर्त्तुम' की ताकत वाले होते हैं अर्थात् काम कर दें, बिगड़ी को बना दें। बनी को बिगाड़ दें और बिगड़ी को फिर बना दें। इस प्रकार की सर्व सामर्थ्यता हिमालय की कन्दराओं में छुपकर रहने वाले सिद्ध योगीराजों के अन्दर रहा करती है। योग ही एक इस प्रकार की विद्या है जिसको पाकर के कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता और इसका अवलम्ब लेने वाला पवित्र जिज्ञासु अवश्य सब प्रकार से कृतार्थ हो जाता है।

शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने अपने पिछले लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का कथन है–

''**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो**''

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्म पद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षा काल में अनेक प्रकार के कीट–पतंगे आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति प्राप्ति की धुनि सवार रहती है। किन्तु ''मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'' के नियमानुसार साधन में प्रवृत्त मनुष्य अपनी मति के अनुसार होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिये होता है जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालुका की गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा–सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसे पाकर उसको शान्ति मिलती है किन्तु वह शान्ति उसके लिए अस्थाई है जब तक वह मछली अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जायेगी तब तक उसका दुःख तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्मा का सनातन अंश है और जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी–मोटी शक्तियों को पाकर के इसको शांति किस प्रकार से उपलब्ध हो सकती है और जिसको शांति ही नहीं मिली उसको सुख कहाँ से आयेगा। इसलिये योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतप शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको करते हुए वह कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होगा। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन को ज्योतियों की भी महाज्योति कहा गया है और वेद मंत्रों में उसको शिव संकल्प वाला होने की प्रार्थना की गई है।

अर्थात् हमारा मन ज्यों जागता हुआ दूर–दूर भ्रमण करता है और सोता हुआ भी इसी प्रकार क्रियाशील बना रहा करता है। उसमें शुभ संकल्पों का वास हो जिससे वह हमारे उत्थान का कारण बने, हमारे पूर्वजों का कथन है–

मनएव मनुष्यणाम्
कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण मन है इसलिए सर्व प्रथम मन की बागडोर को रोक कर शक्ति संचय करने के लिये उसका संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान् पतंजलि देव ने 'योग–दर्शन' में अष्टाँग योग का वर्णन किया, जिनके सभी अंग यद्यपि मन पर संयम करने के लिये अचूक साधन हैं। किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुख नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महा वृक्ष को छेदन करने के लिये पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेजधार वाले हों और उसे काट सकें इसलिये परम श्रेय लाभ करने के लिये और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिये प्रथम मन को ही धारणा का विषय बना लेना बहुत आवश्यक है। उसकी पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है। धारणा क्या है ? इसके विषय में भगवान् पतंजलि देव अपने सूत्र में निर्देश इस प्रकार करते हैं–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्व प्रथम सोपान है। यहां से ही मनुष्य का सर्वार्थक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिये इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं किन्तु योग दर्शन पर भाष्य लिखते हुये धारणा स्थान निम्नांकित बतलाये हैं-

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे, जिह्वाऽग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात् नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्ध्व ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त को वृत्ति मात्र से एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति के कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे सुने हुए विषय को मन में भावना रूप में चिन्तन करना ही वृत्ति-वृन्द है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिये, जैसे हमने हृदय कमल में भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ की एवं कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगे। यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री विष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिन्तन करना यह हृतपुण्डरीके में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्ध्वा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वाग्र, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिये वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् पतंजलिदेव का आदेश है:-

स तु दीर्घ कालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिये उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं होना चाहिये कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम की आंकाक्षा करें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिये और लगातार करना चाहिये अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आये। आज कर लिया कल फिर छूट गया, फिर दो-चार रोज कर फिर कुछ समय के लिये छूट गया। इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। उसके साथ-साथ एक बात और परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिससे हमारी श्रद्धा परिपूर्ण रूपेण हो, हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार **'अकर्णात् कर्णम् श्रेयः'** न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय, कुछ-न-कुछ भले के लिये तो होता ही है किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिये बहुत ही आवश्यक है। इसलिये धारणा को भी परिपक्क करने के लिये हमें कम-से-कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रगट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान् पतंजलि देव ने योग दर्शन में कहा:-

धारणा सु योग्यता मनसः।

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल 3-3 घण्टे अपने ध्येय विषय की धारणा करके उसको वृत्ति वृन्द से एकाग्रित करना चाहता है उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रगट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम है कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियंत्रक गुरुदेव की आज्ञा में बँधकर अपने

अभ्यास को नियमानुसार करता है। इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वत: ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

ध्यान

भगवान् पतंजलि देव ने ध्यान की परिभाषा बतलाते हुए आपने योग दर्शन में यह सूत्र कहा है :-

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।

अर्थात् उस ध्येय विषय में चित्त का सदृश्य प्रवाह अर्थात् लगातार लगे रहना किसी और विषय का चिन्तन बिल्कुल नहीं आना ही ध्यान कहलाता है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान् व्यासदेव लिखते हैं:-

तस्मिन देशे ध्येयालम्बनीभूत प्रत्ययस्यैकतानता सदृश प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।

अर्थात् ध्येयालम्बनीभूत विषय का अनवरत चिन्तन, जिसमें दूसरे चिन्तन का स्थान भी न हो एवं वृत्ति तेलधारा के माफिक एक स्तर की चले, उसी का नाम ध्यान कहलाता है। ध्यान उस विषय का नाम है जिसमें चित्त के अन्दर एकाग्रता परिणाम का पूर्ण उदय हो जाता है। अभी तक हमारा चित्त सर्वार्थक था अर्थात् उसको इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को दिखलाती थीं और उनमें ही बटाँ हुआ रहा करता था, कर्णेन्द्रियों ने किसी मधुर आवाज को ग्रहण किया तो चित्त चट उसकी ही ओर भाग गया। रसनेन्द्रिय जिन्होंने किसी प्रकार के रस का आस्वाद किया तो चित्त उसमें ही भटक गया। नेत्रेन्द्रियों ने किसी रूप को दिखाया, मन रूपदर्शन में लग गया। त्वगेन्द्रिय ने स्पर्श ज्ञान की ओर मन को खींचा उस ही की ओर लग गया। घ्राणेन्द्रिय ने किसी प्रकार की सुगन्ध को ग्रहण किया तो मन उसको ही ग्रहण करने में लग गया, इस प्रकार से हमारा मन भटकता रहता है और वह सर्वार्थक रहता है किन्तु जब योगी ने मन को इकट्ठा करके धारणा की ओर लगा करके वृत्तिवृन्द के द्वारा एक विषयक बनाने की चेष्टा की तो उसके अन्दर कुछ एकाग्रता के धर्म पैदा होने लगे और इस धारणा के अनवरत अभ्यास करते रहने पर ज्यों-ज्यों मन की अपनी ताकत बढ़ी त्यों ही उसके अन्दर एकाग्रता परिणाम आ गया और वही सर्वार्थक मन ध्यान के रूप में बदल गया। यहाँ से ही योगी की अन्तर्मुखी वृत्ति का आरम्भ हो जाता है और मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ने लगता है, कठोपनिषद् में नचिकेता को उपदेश देते हुए भगवान् यमराज ने यह स्पष्ट कहा है कि— मनुष्य अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ही परम श्रेय को प्राप्त कर सकता है।

पराञ्चिखानि व्यतृणत्सव यम्भूस्तस्मात्पराङः पश्यति नान्तरात्मन्।। कश्चिद्धरिः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्ति-चक्षुरमृतत्वमिच्छन।।

अर्थात् परमात्मा ने सारी इन्द्रियों को बाहर की ओर देखने वाला बनाया है। इसलिये वह परान्तपश्यन का काम करते हैं किन्तु संसार में कोई-कोई धीर पुरुष इस प्रकार के होते हैं जो अपने बाहर के इन्द्रिय-व्यापार को बन्द करके उस प्रत्यगात्मा को देख पाते हैं। उस नित्य चेतन धन परम प्रभु को जानने के लिये बहुत आवश्यक है कि हम ध्यान योग के अभ्यासी बन जाय। हमें शास्त्र स्पष्ट आज्ञा देता है:-

नचक्षुषा गृह्यते नापि वाचानान्यैर्दे-वैस्तपसा कर्णणावा,

ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्तस्तु तं पश्यन्ते निष्कलं ध्यायमानः।

अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन न चक्षुओं से देखा जा सकता है न दूसरी इन्द्रियाँ प्राप्त कर सकती हैं। केवल मात्र ज्ञानानुभूति से ही निरन्तर ध्यान करते हुए मुनि लोग उसके तत्त्व को जान सकते हैं। अत: ध्यान योग के द्वारा ही योगी अन्तरमुखता को प्राप्त होकर अपने ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं और यहाँ आकर उनका मनोबल और भी अधिकाधिक विकसित हो जाता है। हमारे पूर्वाचार्यों का कथन है कि:-

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्ण बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।।

अर्थात् पाप का फैला हुआ पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग के द्वारा नष्ट हो जाता है उसके नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। इसका कारण केवल मात्र यह है, ध्यान मन में पूर्ण सतोगुण उदय होने पर ही स्थिर रह पाता है। जब तक मन के अन्दर रज और तम की वृत्तियाँ अग्रणी रहती हैं तब तक मन अन्तरमुखता की ओर बढ़ ही नहीं पाता और

अन्तरमुखता प्राप्त हो जाने के बाद रज और तम की वृत्तियाँ दिनों-दिन क्षीणता को प्राप्त होने लगती हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान और तेज का विकास होने लगता है। इसलिये ऐसा मन विवेकख्याति की ओर बढ़ता चला जाता है और उसके पाप इस प्रकार से नष्ट हो जाया करते हैं जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार हट जाता है। अस्तु, क्योंकि मन ध्यान में अन्तरमुखी होता है वह बाह्य जगत से नाता तोड़कर अन्तरात्म में होने वाले विविध प्रकार के सत्व तेज प्रधान दृश्यों को देखता है और ज्यों-ज्यों अंतरजगत के दृश्य उसके सामने आते हैं, त्यों-त्यों उसका बाह्य जगत से एक प्रकार का नाता टूट सा जाता है और पूर्ण वैराग्य का उदय अपने आप ही होने लगता है, यदि ऐसे समय में कोई तत्ववेत्ता गुरुदेव नियंत्रक हो अपने शिष्य को बाह्य जगत से हठात् रोक करके अंतरमुखी वृत्ति के द्वारा विवेक ख्याति की ओर खींच ले जाये। किन्तु यहाँ पर उसी नियम को याद रखना चाहिये जो धारणा के वर्णन में पहले बतलाया जा चुका है। यद्यपि धारणा से बढ़ी हुई योग्यता के अनुसार मन ध्यान-परायण हो गया किन्तु फिर भी यदि यह अपनी इस अमूल्य निधि को सम्भाल कर न रख सका तो सम्भव है बाहर के वासनामय दृश्यों की ओर मन को लगा देने पर खो बैठे। यदि अपने इस धन को साधक लापरवाही से खो देता है तो उसका अभ्योत्थान बहुत ही कठिन हो जाता है। क्योंकि हमारे शास्त्र का कथन है:-

न सन्दृशे तिष्ठति रुपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति।।

अर्थात् उस प्रत्यगात्मा को आँखों से नहीं देखा जा सकता। हृदय में मनन करने से मनन करने वाली बुद्धि के ही द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो पा लेता है वह अंदर हो जाया करता है। जो इसको पाने की इच्छा करता है वह तीव्रतम तत्तपश्चर्या करे। पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। इस लोक में होने वाले और परलोक में होने वाले सभी प्रकार के भोगों का त्याग करे तभी आगे बढ़ सकता है। जो लोग किसी विशेष प्रारब्ध के बल से गुरुदेव की अनुकम्पा को पाकर के इस ध्यान निधि को पा लेता है वह अपनी इस कमाई को कायम रखने के लिए पूर्णतम का आचरण करे, किसी प्रकार का अहंकार न करे, क्रोध और राग द्वेष आदि को त्याग दे, तभी यह ध्यान की सम्पत्ति मन में कायम रहेगी और और उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती रहेगी। ज्यों-ज्यों योगी ध्यान योग का अभ्यास करेगा त्यों-त्यों उसके स्वभाव से ही संकल्प सत्य होने लगेंगे, इस प्रकार से वह अपने संकल्पों में सत्य को अनुभव करेगा। ऐसे ध्यान योगी के विषय में योगाचार्यों ने कहा है:-

यम् यम् चिन्तयन्ते कामं
तम् तम् प्राप्नोति निश्चितम्।

अर्थात् जिन-जिन कामनाओं की वह चिन्ता करता है वह उसको कुदरती ही प्राप्त होने लगती है। ध्यान योग को भी भगवान पतंजलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि कहा है। सम्प्रज्ञात शब्द का अर्थ है जिसमें कुछ भी अनुभव होते रहें। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी, अतल, वितल, तलातल, रसातल, पाताल और भूध्यश्व मह: जन., तप: सत्यम् आदि ऊपर के लोक इनका पूर्णरूपेण साक्षात्कार कर लेता है। ज्यों ज्यों अष्टांग योग के अभ्यास से साधक की ध्यान योग की स्थिति निर्मल होती चली जाती है, त्यों-त्यों उसका विवेक ज्ञान निर्मल होता रहता है। योग-दर्शन में भगवान् पतंजलि देव ने अपने मुखारविन्द से यही भाव स्पष्ट रूप से कहे भी हैं।

योगाङ्गानुष्ठानाद शुद्धिक्षये
ज्ञान-दीप्तिरा विवेक ख्याते:।

अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से जब तक पूर्ण विवेक ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक उत्तरोत्तर ज्ञान-दीप्ति होती रहती है। जैसे ही योगी का सत्य इतना निर्मल हो जाता है कि वह रज व तम को बिल्कुल दबा-सा देता है तो उसको स्वत: ही सत्य संकल्पता प्राप्त हो जाती है। वह जो-जो संकल्प करता है वह सभी अनायास ही सफल होने लगते हैं। यहाँ पहुँच करके ही मनुष्य को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। योग-दर्शन में बतलाया गया है कि :-

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

इस सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान् व्यासदेवजी लिखते हैं:-

तस्मिन समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति, अन्वर्था च सा सत्वमेव विभर्त्ति, न तत्रं विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति तथा चोक्तम।

अर्थात् इस सम्प्रज्ञात समाधि में चित के समाहित होने पर स्वत: ही ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट हो जाती है और 'ऋृत: सत्य मेव विभर्ति'' वह ऋृत अर्थात् सत्य को ही धारण करती है। यहाँ पर मिथ्या ज्ञान लवलेश मात्र भी नहीं रहता। वह ऋृतम्भरा प्रज्ञा श्रुतानुमान संस्कारों से और ही प्रकार की होती है क्योंकि वह विशेषार्थ को धारण करती है। इस प्रज्ञा के पैदा हो जाने पर योगी सत्य संकल्प हो जाता है। अर्थात् अभ्यास करने पर और श्री गुरुदेव की अनुकम्पा को प्राप्त करके ज्यों-ज्यों योगी का मन ध्यान योग के अभ्यास में अविच्छन्न गति से बराबर चलने लगता है, त्यों-त्यों ही उसके मन को समाधि के धर्म प्रगट होने लगते हैं।

समाधि

ध्यान और समाधि में अन्तर केवल मात्र इतना ही है कि ध्यान में योगी त्रिक ज्ञान की स्थिति के अनुसार अपने आपको ध्येय से अलग देखता है और ध्येय को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। किन्तु इसका प्रयत्न व्यर्थ नहीं होता। मनुष्य को घबराना नहीं चाहिये पहिले नियम को सामने रखना चाहिये।

स तु दीर्घ कालनैरन्तर्य
सत्कारासेवितो दृढ़ भूमि:।

अर्थात् लम्बे समय तक लगातार और आदरपूर्वक किया हुआ ही अभ्यास फल का दाता होता है। इसलिए योगी धैर्यपूर्वक ज्यों-ज्यों अपने ध्यानाभ्यास को बढ़ाता है, तभी वह समाधि का अधिकारी बनता है और उसका मन त्रिक ज्ञान को छोड़कर ध्येयाकार में परिवर्तित होने लगता है। ध्यानावस्था में साधक ध्याता था और अपने इष्टदेव का ध्यान करता था उस अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय, ये तीनों वस्तुयें अलग-अलग भासित हो रही थीं किन्तु समाधि प्राप्त होने पर भगवान् पतंजलिदेव बतलाते है कि-

तदेवार्थमात्र निर्भासं
स्वरूप शून्यमिव समाधि:।

अर्थात् जिसमें अर्थमात्र ही निर्भासित होता रहे और अपना स्वरूप भी प्राय: समाप्त हो जाये। साधक की अपनी वृत्ति तदाकार वृत्ति होकर ध्येयाकार में पूर्णरूपेण परिपक्व हो जाए, उसी स्थिति का नाम समाधि है। उपनिषद् हमें बतलाते हैं:-

समाधि: समतावस्था जीवात्मपरमात्मन:।

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को समाधि कहते हैं जिसमें मैं ईश्वर से भिन्न हूँ ऐसी वृत्ति समाप्त होकर, मैं स्वयं वहीं हूँ ऐसी वृत्ति ही कायम रहने लगे और योगी अपने आपको प्राणीमात्र के अन्त:करण के अन्दर देखने लगे तो समझ लेना चाहिये कि उसकी योग्यता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुखारबिन्द से श्रीमद्भागवत में गीता के अध्याय 6 में स्वयं कहा है:-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:।।
गीता 6:29

अर्थात् प्राणीमात्र में अपने आपको और प्राणीमात्र को अपने अन्दर केवल मात्र उक्तयोगी ही देखता है। अन्य नहीं। यह स्थिति योगी को समाधि में ही उपलब्ध हो पाती है। जिस योगी का मन समाधिवान् बन जाता है और उसकी समाधि यथार्थ रूप को धारणा कर लेती है तो स्वत: ही संयम होने लगता है। संयम की परिभाषा भगवान् पतंजलिदेव इस प्रकार लिखते हैं :-

संयम

त्रयमेकव संयम:।

इस सूत्र पर भगवान् व्यासदेवजी भाष्य लिखते हैं:-

एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदम्यत्र यस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति।

अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक विषयक होती रहे, तो ही मनुष्य संयम को प्राप्त होता है। कहने का अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि साधक जिस समय धारणा का अभ्यास करे, वह धारण केवल एक ध्येय का ही अवलम्ब करने वाली हो किसी भी प्रकार से प्रत्यान्तर

प्रगट न हो। धारणा काल में जिस ध्येय का चिन्तन किया जाये उस चिन्तन स्थिति में कोई दूसरा ध्येय कल्पना से भी सामने न आये और इसी प्रकार से ध्यान काल में वृत्ति एकाग्र होने पर किसी भी प्रकार से चित्त किसी दूसरे ज्ञान को बिल्कुल छुए तक नहीं और वही धारणा-काल में चिन्तन किया हुआ, ध्येय उसके सामने प्रकट हो जाये तो समझ लेना चाहिये कि उसने ध्यान की भूमिका पर विजय प्राप्त कर ली है किन्तु इतना हो जाने के बाद योगी को आलस्य व प्रमाद नहीं करना चाहिये जिससे कि वह अपने मन में समझ बैठे कि मैंने पूर्णता को पा लिया है आगे कुछ भी प्राप्तव्यावशेष नहीं है। ऐसी भावना बन जाने पर योगी को अन्तराय घेर लेंगे और वह समाधि तक नहीं पहुँच पायेगा। जब इस प्रकार के आलस्य व प्रमाद से बचकर योगी अपने ध्येय का ही अवलम्ब लेकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करेगा तो उसके ध्यान का नाम भी कोई दूसरा ज्ञानास्पर्श नहीं करेगा और शनैः-शनैः उसका मन समाधि रूप में परिवर्तित हो जायेगा। समाधि हो जाने पर भी योगी की वृत्ति किसी और विषय में तदाकार न हो तब वह समाधि पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर लेगा और उसको संयम सिद्ध हो जायेगा। संयम सिद्ध हो जाने के बाद उस संयमित मन को योगी जहाँ-जहाँ लगायेगा वहाँ-वहाँ की शक्तियों को अवश्य प्राप्त कर लेगा। इसी सिद्धांत को लेकर समाधि पर विजय प्राप्त करने वाला योगी सिद्धि-शक्तियों का भण्डार बन जाता है वह जिस प्रकार की जिस ताकत को प्राप्त करना चाहता है उसको वह ताकत बराबर उपलब्ध होती चली जाती है और ज्यों-ज्यों वह योगी संयम पर विजय प्राप्त करता है त्यों-त्यों उसके सामने समाधि प्रज्ञा स्पष्ट रूप से प्रगट होती चली जाती है। भगवान् पतंजलि देव कहते हैं:-

तज्जयात प्रज्ञाऽऽलोकः।

अर्थात् संयम सिद्ध हो जाने पर योगी को प्रज्ञा लोक हो जाता है। श्री व्यासदेव भाष्य में लिखते हैं:-

तस्य संयमस्य जयात्समाधि प्रज्ञाया भवत्या लोकः यथा यथा संयमः स्थिर-पदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।

अर्थात् जैसे-जैसे संयम स्थिर पद को प्राप्त होता है वैसे-वैसे ही समाधि प्रज्ञा निर्मल होती चली जाती है। इस प्रकार योगी संयम सिद्ध हो जाता है और संयम सिद्ध हो जाने पर-

तस्य भूमिषु विनियोगः।

अर्थात् संयम सिद्ध हो जाने के बाद उस संयम की भूमिकाओं में विनियोग किया जा सकता है। जैसा कि हमने पहिले बता दिया है, संयमी मन को जहाँ लगायेंगे वह वहाँ के अर्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेगा। योगी को चाहिये पहले-पहले संयम का विनियोग साधारण भूमियों में ही करे, जैसे परिधि संज्ञा रूपदर्शन, गन्ध साक्षात्कार, रसावलोकन आदि के हर स्वरूप को जानने के लिये तालु में संयम करे, दिव्य शब्द सुनने के लिए जिह्वा मूल में संयम करे और रसास्वादन के लिये जिह्वा के अग्रभाग में संयम करे। दिव्य घ्राण ग्रहण करने के लिये नासिकाग्र भाग में संयम करे। यह योगी के संयमित मन के पहले विषय है। जिनमें संयम करने वह मोटे-मोटे ज्ञान प्राप्त कर लेगा। कदाचित् कोई योगी यकायक आत्म साक्षात्कार के लिये संयम करता है तो वह विफल हो सकता है जिस प्रकार से पहली, दूसरी श्रेणियों में अध्ययन करने वाला व्यक्ति एम.ए. के कोर्स को नहीं पढ़ सकता। पढ़ने वाला और पढ़ाने वाला दोनों का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार छोटी भूमिकाओं की संयम के बिना जो योगी ऊँची भूमिकाओं में संयम करने का प्रयत्न करता है, उसके सामने इतनी निराशा हो जाती है कि वह कभी फिर संयम की ओर चलने का प्रयत्न भी नहीं करता। हाँ एक बात अवश्य है उसको भगवान् व्यास देव ने भाष्य में प्रकट कर दिया है:-

ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधर भूमिषु पर चित्तज्ञानादिषु संयमा युक्तः कस्मात् तदर्थस्यान्यत एवावगेतत्वाद।

अर्थात् जिसने ईश्वर निग्रह से आगे की भूमिकाओं को जीत लिया है उसको फिर निम्न श्रेणियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं। कई इस प्रकार के बुद्धिमान छात्र होते हैं जो स्कूलों में बाकायदा कोर्स को न भी करते हैं हाई स्कूल, इंटर, बी.ए. आदि की परीक्षाएँ सीधे दे डालते हैं, इस प्रकार के छात्रों को अपने पुरुषार्थ से नीचे की परीक्षाएँ देने की आवश्यकता नहीं रहती इसी प्रकार जो लोग ईश्वर की परम कृपा से जीवित भूमि हो जाते हैं उनको फिर नीची श्रेणियों के

संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। उनका मन संयमित हो चुका है उसको वह जहाँ लगायेगा वहाँ का फल-भागी हो ही जायेगा। इसलिये भगवान् पतंजलि देव ने संयमित मन वाले योगी के लिये बहुत से विषय लिखे हैं जिनमें साधारण अभ्यास के बाद योगी संयम कर सकता है और वहाँ-वहाँ के ज्ञान को प्राप्त करके एक विशेष शक्ति को अपने अन्दर संग्रहीत कर लेता है थोड़ी देर के लिए योगी परिचित ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है। भगवान् पतंजलि देव बतलाते हैं:-

प्रत्ययस्य परिचित्तज्ञानम्।

अर्थात् दूसरे के चित्त में संयम करने से योगी को उसका ज्ञान हो जाता है किन्तु वह चित्त किस रङ्ग में रंगा हुआ है यह ज्ञान योगी को तभी होगा जब वह यह जानने की इच्छा करेगा कि दूसरे का चित्त किस विषय का अवलम्ब कर रहा है। पहले पहल परिचित्त साक्षात्कार के लिये उस व्यक्ति के हाव-भाव को देखकर उसके चित्त को जानने की इच्छा करता है और संयम करता है। संयम के अतिरिक्त सर्वसाधारण व्यक्ति भी इंगितों से चित के स्वरूप को कुछ-कुछ अनुमान कर लिया करते हैं। नीति शास्त्र का वचन हैं:-

आकारै रेगिन्तै गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र वक्र विकारैश्च ज्ञायते अन्तर्गतम् मनः।।

अर्थात् आकृति को देखकर, इशारों को देखकर, चलने की गति को देखकर, शरीर की हरकतों को देखकर, आँख और मुख के विकारों को देखकर भीतर का मन जाना जाता है। एक मनुष्य ने देखा कोई व्यक्ति बड़ी ही प्रसन्न मुद्रा में आ रहा है उसको देखकर सर्वसाधारण मनुष्य अवश्य कह ही देगा क्यों जी आज तो आप बड़े खुश मालूम पड़ते हैं? क्या मिल गया हमें भी तो बता दीजिये और उसका वह अनुमान गलत नहीं होता, कदाचित् वह व्यक्ति नहीं बतलाये तो योगी उसके प्रसन्न मुद्रावाले चित्त को ही अपने संयम का विषय बनायेगा और संयम करने पर वह यह अवश्य जान ही लेगा कि हाँ अवश्य यह प्रसन्न है ही। किन्तु यह प्रसन्न क्यों है किस कारण से है यह जानने का विषय योगी ने अपने संयम को नहीं बनाया है। अभी तक तो योगी ने अपने संयम का विषय केवल इतना ही बनाया था कि वह व्यक्ति जो आकाश-इंगित और गति आदि से प्रसन्न काल में मालूम पड़ता है वह वस्तु तो प्रसन्न है ही या नहीं उतना ही उसने जान लिया, वह व्यक्ति प्रसन्न अवश्य है। अब वह क्यों प्रसन्न है और कैसे प्रसन्न है इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये योगी को दूसरे के चित्त के विषय के अन्दर संयम करना पड़ेगा। तब वह यह जान पायेगा कि इसके प्रसन्न होने के ये कारण हैं। यहाँ पर चित ज्ञानादि योगी के संयम के मोटे विषय हैं। उसके बाद वह जहाँ-जहाँ संयम करेगा, उस विषय को अवश्य-अवश्य जान लेगा। यही एक उपाय है जिसको प्राप्त करके मनुष्य ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा हो जाता है। वह प्रकृति के जिन-जिन विश्लेषणों को समझना चाहता है समझ लेता है। वह तत्त्वों के परिणाम को जान लेता है। उसके अन्दर इस संयम के आधार पर यह ताकत आ जाती है कि यदि वह चाहे अपने शरीर को बालरूप बनाये रखे, यदि वह चाहे युवा बनाकर रहे, यदि वह चाहे तो अपने आपको अति वृद्ध दिखलाये। आकाश गमन, परकाय प्रवेश, लोकोत्तर ज्ञान- यह सभी संयम सिद्ध योगी के लिये साधारण योग विद्या को 'यस्मिन् ज्ञाते सवमिदं ज्ञातं भवतिः।'' ऐसा कहा है अर्थात् जिसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। वह हमारी योग विद्या है। इस लेख में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि योगी अपने अन्दर शक्ति संचारित इस उपाय से कर सकता है। योगी के पास संयम ही एक इस प्रकार की निधि है कि जिसको पाकर वे लोग आकाश व पाताल को जानते हैं वे भूत-भविष्य के ज्ञाता हैं और कर्तुमकर्त्तू के ताकत वाले हैं। सर्व-साधारण को चाहिये कि योग के पवित्र मार्ग को ग्रहण करते हुए वह अपने आपको सशक्त बनायें' एवं जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहें। यदि वह अपने आपको इस पवित्र उन्नति के मार्ग पर बढ़ाने का प्रयत्न करेगा तो सर्वशक्तिवान् महा प्रभुजी की शक्ति उसकी अवश्य सहायक होगी और वह अपने चरम लक्ष्य को पायेगा।

योगेश्वर चरित्र माला

श्री मंगामल

(श्री सद्‌गुरुदेव जी)

लगभग सन् 1928 की बात है, आनन्द कन्द योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज अमृतसर में भाई के कटरे में निवास कर रहे थे। श्री गुरुदेव जी को हिमालय से लौटे कुछ ही समय हुआ था। शहर के लोगों को यह ज्ञान था कि ये साधारण भेष में छुपे हुए कोई महापुरुष हैं, इसलिये स्त्री-पुरुषों का तांता लगा रहता था, सत्संग प्राय: चौबीसों घन्टे चलता रहता था। सभी स्त्री-पुरुष श्रेणीबद्ध होकर के अपने ध्यानाभ्यास वृद्धि के लिये आसन जमा-जमा कर बैठते थे। जो उस प्रवाह में आकर बैठ जाता था उसी को बड़े-बड़े दिव्य अनुभव हो जाया करते थे और वही व्यक्ति इस अनुपम लाभ को पाकर के मग्न हो जाता था। सत्संग में आने वालों की भीड़ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। गली के मुख्य द्वार पर उसी गली के निवासी जिनका शुभ नाम मंगामल था, जो सोडा वाटर आदि की दुकान करते थे। स्त्री-पुरुषों की भारी भीड़ को आते-जाते देखकर उसके मन में भी यह ख्याल पैदा हुआ कि हम भी जाकर देखें कि इनमें क्या रहस्य है। ये स्त्री-पुरुष इतनी भीड़-भाड़ के साथ इनके पास क्यों जा रहे हैं। श्री मंगामल उस समय युवावस्था में थे उनका जन्म एक पवित्र क्षत्रिय कुल में हुआ था। किन्तु उनके आस-पास इष्ट मित्रों का इस प्रकार का संग प्राप्त हुआ कि जिसके फलस्वरूप वह किसी अवगुण से खाली नहीं रह सकें। युवावस्था की तरंगे थीं। मन पर कुसंग का प्रभाव था इसलिये उन्हीं लहरों के अन्दर वे बहुत अधिक भोग-विलास की सामग्री इकट्‌ठी किया करते थे। इसी प्रकार के वातावरण से निकलते हुए किसी युवती का प्रभाव उनके मन पर पड़ा जो लाहौर में निवास करती थी और चरित्रहीन थी। श्री मंगामल के मन में उससे शादी कर लेने की धुन सवार हुई और इस प्रकार का प्रयत्न करते रहे कि जिसके द्वारा वे सफल-मनोरथ हो सकें, किन्तु प्रयत्न करने पर भी वह किसी भी प्रकार से सफलता नहीं पा सके। उस युवती के सौन्दर्य से भारी डाह श्री मंगामल के मन में उत्पन्न हो गया और उन्होंने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय किया ''**देहं वा पातेयं कार्य वा साधेयं**'' अर्थात् मैं अपने शरीर का नाश कर दूंगा अथवा जिस तरह भी हो सकेगा अपने इस काम को सिद्ध कर लूँगा। किन्तु जब वह किसी भी प्रकार से सफल प्रयास न हो सके तो उनका मन श्री गुरुदेव जी के चरणारविंदो की ओर आकर्षित हुआ। श्री मंगामल सोचने लगा कि ये योगिराज जी बड़े भारी शक्तिशाली हैं जिसके फलस्वरूप इतने लोगों की भीड़-भाड़ हर समय इनके पास लगी रहती है। अवश्य यह कोई आकर्षण मंत्र जानते हैं क्यों नहीं मैं कुछ दिन इनके सत्संग में जाकर उस मंत्र को सीख लूं जिसमें मैं मनोभिलाषित फल को पा सकूं, हुआ भी ऐसा ही। श्री मंगामल मेरे गुरुदेव के चरणारविन्द में नित्य नियम से जाने लगे, उनके मन में भारी लगन थी कि उपरोक्त लाहौर वाली युवती से उनका सम्बन्ध कायम हो जाय। किन्तु एक महीना लगातार आने पर उसको इस प्रकार की प्रार्थना करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ कि वह श्री प्रभु जी के चरणारबिन्दु में अपने मन के भाव कह सके। बार-बार श्री गुरुदेव जी उसको सम्बोधन करके पूछते थे कि मंगामल तुम कैसे आते हो, भरे समाज में मंगामल अपनी इच्छा को प्रकट नहीं कर सकते थे इसलिये वह बनावटी शब्दों में कह दिया करते थे कि महाराज जी मेरा कोई खास प्रयोजन नहीं है जिस प्रकार और व्यक्ति आते-जाते हैं मैं भी चला आता हूँ। मंगामल की भीतरी भावना को मेरे श्री गुरुदेव जी भली प्रकार समझते थे, उनकी बात को सुनकर के वह मुस्करा जाते थे और कह देते अच्छा कोई बात नहीं। अच्छा ही है तुम भी सत्संग में आ जाया करो। बड़े आश्चर्य की बात थी कि श्री मंगामल लगातार एक महीना इसी प्रकार बराबर सत्संग में आते रहे किन्तु उनको कोई इस प्रकार का मौका नहीं मिला

कि वह अपने मनोभावों को प्रगट कर सकें। श्री मंगामल चाहते थे कि उनको कोई एकान्त का समय मिल जाय किन्तु भारी प्रयत्न करने पर भी वह श्री गुरुदेव को अकेला न पा सके और न ही अपने मनोभावों को कह सके। अन्त में निराश हो गये और यह चाहा कि यहाँ आना तो व्यर्थ ही है न एकान्तिक अवसर मिलेगा और नहीं मैं अपने मुख से कोई वाणी कह सकूंगा। जिस समय मंगामल के मन में इस प्रकार के भाव दृढ़ता से अधिकार करने लगे तो श्री गुरुदेव जी ने पूर्ण कृपा करके उसको एकान्तिक अवसर दे दिया, जिससे मंगामल के मन में अतिशय हर्ष बढ़ा और उसने अपने मनोभाव योग-योगेश्वर श्री गुरुदेव जी से कहने आरम्भ किये। मनुष्य का मन जिस प्रकार के रंग में रंगा हुआ करता है वह उसी प्रवाह में दूसरों को देखा करता है। मंगामल के विचार थे कि श्री गुरुदेव जी कोई जादू जानते हैं जिसके फलस्वरूप वह जिसको चाहें अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। इन्हीं भावों को मन में दबाये हुए मंगामल ने अपने विचार श्री गुरुदेव जी के चरणारबिन्दु में प्रगट किये और कहा महाराज जी जो आप जादू करके नित्य सबको खींचते हैं वह क्या चीज है। आप यह जादू या मंत्र कृपा करके मुझे बतला दीजिये। कुछ ही दिन के अन्दर मैं आपको एक ऐसा रुपराशि दिखलाऊँगा कि आप स्वयं चकित हो जायेगें, और कहेंगे वाह मंगामल जो कुछ तू कहता था वह ठीक ही है। मंगामल को इस बात का क्या पता था कि उन योग योगेश्वर सर्व समर्थ श्री गुरुदेव को त्रिभुवन का ऐश्वर्य भी आश्चर्य में नहीं डाल सकता। जो सारे अण्ड ब्रह्माण्ड को अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा बराबर देख चुके हैं किन्तु मंगामल ने अपने मनोभावों को अपने मन के अनुसार कहा। उसके उन भावों के अनुसार श्री महराज जी हँस पड़े और कहा कि अच्छा यदि ऐसी बात है तो थोड़ी देर यहाँ बैठा रह हम एक ऐसा उपाय करते हैं जिससे तेरा काम बन जायेगा किन्तु उस काम को उसी प्रकार करना जैसे हम बतायें। यह कहकर श्री गुरुदेव जी ने एक सफेद कागज मंगवाया और उस पर लिख दिया कि तू फलाने दिन इतने बजकर इतने मिनट पर उस गाड़ी में लाहौर जायेगा और लाहौर पहुंचकर प्रयत्न करके उस युवती को अपने अधिकार में ले आयेगा और वह तुम्हारे साथ चली आयेगी। किन्तु कुछ समय के सम्पर्क के बाद वह तुम्हारा इतना जेवर इतना रुपया व चाँदी सोना लेकर भाग जायेगी और उसके जाने के बाद तुम्हारे मन में भारी कलेश पैदा होगा और फिर तुम उसको पुन: अपने पास लाने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न में लग जाओगे। उसी मौके पर उस युवती का एक पत्र लाहौर से आयेगा। उसमें लिखा होगा कि इतना रुपया लेकर आप लाहौर चले आयें उस रुपये की मुझे आवश्यकता है और उसके बाद सारे संसार को छोड़कर के मैं आपकी ही हो जाऊँगी किन्तु यह बात उसकी कपट पूर्ण होगी। यदि तुम यह रुपया लेकर उसके पास पहुँच गये तो एक बार प्रेम भाव दिखाकर तुम से रुपया ले लेगी और उस एक ही रात्रि के अन्दर तुम्हारा प्राणान्त कर देगी। किसी को पता भी नहीं चलेगा कि तुम वहाँ गये भी थे या नहीं, यही होनी है और उस युवती के साथ तुम्हारा संस्कार है किन्तु एक माह लगातार तुम यहाँ आते रहे हो उसके फलस्वरूप जिस समय उस स्त्री के मँगाये हुए रुपये लेकर तुम दुबारा लाहौर जाने को तैयार होंगे उस समय वह सर्व शक्तिवान प्रभो तुम्हारी रक्षा करेंगे और तुम्हें इस जाल से अवश्य निकाल लेंगे। यह सब बातें उस पत्र में लिख दीं और वह पत्र लिफाफे में बन्द करके मंगामल को दे दिया और कह दिया इस लिफाफे को अपने सन्दूक में छिपाकर रख लो, इसको पढ़ना नहीं। जब हम तुम्हें खोलकर पढ़ने की आज्ञा दें तभी तुम पढ़ना, यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो इसका परिणाम खराब होगा और किसी भी प्रकार की सफलता तुम्हें नहीं मिलेगी। मंगामल ने श्री महाराज जी के कर-कमलो से वह पत्र अपने सन्दूक में रख दिया और उसके बाद मंगामल पूर्ववत अपने कार्य-कलाप में लग गये। शनै: शनै: समय आया। मंगामल लाहौर पहुंच गयें और उस युवती को ले आये और पत्र के लेखानुसार ही सब कार्य उनके हो गये। उस स्त्री को लाकर सभी कुछ भूल गये और उसी के रंग में रंगे रहने लग गये। उसी प्रकार से दिन व्यतीत हो जाने के बाद उपरोक्त युवती मंगामल के बहुत से रुपये को एवं सोने चांदी के जेवरों को लेकर भाग गई और कुछ ही समय के बाद उसने पत्र लिख दिया कि तुम इतना इतना रुपया लेकर मेरे पास आ जाओ, उसके बाद मेरा लोगों से सदा के लिये सम्पर्क टूट जायेगा और मेरी भाग-दौड़ सब कुछ छूट जायेगी। मेरा यह शेष जीवन आपके साथ ही व्यतीत होगा।

मंगामल उस पत्र को पढ़कर पुन: लाहौर जाने को तैयार हुए। अपनी दुकान से लगभग 300) रु. लेकर पुन: लाहौर जाने को तैयार हुए वह अपनी दुकान पर खड़े थे। इतनी ही देर में योग-योगेश्वर श्री महाराज जी कहीं से घूमते हुए आये और अपने आप ही उस मंगामल से बोले कि मंगामल वह जो पत्र हमने तुम्हें लिखकर दिया था इस समय उस को अब खोलकर पढ़लो। अब तुम्हारा काम उसके पढ़ने से बनेगा। यदि तुम इस पत्र को नहीं पढ़ोगे तो अवश्य बड़ा भारी धोखा खा जाओगे एवं अपने मनुष्य जीवन को व्यर्थ ही खो बैठोगे। मंगामल ने श्री महाराज जी की वाणी सुनकर उस पत्र को निकाला और ज्योंही खोलकर पढ़ा तो उसमें वह घटना लिखी थी, जो अभी तक के जीवन में व्यतीत हो चुकी थी। इस पत्र को पढ़कर मंगामल को अपने मन में बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उसने यह विचार किया कि इस पत्र में लिखी घटना ज्यों की त्यों घटित हो गई है। अत: उस स्त्री के हाथों मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है किन्तु तत्काल ही मोह ने रंग जमाया और मंगामल पुन: उस युवती के प्रेम विभोर हों गये एवं श्री महाराज जी से हाथ जोड़कर कहने लगे कि महाराज आपने जो कुछ लिखा है वह तो बिल्कुल सही है किन्तु उसके हाथों मारा जाऊँ यह भी मेरे पुण्य का ही फल है। इसलिये मैं लाहौर अवश्य जाऊँगा और एक कृपाण अपने साथ ले जाऊँगा जितना रुपया उसने मंगाया है वह सब रुपया उसको देखकर बाद में तेज धार की कृपाण उसके हाथ में दे दूंगा और नि:संकोच कह दूंगा कि तुम्हें रुपये की आवश्यकता थी वह रुपया मैंने हाजिर कर दिया है और उसके साथ साथ यह कृपाण हाजिर है, और मेरी गर्दन हाजिर है। अत: तुम मुझे नि:संकोच कत्ल कर दो, मुझे तुम्हारे दर्शन की ही अभिलाषा थी वह मेरी पूर्ण हुई। अब मेरी अन्तिम अभिलाषा है कि तुम्हारे हाथ से मरकर मेरे प्राण छूट जाएँ जिससे मैं तुम्हारे हाथों मरकर सुखमय लोक को चला जाऊँ। श्री महाराज जी ने उसके इस प्रकार के विचारों को सुनकर उसको आज्ञा दे दी और कह दिया अच्छा जाओ तुम स्वयं ही मरना चाहते हो तो हम क्या कर सकते हैं किन्तु मंगामल के उज्ज्वल प्रारब्ध आ चुके थे उन कृपा सागर की कृपा प्राप्त करनी थी। **''साधु वचन पलटे नहीं पलट जाए ब्रह्माण्ड''** की युक्ति के अनुसार श्री महाराज जी को अपने पूर्व कहे हुए वचन को निभाना था, इसलिये मंगामल अमृतसर स्टेशन गये और शनै: शनै: उसका मन बदलने लगा उसने स्टेशन पर जाते-जाते विचार किया क्या फायदा होगा वह यह सब धन भी ले लेगी और मेरा कत्ल भी कर मैं देगी क्यों मरूँ? जिन सर्व शक्तिवान ने भूत-भविष्य की बातें सब पहले ही लिखकर दे दी हैं, मैं उन्हीं की शरण जाकर क्यों न रह जाऊँ। जो सब कुछ कर सकते हैं। यदि वे चाहेंगे तो कृपा करके मेरी इस कामना को अवश्य पूर्ण कर देगे इसलिये मैं चलूँ और उन्हीं के चरण पकड़ लूँ। इन्हीं विचारों को लेकर मंगामल लौट आये और स्थान पर आकर योग-योगेश्वर श्री गुरुदेव जी के चरण पकड़ लिये और प्रार्थना की कि हे सर्व शक्तिवान! मेरी कामनाओं के आधार आप ही हैं कृपा करके आप मेरी सहायता कीजिये। मंगामल के इस प्रकार की अभ्यर्थना करने के बाद श्री गुरुदेव जी ने उस पर अनुग्रह किया एवं योग-मार्ग में दीक्षित कर शक्तिपात किया जिससे पहिले ही दिन में उसके तन-मन का सारा ही रंग बदल गया। मंगामल को प्रात: लगभग 9 या 10 बजे ध्यान में बैठाया गया और वह शाम के लगभग 4 बजे तक अनवरत अपने ध्यानाभ्यास में बैठा रहा। ध्यान के आनन्द में उसने अपनी सुध-बुद को बिल्कुल भुला दिया। वह इतना मग्न होकर के बैठ गया कि सुध दिलाने पर भी उसको सुध नहीं आती थी। अन्त में शाम के लगभग 5 बजे उसको गुरुदेव जी ने स्वयं उठाया। उनके उठाने पर भी उसने बार-बार उठने से इन्कार कर दिया और प्रार्थना की कि महाराज जी आप कृपा करके मुझे इसी प्रकार बैठा रहने दें। जिससे मेरे शरीर के अन्दर निवास करने वाले सभी देवी-देवता यथा स्थान ज्यों के त्यों बैठे रहें और मैं उनको देखता रहूँ। श्री गुरुदेव व अन्य सत्संगी जो उसके पास थे उसकी स्थिति को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। मंगामल दिन प्रतिदिन अपने ध्यानाभ्यास को बढ़ाने लगे और उनका जीवन एक उच्च सन्त के रूप में परिवर्तित होने लगा। कुछ ही समय के बाद मंगामल एक सच्चे सन्त के रूप में बदल गये, उनके मन की वासनाएँ सब नष्ट हो गईं उन्होंने अपने पहले जीवन को नरक की कीच समझा और अपने इस जीवन को कल्याण-श्रोत अमर निर्मल धारा जाना। इस उच्चतम ध्यान-योग के अभ्यास को पाकर श्री मंगामल एक दम विरक्त स्थिति के अन्दर आ गये। जिस युवती में उनका अनुराग फँसा हुआ था अब वह उनको विषवत् दिखाई देने लगी एवं श्री मंगामल सब प्रकार से कृतार्थ हो गये।

संयम एवं गुरुदेव

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

इससे पिछले लेख में हमने शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधनों का वर्णन करते हुये संयम तत्त्व को समझाने का प्रयत्न किया है और यह बतलाया गया था कि संयम के आधार पर मनुष्य सब प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर सकता है। योग-दर्शन का विभूतिपाद बतलाता है कि मनुष्य देहाकाश के सम्बन्ध में संयम करे तो उनका शरीर रुई के माफिक हल्का हो जाता है और उसको आकाश गमन करने की योग्यता प्राप्त होती है। यदि योगी श्रोत्र अर्थात् कर्ण संकुलि और आकाश के सम्बन्ध में संयम करता है तो उसको दिव्य श्रोत्र प्राप्त हो जाते हैं और वह एक स्थान पर बैठा हुआ ही लोक परलोक की वाणियाँ सुनने लगता है एवं दिव्य ज्ञान को अनुभव करता है। हमने अपने पिछले लेखों में कई स्थानों पर यह संकेत किया है कि हमारी योग-विद्या सर्व फलों की दात्री है और उसकी प्राप्ति के दो महत्वपूर्ण साधन हैं जिन्हें हम पिछले अङ्कों के लेखों में प्रकाशित कर चुके हैं।

1. मनुष्य का अपना अभ्यास और वैराग्य। इसके अतिरिक्त एक और महान् साधन है जिसको हमने ''सिद्धयोग'' के अङ्क में वर्णित किया है। हर एक साधना की पूर्णता साधन योग एवं सिद्धयोग दोनों ही प्रकार से प्राप्त की जा सकती हैं किन्तु साधक का अभ्यासी होना, अनवरत और श्रद्धापूर्वक अपने नियमों का पालन करना बहुत ही आवश्यक है यही बात संयम के विषय में भी है।

त्रैयमेकव संयम:।

इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि संयम के परिणाम में समाधि प्रज्ञा का आलोक होता है अर्थात् समाधि प्रज्ञा पूर्णरूपेण निर्मल हो जाया करती है। इस प्रकार की स्थिति आ जाने पर संयम की साधना करने वाले योगी को संयम का योग भूमिकाओं में उपयोग करना आना चाहिये। योग-दर्शन के विभूतिपाद में भगवान् पतंजलिदेव ने स्वयं आज्ञा दी है कि :-

तस्य भूमिषु विनियोग:

संयम के बल से समाधि प्रज्ञा के निर्मल हो जाने पर उस संयम का भिन्न-भिन्न भूमियों में विनियोग करना चाहिये जिससे संयम की ताकत उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाए और परिणाम योगी के सामने आता रहे। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान् व्यासदेव लिखते हैं:-

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोग: न ह्यजिताधर भूमिरनन्तरभूमि विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयम लभते तद्भावाध्च कुतस्तस्य प्रज्ञाऽऽलोक:, ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधर भृमिषु पर चित्तज्ञानादिषु संयमा युक्त:, कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वाद भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्याय: कथम्? एवमुक्तं-

अर्थात् संयम के बल से जिस भूमिका को जीत लिया हो यह उससे आगे की भूमिका में है। जिस प्रकार पहली कक्षा के विद्यार्थी को दूसरी श्रेणी का ही कोर्स पढ़ना चाहिये, उसी तरह अपने लक्ष्य को पूर्ण किये बिना आगे कदम बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार मन्दगति वाला विद्यार्थी बीच की श्रेणियों को छोड़कर प्राइवेट तौर पर परीक्षा की तैयारी करके ऊँची कक्षाओं को उत्तीर्ण करने का प्रयत्न करता है और उनमें वह बार-बार असफल हुआ करता है, इसी प्रकार निम्न श्रेणियों की भूमिकाओं में यदि योगी ने संयम के द्वारा स्थिति प्राप्त नहीं की तो उत्तर भूमिकाओं में संयम करना उपयुक्त नहीं, यदि वह ऐसा करेगा तो उसका संयम स्थिर पद की भूमिकाओं को छोड़कर उत्तर भूमिकाओं में संयम की चाह करता रहेगा और उसकी अध:भूमियाँ दुर्बल रह जायेंगी तो परिणाम कुछ भी नहीं रहेगा ''**बालष्चद्रमसं यथा**'' की कहावत चरितार्थ हो जायेगी, जिस प्रकार बच्चा

चन्द्रमा की ओर हाथ फैलाकर चन्द्रमा को नहीं पकड़ सकता, इसी प्रकार जिस योगी ने ऊष: भूमियों में संयम को प्राप्त नहीं किया वह उत्तर भूमियों में भी स्थिति लाभ नहीं कर सकता। इसीलिये साधक को क्रमश: अपने अभ्युत्थान का प्रयत्न करना चाहिये जैसा कि भगवान् पतंजलिदेव ने पीछे निर्देश किया है:

स तु दीर्घ काले नैरन्तर्यं
सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमि:।।

अर्थात् अभ्यास परिपक्व तभी हो पाता है जब लम्बे समय तक, लगातार और भाव पूर्वक किया जाय। इसके अतिरिक्त जो जल्दी परिणाम को चाहने वाले हैं वे लोग प्राय: निष्फल ही बने रहते हैं, यहाँ एक बात और विशेष उल्लेखनीय है जिसके कारण हमने यह लेख शुरू किया है ऊपर के भाष्य की पंक्तियों में भगवान् व्यासदेव ने यह शब्द लिखे हैं:-

ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधर भूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमा युक्त: कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वाद भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोषाध्याय:।

अर्थात् जिन योगी ने ईश्वरानुग्रह से उत्तर भूमियों में जय प्राप्त कर ली है उसको अध:भूमियों में संयम करना आवश्यक नहीं है क्योंकि अध: भूमियों में जो सिद्धियाँ प्राप्त होनी थीं वह उत्तर भूमियों के जीत लेने पर स्वाभाविक हो योगी को प्राप्त हो जायेंगी, इसलिये अभ्यासी योगी के लिये अब यहाँ संयम करना है उसके बाद कहाँ संयम करना है इसका ज्ञान प्राप्त कराने के लिये उसका योग ही गुरु बन जाता है। जैसा कि कहा है-

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्।।

अर्थात् योग से योग को जानना चाहिये, योग से ही योग प्रवृत्त होता है जो प्रमाद छोड़कर योगाभ्यास करता है वह लम्बे समय तक समाधि के आनन्द में लीन हो जाया करता है। इसलिए इस मार्ग में जिस पुण्य कर्म साधक को परम गुरु ईश्वर की सहायता प्राप्त है उसका अनायास ही संयम सिद्ध अवश्य हो जाया करता है।

गुरुदेव का तीन प्रकार का मार्ग-दर्शन

हम 'सिद्धयोग' के तीसरे अङ्क में गुरुदेव का स्वरूप भली प्रकार से खोलकर समझा सके हैं मोटे शब्दों में भगवान् व्यासदेव ने :-

पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।

इस सूत्र का भाष्य लिखते हुए गुरु की परिभाषा में यह वाक्य लिखे हैं:-

यत्रावच्छेदार्थेन कालोनोषावत्तते स गुरु:।

अर्थात् जहाँ पर अवच्छेदनार्थ काल नहीं पहुँचता वही सत्ता गुरुओं की भी गुरु है, इसलिये वह सर्वशक्तिवान् गुरुदेव अपने विनीत शिष्यों के उत्थान के लिये अनेक प्रकार से कृपा करते हैं जिससे उनका कोई शिष्य दुख द्वन्द्व में पड़ा न रह सके एवं परम श्रेयभागी बन सके।

गुरुदेव का प्रथम शक्ति प्रक्षेप

गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए हमारे पूर्वाचार्यों ने बतलाया है:

गुणाति शब्दादीनुपदिशति स गुरु:।

अर्थात् जो आप्त पुरुष शब्दों द्वारा उपदेश करते हैं और उस उपदेश के द्वारा अपने शिष्यों को मार्ग-दर्शन करा करके परम श्रेय की ओर ले जाने के लिये प्रयत्नशील है वह अधिकारी लोगों के लिये उनका प्रथम शिक्षण है। शक्तिवान् गुरुदेव की वाणी पतन रहित हुआ करती है। आप्तोपदेश कभी भी व्यर्थ नहीं होता। योगदर्शन में जहाँ पर आगम प्रमाण का वर्णन किया गया है वहाँ पर उसका व्याख्यान इन शब्दों में किया है:-

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थ: परत्र स्वबोध संक्रान्ते शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थ विषया वृत्ति:

श्रोतुरागम: यस्या श्रद्धेयार्थौं वक्ता न दृष्टानुमितार्थ: स आगम: प्लवते, मूलवक्तारि तु दृष्टानुभितार्थे निर्विप्लव: स्यात्।

अर्थात् आप्त पुरुष के द्वारा देखा व सुना हुआ अर्थ दूसरे के मन में अपना बोध प्राप्त कराने के लिए शब्दोपदेश के द्वारा दिया जाता है। वह सुनने वाले साधक के लिये आगम प्रमाण है। जिन शब्दों का उपदेश करने वाला वक्ता आप्त पुरुष नहीं है उनकी वाणी मिथ्या हो सकती है। किन्तु जिन्होंने यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया है और शुद्ध मन से अपने शिष्यों को ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं, यह गुरुदेव की प्रथम शक्ति है जिसके द्वारा अधिकारी शिष्य तत्काल शिक्षा पाते ही अपने विषय के पारदर्शी बन जाते हैं।

गुरुदेव का द्वितीय शक्ति प्रक्षेप

उसके बाद गुरुदेव का दूसरा उपदेश अस्मितानुगत समाधि में स्थिति प्राप्त करने वाले योगी में चित्त निर्माण करने की योग्यता आ जाती है। योगदर्शन हमें बतलाता है:-

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्राद्।

अर्थात् अस्मिता-मात्र (करण) को लेकर योगी अपने चित्तों का निर्माण किया करता है वह सब चित्त एक प्रधान चित्त के आधीन रहा करते हैं और इस प्रकार के अनेक निर्माणित चित्तों के द्वारा योगी अपने शिष्यों के सामने सूक्ष्मत्त्व प्रगट होकर अनेक प्रकार की विद्या का उपदेश दिया करते हैं उनको हिताहित का ज्ञान कराया करते हैं जैसे प्राचीन समय में भगवान् कपिलदेव ने :-

आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्या-द्भगवान परमर्षिरा सुरये जिज्ञा समानाय तन्त्रं प्रोवाच।

अर्थात् आदि विद्वान भगवान कपिलदेव ने निर्माण चित्त के द्वारा जिज्ञासु आसुरी को तन्त्र का उपदेश किया। इसी प्रकार से योगी गुरू अपने निर्माण चित्तों के द्वारा जिज्ञासु विनयी शिष्यों को हितोपदेश किया करते हैं और उनके अज्ञान-अन्धकार को दूर करते हैं। उनके हिताहित का निर्देश किया करते हैं।

एक उदाहरण

रोहतक के पास पहरावर नाम का एक गौड़ ब्राह्मणों का गाँव है। उस गांव में एक योगिराज धजारामजी के एक शिष्य निवास करते थे, श्री गुरुदेव के अनुग्रह से उनको अन्तर्स्थिति प्राप्त थी। ध्यानानुभव बहुत ही उत्कृष्ट थे। श्री गुरुदेव के अनुग्रह से जब भी वह ध्यान में बैठते थे तभी इष्टदेव के पवित्र दर्शन प्राप्त होते और गुरुदेव का उपदेश प्राप्त होता, अकस्मात् कोई संस्कार उदय हुआ उनके गुरुदेव ने निर्माण चित्त के द्वारा ध्यान में आकर आदेश दिया बेटा दो दिन बाद तुम्हें एक जहरी सर्प काट लेगा और उसके काटने से तुम्हारी मृत्यु उपस्थित हो जायेगी किन्तु तुम विवेकज्ञान की ओर बढ़ रहे हो इसलिये तुम्हारे शरीर पर गुरुदेव का अधिकार है तुम मर नहीं सकोगे। समय पर तुम्हारी गुरुदेव अवश्य रक्षा करेंगे। ध्यान समाधि में गुरुदेव की इस प्रकार की आज्ञा को सुनकर वह पवित्र आत्मा साधक अधिक भयभीत तो नहीं हुआ क्योंकि उसकी रक्षा का भार उसके गुरुदेव ने अपने ऊपर स्वयं ग्रहण कर लिया था। किन्तु फिर भी उसने अपनी सुरक्षा के लिये राजा परीक्षित की तरह से बड़ा सुप्रबन्ध किया। वह दो दिन तक अपने घर से बाहर नहीं निकला। किन्तु संस्कार प्रबल था, होनहार प्रबल थी और साथ ही उस पवित्र साधक को अपने गुरुदेव का अनुग्रह प्राप्त करना ही था। दूसरे दिन जो सर्प काटने का उसका निर्दिष्ट दिन था उसी दिन उसके गांव के अन्य साथी उसे सायंकाल के समय भ्रमणार्थ बाहर खेतों में ले गये और एक जगह उसे नाली खोदने में लगा दिया उसके मन से भी यह ख्याल निकल चुका था कि अब तक मुझे सर्प ने नहीं काटा तो आगे और क्या काटेगा। उस बेचारे को इतना ज्ञान नहीं था कि यह होनी ही तुम से नाली खुदवा रही है। यह नाली खोदना ही सर्प को प्रेरणा देगा और वह तुम्हें काट खायेगा। उस साधक ने लोहे का फावड़ा (करसी) उठाया, ज्योंहि नाली में मारी उसके पास में एक बिल निकला और उस बिल से अकस्मात् बड़े वेग के साथ काला सर्प निकला और उसने पैर की उँगली में काट लिया। सर्प इतना विषैला था कि काटते ही वह साधक अन्धा हो गया किन्तु उसके सर्वसामर्थ्यवान् गुरुदेव उस महा अन्धेरे में भी उसके सामने आ गये और कहा- बेटा यह होनहार ही थी तुम्हें सर्प ने काट

ही लिया। अब तुम जल्दी घर को लौट चलो तुम्हें दिखलाई नहीं देता है किन्तु हम तुम्हें दीखते रहेंगे हमारे साथ-साथ तुम चले आओ। यह लो तुम्हें हम एक जड़ी दिखाते हैं इस जड़ी के प्रभाव से 4 घण्टे बाद यह सब विष तुम्हें वमन होकर निकल जायेगा और तुम स्वस्थ हो जाओगे। तुम यहाँ से जाने के बाद बोल नहीं सकोगे किन्तु साहस करके अपनी मां का तुम जल्दी से हमारी बताई बातें कह देना। उसके परम गुरुदेव ने निर्माण चित्त के द्वारा यह सब उपदेश किया और उसी अवस्था में ही कोई दिव्य औषधि अथवा दिव्य औषधि के रूप में अपनी कृपा का संचार किया। अपनी माता को श्री गुरुदेव को बतलाये हुए दो शब्द कहकर वह साधक बेहोश हो गया किन्तु परिणाम वहीं हुआ जो श्री गुरुदेव ने दो दिन पूर्व ही बतला दिया था, ठीक चार घण्टे बाद उस बच्चे को वमन हुई जिसके द्वारा उसके मुख से काला-काला जहर निकल कर उसको आंखें खुल गई। आंखें खुलने के उपरान्त श्री गुरुदेव की परम अनुकम्पा को उसने सब घर वालों के सामने बतलाया। शनै: शनै: वह बालक बिल्कुल ठीक हो गया और आज पूर्ण रुपेण स्वस्थ है। यह श्री गुरुदेव की निर्माण चित्त के द्वारा दूसरी सहायता है जिनके द्वारा श्री गुरुदेव सूक्ष्म शरीर से अपने शिष्यों के सामने आकर उपदेश दिया करते हैं और अनेक प्रकार से हित साधन किया करते हैं।

श्री गुरुदेव का तृतीय शक्ति प्रक्षेप

तीसरी श्रेणी उन परम पुण्यात्मा साधकों की है जिनके अन्त:करण में श्री गुरुदेवजी का पवित्र तेज बराबर हर समय प्रकाशित रहा करता है और उनको स्वत: ही अनेक ज्ञान-धारायें विकसित होती रहा करती हैं ऐसे साधक उन परम गुरु के अनुग्रह को प्राप्त करके जितोत्रभूमि हो जाया करते हैं। उन लोगों को निम्न श्रेणियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। उनका मन चटपट ही ऊँची स्थितियों में भ्रमण करने लगता है फिर उसको नीचे की भूमियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। उनके गुरुदेव उनको कोई शाब्दिक उपदेश नहीं करते किन्तु गुरुदेव के परम अनुग्रह से उनके अपने हृदय में ही उनको सत्य बोध होने लगता है, ऐसे साधकों को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है, योग शास्त्र हमें बतलाता है:-

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

इस सूत्र के भाष्य में भगवान् व्यासदेव लिखते हैं:-

तस्मिन समाहित चित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति सञ्ज्ञा भवति, अन्वर्था च सा, सत्यमेव विभर्ति, न तत्र विपर्या सगन्धोऽप्यस्तीति, तथा चोक्तम।

अर्थात् समाहितचित वाले योगी को जो बुद्धि पैदा होती है उसका नाम ऋतम्भरा है और वह यथा नाम तथा गुणवाली प्रज्ञा है अर्थात् :-

ऋतं सत्यं विभर्ति सा ऋतम्भरा

जो बुद्धि केवल मात्र सत्य को ही धारण करती है उसमें मिथ्यात्त्व की गंन्ध भी नहीं, वह ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। जिस पुण्य कर्मयोगी को यह ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है उसकी शेष वृत्तियाँ सब खत्म हो जाया करती हैं वह जो कुछ सोचता है सत्य सोचता है, जो कुछ करता है सत्य करता है यही एक बुद्धि ऐसी है जिसमें जाकर योगी सिद्धांतों का सत्य निर्णायक बन जाता है। जब तक मनुष्य को इसी प्रकार की स्थिति उपलब्ध न हो तब तक वह अपने आपको यदि सिद्धांतों का निर्णेयता साबित करता है तो उसकी यह भारी भूल है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के बिना संसार के लोगों के सामने किसी सिद्धांत की स्थापना करना इसी प्रकार का है जैसे कोई अन्धा किसी अन्धे को पकड़ कर मार्ग-दर्शन का साहस करे। यही कारण है कि आज कल अखबारों में बहुत-सी भविष्य-वाणियाँ निकलती हैं और वे झूठी होती हैं। पिछले दिनों इटली के किसी योगी की यह भविष्यवाणी बहुत अधिक प्रचारित हुई कि 14 अगस्त को संसार में प्रलय आ जायेगी। कितने ही लोगों ने इसी भय से आत्मघात कर लिये किन्तु अन्तत: परिणाम बिल्कुल विपरीत रहा। इसी प्रकार और भी लोग इसी प्रकार की भविष्य वाणियाँ करते रहते हैं किन्तु यह लोग सांसारिक लोग हैं अनुभूति रहित हैं। उनकी वाणियों से कोई तथ्य नहीं निकल पाता। ऋतम्भरा प्राप्त योगी एक प्रकार का सिद्ध-संकल्प होता है उसको अपने किसी भी कार्य को करने के लिये अपने किसी विशेष बल के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसका अपना संकल्प ही उसका बल है इस विषय में मुझे एक उदाहरण का स्मरण आ रहा है जो ऋतम्भरा प्रज्ञा के इस विषय को पूर्णरुपेण स्पष्ट करता है।

उदाहरण

हमने अपने अभ्यासी साधकों में देखा है वे लोग भूत, भविष्य की बातें करते रहते हैं जब उनसे पूछा गया क्या तुम लोग ध्यान-दृष्टि से समाधि में अनुभव कर ये सब बातें कहते हो तो उनका जवाब एक ही होता था कि नहीं, हमारे मन के भाव ही इस प्रकार के बन जाते हैं वे लोग जिस किसी के विषय में कोई भूत, भविष्य की बात करते हैं निष्कर्ष में वह सत्य ही निकलती है ये उनके प्रज्ञा लोक का फल था जिसमें ऋत को धारण करनेवाली बुद्धि स्वत: ही उपस्थित रहा करती है। मनुष्य यदि सत्य बोलने की चेष्टा करे और मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यवादी बन जाय तो क्रियात्मक सत्यवादन से ही मनुष्य संकल्प सिद्धि को प्राप्त कर लेता है जिसका निर्देश भगवान् पतंजलिदेव ने सीधे और स्पष्ट शब्दो में योगदर्शन में किया है:-

सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठ होने पर योगी की वाणी क्रिया फलवाली हो जाया करती है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान् व्यास देव ने यह पंक्ति लिखी है:-

धार्मिकों भूया इति भवति धार्मिक: स्वर्ग प्राप्नुहीति स्वर्ग प्राप्नोति अमोधाऽस्य वाग भवति।

अर्थात् ऋृतम्भरा प्रज्ञा योगी यदि किसी के विषय में यह विचार करता है कि फलां व्यक्ति धर्मात्मा हो जाए तो वह धर्मात्मा हो जाता है। यदि वह किसी को कह दे स्वर्ग प्राप्नोति तो वह स्वर्ग को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् उसकी वाणी बिल्कुल अमोघ हो जाती है यह केवल मात्र क्रियात्मक सत्य बोलने का परिणाम योगी के सामने आता है। कदाचित् गुरुदेव के परम अनुग्रह को पाकर साधक संयम बल से प्रज्ञाऽऽलोक को प्राप्त होता है तो उसकी सत्य संकल्पता में तो शंका की कमी हो ही नहीं सकती है? ऐसा योगी जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो चुकी है और अस्मि अस्मि अहमेव अस्मि ऐसी बुद्धि वृत्ति अस्मितानुगत समाधि में हो गई है। वह योगी निर्माणोमुखी है और उस निर्मांणोमुखी वृत्ति को लेकर के अपनी संकल्प शक्ति से दूसरों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश दिया करता है। लोगों की दृष्टि में उसके कार्य अलौकिक होते हैं उसकी अलौकिक क्रिया कलाप को देखने वाले सभी लोग यह समझते हैं कि यह इनकी कोई सिद्धि है जिसके बल से इन्होंने ये सब कार्य किये किन्तु वह उस योगी की समाधि प्रज्ञा का बल होता है ऐसी स्थिति में योगी उरप्रेरक बन जाता है। ये उत्तम साधक की तीसरी मदद हुआ करती है जो उसकी बुद्धि में ही प्रकट हो जाती है। जो उसके गुरुदेव के शुद्ध संकल्प का परिणाम होता है इस विषय में मैंने अपने गुरुदेवजी की अनेकों घटनाओं का स्वयं अनुभव किया है।

उदाहरण

मैं अधिकांश अपने व्याख्यानों में अपने आदरणीय भाई गोपालनन्दजी के उदाहरण दिया करता हूँ उनकी एक घटना इस लेख के अनुरूप इस समय स्मरण आ रही है। श्री ब्रह्माचारीजी के मन में यह धारणा रहती थी कि बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त करें और उस ऐश्वर्य को पाकर दुनिया में अपने मान और यश को बढ़ायें। ध्यान योग की उनकी स्थिति बहुत अच्छी थी। श्री गुरुदेवजी के परम अनुग्रह से वह जो भी कुछ ध्यान में देखा करते थे वह अधिकांश सत्य होता था। एक दिन उनके मन में एक विचार बना और वह यह कि किसी प्रकार से उनको बहुत बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाए जिससे वह संसार में यशोपार्जन कर सकें। ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी एक अच्छे अनुभवी डाक्टर थे जिस समय वे अपने अभ्यास में बैठे उस समय सुनहरी अक्षरों में लिखा हुआ एक दिव्य औषधि योग उनके सामने आया और आकाश वाणी हुई इन नुस्खे को तू बना ले यह अमुक-अमुक रोगों पर सफल प्रयोग है। तत्काल फल देने वाला होगा, इसका अपने नाम से रजिस्ट्रेशन कराकर जब तू वाणिज्य करेगा तो तेरा व्यापार बहुत बड़ जायेगा और तू इस धन से मालामाल हो जायेगा। श्री ब्रह्मचारीजी ने ध्यानाभ्यास में ही इतनी बात जाननी चाही कि वह उस नुस्खे को तैयार करने के लिये जिसमें काफी पैसा खर्च होता था वह कहाँ से उपलब्ध हो। इसका निर्णय भी श्री प्रभुजी ने ही ध्यानाभ्यास में ही कर दिया और एक व्यक्ति की आकृति दिखा दी कि यह व्यक्ति कल दिन के 6 बजे तुम्हारे पास आयेगा, इससे जितना भी तुम चाहो पैसा लेकर और अपने इस प्रयोग में हिस्सेदार बनाकर इसको तैयार कर लेना और फिर काम शुरू करना। जिसका उत्तम फल थोड़े ही दिन में

तुम्हारे सामने आना शुरू हो जायेगा। किन्तु श्री गुरुदेव जी का यह विचार बिल्कुल नहीं था कि विवेक ख्याति की ओर बढ़ने वाले आदरणीय भाई ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी वासना भोगी बनें एवं विलासता के चक्र में अपने आपको झौंककर परमार्थ से बिल्कुल अपने आपको च्युत बना लें। श्री गुरुदेवजी के कथनानुसार दूसरे दिन वह व्यक्ति आ ही गया और उसने काफीधन देने का लालच दिया किन्तु उसी समय ब्रह्मचारी जी के मन में हर समय स्थाई रहने वाले भावों के अतिरिक्त एक नई प्रेरणा हुई और वह यह कि वह कम से कम ध्यान-योग में यह तो देख लें कि ऐश्वर्य प्राप्ति का बाद में परिणाम क्या होगा। जिस समय ध्यानाभ्यास में बैठकर उन्होंने ऐश्वर्य के दुष्परिणामों को देखा तो उनको स्वत: ही वैराग्य हो गया और उन्होंने ध्यानाभ्यास से उठते ही, उस व्यक्ति को उत्तर दे दिया कि भाई मैं तो अपने मन से संसार को छोड़ चुका हूँ अब इन झंझटों में मैं पड़ना नहीं चाहता। ये थी परम गुरुदेव की पूर्ण अनुकम्पा और उरप्रेरणा।

एक और उदाहरण

इसी प्रकार का एक और उदाहरण मुझे स्मरण आता है। एक और ब्रह्मचारी ऋषिकेश योग साधन आश्रम में योग योगेश्वर श्री प्रभु जी गुरूदेव महाराज के चरणारविन्द में वास करता था, अकस्मात् उसको अपने घर से एक सूचना मिली कि उसका पिता बहुत बीमार है उसने अपने पिता की तकलीफ में सेवा करने के लिए श्री गुरुदेव से आज्ञा प्राप्त की और साथ में यह भी पूछा कि वह अपने घर जाकर क्या करे और भावी जीवन का कार्यक्रम क्या होना चाहिये। श्री गुरुदेवजी ने आदेश दिया कि यह सब घर जाने पर तुम्हारा पिता ही बतलायेगा। तुम इस समय जाकर उसकी खूब मन लगाकर सेवा कर लेना। सम्भव है उसका यह शरीर न रहे। इसलिए तुम अपने पिता का पवित्र आशीर्वाद अवश्य प्राप्त करना। वह ब्रह्मचारी अपने घर गया, अपने पिताजी की मन लगाकर सेवा की। शनै: शनै: वह समय आ ही गया जिसका निर्देश सर्वसमर्थ गुरुदेव के पहले से ही कर दिया था कि सम्भव है शरीर न रहे, ब्रह्मचारी के पिता योगाभ्यासी थे और कुछ ही समय पहले श्री गुरुदेव जी से योग दीक्षा प्राप्त की थी। जिसके फलस्वरूप उनका ध्यान-योग भी अच्छा चलता था। वे ध्यानाभ्यास से अपने आपको पवित्र बना चुके थे किन्तु नश्वर शरीर का पतन होता ही है समय आ गया और उस अन्तिम काल में ब्रह्मचारी ने अपने पिता से कोई आज्ञा प्राप्त करनी चाही व उनके पिताजी ने उनको उपदेश दिया कि बेटा मेरा यह अन्तिम समय है मैं एक घण्टा या आधा-घण्टा अधिक-से-अधिक तुम्हारे पास और हूँ। इस समय तुम अपना मन मेरी ओर मत लगाओ। ताकि मेरी चित्त की वृत्ति इस समय तुम्हारी ओर न बदले। वैसे मेरी यही आज्ञा है कि तुम श्री प्रभुजी की आज्ञाओं का ही पालन करना। कोई कदम उनकी आज्ञा के विरुद्ध न उठाना यही कल्याणकारी होगा। उस ब्रह्मचारी ने अपने पिता के आदेशों को अपने मन में रख लिया और जिस समय वह अपने पिता के देहावसान के बाद लौट कर आया तो श्री प्रभुजी ने आते ही पूछा कि– बेटा तुम्हारे पिता ने तुम्हें क्या आज्ञा दी? उसने अपने पिता के अन्तिम समय का सब वृत्तान्त कह सुनाया और अपने जीवन को उसी प्रकार लगा दिया जिस प्रकार का निर्देश श्री प्रभुजी ने उसके पिता के मन में प्रेरणा करके पिता के मुख से कहलाया और अपने उस बच्चे को पहले से ही विरक्त रूप से लोकहित कार्यों में लगाया हुआ था। यह है श्री गुरुदेव की तीसरी प्रेरणा। यह प्रेरणा साधक को उत्तरोत्तर बल देती रहा करती है। सर्व समर्थ गुरुदेव या दूसरे शब्दों में वह सर्व शक्तिवान् परमात्मा जी सर्वव्यापक है और सर्वअन्तरयामी है उत्तम अधिकारी को अपने आप ही इस प्रकार की प्रेरणा देता रहता है जिससे उसकी मदद होती रहे और साधक ऊँचा बढ़ता रहे। यह परमावश्यक है योग की इस निधि को अपने अन्दर विलीन कर लेने के लिए साधक को अपना जीवन तपोमय रखना चाहिए। शास्त्र का कथन है:-

ना तपस्विनो योग: सिध्यति।

अर्थात् जो व्यक्ति तपस्वी नहीं है उसको योग सिद्ध नहीं हुआ करता। जो तप व ब्रह्मचर्य के द्वारा अपने अन्त:करण को शुद्ध कर लेता है उस योगी को बराबर सद्गुरुदेव की अन्त:प्रेरणायें प्राप्त होती रहा करती हैं इसलिए संयम के विषय में भगवान् पतंजलिदेव ने:-

तस्य भूमिषु विनियोग:।

यह सूत्र लिखा है। वहाँ पर व्यासदेव जी ने इसके भाष्य में संयम का क्रमश: योग भूमिकाओं को विनियोग करने का अर्थ स्पष्ट करते हुए साथ-साथ यह शब्द भी पूर्णरूपेण स्पष्ट लिख दिये हैं:-

ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधर भूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमा युक्तः।

अर्थात् ईश्वरानुग्रह से जिस योगी ने उत्तरभूमियों में जप प्राप्त किया है उसको अन्य भूमियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती और ऐसे योगी को:-

इयमन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्याय:

अर्थात् योगी को उरप्रेरक गुरुदेव की प्रेरणायें स्वत: ही प्राप्त होती रहा करती है और उसको जिन-जिन भूमियों में संयम करना है वह स्वत: ही सामने प्रकट होती रहा करती हैं। इसी आशय को लेकर योगाचार्यों ने यह श्लोक कहा है:-

योगेन योगो ज्ञातव्यो
योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन
स योगे रमते चिरम्।।

अर्थात् योग से ही योग की प्राप्ति होनी चाहिए और योग से ही योग प्रवृत्त होता है जो लोग प्रमाद रहित होकर योगाभ्यास करते हैं वह लोग साधन रूपेण संयम का अभ्यास करते हैं वह तो करना ही चाहिये किन्तु प्रबल पुण्य के फलस्वरूप जिसको पूर्ण सिद्ध गुरुदेव की प्राप्ति हो गई है और सुकर्मा साधक अपने गुरुदेव के चरणारविन्द पर तन मन से न्यौछावर है और तीसरी प्रकार की उरप्रेरणा को प्राप्त करने का अधिकारी अपने आप को बना लिया है वह अवश्य ही संयम बल को प्राप्त कर लेता है और आगे-आगे बढ़ता चला जाता है। इस लेख में हमने अभ्यासी-साधकों को गुरुदेव की प्रेरणा किस-किस प्रकार से प्राप्त होती है यह प्रकरण खोलकर समझाने का प्रयत्न किया है। गुरुदेव परम तत्त्व है जिसके विषय में हमारे शास्त्र कहते हैं:-

नास्ति तत्त्वं गुरो: परम।

इस युक्ति को सामने रखते हुए साधक को अपने गुरुदेव के चरणारविन्द का भँवरा बनकर रहना चाहिए। शास्त्र आज्ञा देता है—

मात्रिवान् आचार्यवान् पुरुषोवेद

अर्थात् जिसने मातृ-शिक्षा को प्राप्त किया, पिता की शिक्षा को पाया एवं आचार्य की शिक्षा को प्राप्त किया है वही मनुष्य परम तत्त्व का ज्ञाता हुआ करता है। माता अपने बच्चे के मन को सत् शिक्षा देकर पहले से ही प्रभावशाली बना देती है उसके बाद पिता का कार्य आ जाता है। वह अपने पुत्र को दिनचर्या सिखाता है। अच्छे विद्यालयों में अध्ययन के लिए भेजता है और उसके जीवन में उत्तम विकास कराता है, पिता देखता है मेरे बच्चे में कोई दुराचरण तो पैदा नहीं हो रहा है। उसके बाद वह बच्चा आचार्य की शरण में जाता है। गुरुकुल के आचार्य उस बालक को पूर्ण नियंत्रण से चलाते हैं, वैदिक शिक्षा देते हैं, दुर्व्यसनों से बचाते हैं एवं आत्मचिन्तन की ओर अग्रसर बनाते हैं। इस विधि से तैयार किया हुआ बालक सब तत्त्वों के ज्ञाता परम गुरुदेव की आत्मिक प्रेरणा को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है और वह शनै: शनै: ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा होकर निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है। अत: यह परमावश्यक है कि साधक संयम बल को प्राप्त करने के लिए तपश्चर्या और ब्रह्मचर्य वृत्ति के साथ-साथ ईश्वर कृपा व गुरुदेव के अनुग्रह को भी अपनी सेवाओं से उनके मन को प्रसन्न करके अवश्य प्राप्त करे। तभी संयम सिद्धि के पवित्र फल को प्राप्त कर सकेगा।

चित्त के तीन परिणाम एवं समाधि

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे पूर्वजों का सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का अस्तित्त्व नहीं है वह नहीं ही हैं एवं जिस वस्तु का अस्तित्व है वह रहेगा ही रहेगा, केवल मात्र उसमें एक परिणाम विशेष उत्पन्न हो सकता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए योगेश्वरेश्वर जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने श्री मद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के 16 वें श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है:–

नासतो विद्यते भावोनाभावो विद्यते सतः।
उपयोरपि दृष्टोऽन्तरस्त्वनयोरस्तत्त्वदर्शिभिः।।
गीता 2 : 16

अर्थात् जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं है उसका अस्तित्त्व कहीं से बनता नहीं और जिसका अस्तित्त्व है वह कभी बिगड़ता नहीं। प्रत्युत उस वस्तु के परिणामान्तर होते रहा करते हैं, धर्मीलक्षण करते हुये योग–दर्शनकार भगवान् पतंजलिदेवन ने यह सूत्र लिखा है–

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।।

अर्थात् धर्मी वह कहलाता है जो शान्त अर्थात् जो परिणाम समाप्त हो चुका है, उदित जो परिणाम इस समय हो रहा है और व्यपदेश अर्थात् जो परिणाम बाद में होगा, इन तीनों परिणामों में जिसकी सत्ता बराबर कायम रहती चली जाए किन्तु विभिन्न प्रकार के परिणामों में उसमें अन्यत्त्व का दर्शन होता है वह धर्मी कहलाता है। उस धर्मी के हर स्थान में तीन–तीन परिणाम विभिन्न रूप से प्रगट होते रहा करते हैं किन्तु धर्मी उन तीनों प्रकार के परिणामों में बराबर बना रहता है।

धर्मी के तीन परिणाम

1. धर्म परिणाम, 2. लक्षण परिणाम एवं 3. अवस्था परिणाम। ये तीनों परिणाम हर एक धर्मी में बराबर होते रहते हैं। उदाहरण के रूप में इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिये जिस प्रकार मिट्टी एक धर्मी है, उस मिट्टी को पानी से आटे की तरह गोद करके उसका एक गोला बना लिया। यह उस साधारण मिट्टी का गोला रूप धर्म–परिणाम है और उस गोले के अन्दर गोले को साबित करने वाले जो लक्षण हैं वे उस धर्मी मिट्टी के बने हुये गोलारूप लक्षण परिणाम हैं। इसी प्रकार जब वह गोला कुछ दिन रखा रहेगा, सूख जायेगा और उसको बहुत देर रखे रहने से उसमें पुरातनता आ जायेगी तो इसके सुनने वाला, देखने वाला यह कहेगा कि यह गोला मालुम पड़ता है कई महीने का बना हुआ है इसलिये यह पुराना गोला है, ये उस धर्मी मिट्टी के गोलारूप धर्म परिणाम का अवस्था परिणाम है, इसी प्रकार ये तीनों परिणाम हर तत्त्व में बराबर होते रहा करते हैं। वस्तुतः उस वस्तु की सत्ता कहीं नष्ट नहीं होती, केवल मात्र उसमें विकृति आती रहती है और वह विकृति जहाँ–जहाँ भी गुण धर्म लागू है तहाँ–तहाँ होगी ही क्योंकि हमारे शास्त्र का सिद्धान्त है–

चलम् हि गुण वृत्तम्।

अर्थात् प्रकृति सम्भव तीनों गुण हर समय चल रहे हैं इसलिये गुण वृत्त में प्रतिक्षण परिणामान्तर होता रहता है जिस समय मनुष्य जन्म लेता है और छोटा बच्चा बनकर माता के गर्भ से बाहर आता है उसकी उस समय की आकृति बहुत छोटी होती है अधिकांश में एक मोटे चूहे की तरह आमतौर पर होती है किन्तु ज्यों–ज्यों प्रकृति उसकी मदद करती है और विभिन्न प्रकार के रस, पेय, खुराक के रूप में उसको मिलते रहते हैं त्यों–त्यों उसकी आकृति में भी परिणामान्तर होता रहता हैं और वह उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। कुछ समय बाद उसका वह स्वरूप जो पैदा होने के समय अधिक–से–अधिक आधा सेर या तीन पाव वजन का होगा कुछ समय बाद परिणाम पाकर वह युवावस्था को धारण कर लेता है और उसका वह शरीर कई–कई मन वजन की आकृति को धारण कर वृहदाकार में दिखलाई देता है यह उसके शरीर में प्रतिक्षण

होनेवाले विभिन्न परिणाम का फल है। इसी प्रकार हमारा चित्त भी गुणात्मक है और उसमें भी हर क्षण परिणाम होते रहा करते हैं इससे पिछले लेखों में हमने अष्टाङ्ग योग के स्वरूप को दर्शाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। उनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि- इन आठ अंगों में से पहले पांच अंग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार- ये बहिरंग अङ्ग माने जाते हैं क्योंकि इनकी साधना चित की बहिर्मुखी वृति होने पर भी की जा सकती है, सर्वार्थक चित होते हुये भी अष्टांग योग के इन पाँच अङ्गों की साधना की ही जा सकती है किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि- ये तीनों इन पहिले अङ्गों की अपेक्षा अन्तरंग हैं इसलिये भगवान् पतंजलिदेव ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में यह सूत्र कह दिया है:-

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:।

अर्थात् भगवान् व्यासदेवजी भाष्य करते हैं:-

तदेतद् धारणा ध्यान समाधि त्रयम् अन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधे: पूर्वेभ्यो यमादि साधनेभ्य इति।

अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अङ्ग सम्प्रज्ञात समाधि के लिए यम, नियम आदि की अपेक्षा अंतरंग हैं इन्हीं के द्वारा सर्वार्थिंक चित्त में एकाग्रता रूप नया धर्म परिणाम आरम्भ होता है। जिस समय मनुष्य धारणा का अभ्यास करता है तो उसको सभी विषयों में व्यापक रहने वाले चित्त में एकाग्रता रूप एक नया परिणाम होना आरम्भ हो जाता है यह उसके धर्मी चित्त का एकाग्रता रूप में बदल जाना यह उसका धर्म परिणाम है। इस परिणाम को व्यक्त करते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने कहा है:-

तत: पुन: शान्तोदितौ तुल्प्रयत्ययौ
चित्तस्यैकाग्रता परिणाम:।

भगवान् व्यासदेव भाष्य करते हैं:-

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्यय: शान्त:,
उत्तरस्तत्सद्धश उदित: समाधि चित्त-
मुमयोरनुगतं पुनरस्तथैव आसमाधि भ्रेषा-
दिति से खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रता परिणाम:।।

अर्थात् सर्वार्थक चित्त के अन्दर सब विषयों को ग्रहण करना रूप एक स्वभाव बना हुआ था उसके अन्दर धारणा का अभ्यास करने पर एक नया धर्म परिणाम पैदा हुआ, अभी तक कहने में यह आता था कि यह हमारा चित्त बड़ा चंचल है सभी विषयों में घूमता है। ये उस चंचल चित्त के लक्षण थे किन्तु ज्योंहि उस सब विषयों में घूमने वाले धर्मी चित्त के अन्दर एकाग्रता परिणाम पैदा हुआ, उस ही समय उसके अन्दर एकाग्रता के लक्षण भी आ गये थे। उस चित्त के धर्म परिणाम और लक्षण परिणाम दोनों हो गये। इसी प्रकार से ज्यों उस चित्त की एकाग्रता पुरातन की ओर बढ़ती चली जायेगी तो कहने वाले और देखने वाले यही कहेंगे कि भाई देखा उसका चित्त तो बहुत पुराने समय से एकाग्र चला आ रहा है। यह उस चित्त की अवस्था परिणाम हो गया। इसी प्रकार एकाग्र होने पर यह चित्त ज्यों-ज्यों समाधि के दृढ़ अभ्यास की ओर बढ़ता चला जायेगा तो उसका यह एकाग्रता परिणाम भी कालान्तर में अवश्य बढ़ेगा ही।

सम्प्रज्ञात समाधि का एकाग्रता परिणाम वाला यह चित्त सर्वार्थक चित्त की अपेक्षा समाधि के लिए अपेक्षाकृत अतरंग हो गया है किन्तु अभी तक ये अपने चरम लक्ष्य को नहीं पा सका है। अपने चरम लक्ष्य को तभी प्राप्त करेगा जब कि यह अपने आने वाले परिणामों में से निकलता हुआ निरोधास्थिति को प्राप्त हो जायेगा। ज्यों-ज्यों साधक की एकाग्रता स्थिति ऊँची बढ़ेगी त्यों-त्यों उसके धर्मी चित्त के अन्दर आगे के नये परिणामों के भाव सामने आने आरम्भ हो जायेंगे। इस एकाग्रता परिणाम में चित्त के सर्वार्थकता रूप धर्म शान्त रूप अर्थात् दब गये एवं एकाग्रता रूप धर्मों का उदय हो गया। चित्त पहले की अपेक्षा सूक्ष्म बन गया और उसने सम्प्रज्ञात योग में प्रवेश पा लिया, इसके बाद किन्तु अभी भी इसकी सर्वार्थकता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है, इसलिए साधक में दृढ़ अभ्यास के बाद इसके अन्दर समाधि के धर्मों का प्रादुर्भाव होना शुरू हो जायेगा, उसको समझाते हुए भगवान पतंजलिदेव ने निम्नांकित सूत्र में स्पष्टीकरण के साथ-साथ बतला दिया है कि :-

सर्वार्थनैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणाम:।।

भगवान् व्यासदेव भाष्य करते हैं :-

सर्वार्थता चित्तधर्मः एकाग्रता चित्त धर्मः सर्वार्थतायाः क्षयः तिरोभाव इत्यर्थः एकाग्रताया उदयः आविर्भाव इत्यर्थः तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं तदिदं चित्तमषायोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चितस्य समाधि परिणामः।

अर्थात् सर्वार्थता भी चित्त का धर्म है और एकाग्रता भी चित्त का ही धर्म है इससे ज्योंही चित्त की एकाग्रता उत्कृष्टता को प्राप्त होने लगती है और समाधि की ओर बढ़ने लगी तो चित्त के धर्मों में सर्वार्थता रूप चित्त धर्म का उदय होने पर चित्त के अन्दर समाधि परिणाम आ जाता है इसमें पहला धर्म दब गया और दूसरे धर्म का उदय हो गया। इस परिणाम के अन्दर भी पूर्व लेखानुसार क्रमशः तीनों परिणामों का उदय हो गया। सर्वार्थता को चित्त ने छोड़ दिया और एकाग्रता की रूढ़ावस्था को प्राप्त करके समाधि की ओर आगे बढ़ गया, इस प्रकार उस धर्मी चित्त का सर्वार्थता रूप अपने धर्म का परित्याग करके एकाग्रतारूप समाधि परिणाम को प्राप्त कर लिया। सर्वार्थता के अन्दर जो चित्त के लक्षण थे वे खत्म हो गये और समाधि परिणाम के अन्दर जो चित्त के लक्षण हुआ करते हैं वह उदय हो गये। धर्मी चित्त एकाग्रता रूप धर्म परिणाम के साथ-साथ उसकी एकाग्रता रूप लक्षण परिणाम भी साथ-के-साथ उदय हो गया। इस समाधि को नयी समाधि कहेंगे। कहने वाले लोग इस समाधिस्थ व्यक्ति का परिचय देने के लिये ये परिचय देंगे कि अरे भाई उसकी तो समाधि अभी नयी-नयी लगी है उसका चित्त अभी-अभी समाधि परिणाम की ओर आया है। समाधि के लक्षण तो उसमें प्रकट हो गये हैं किन्तु फिर भी उसकी यह समाधि है तो अभी नयी ही है। समाधि को नयी कहना ही समाधिस्थ धर्मी चित्त का यह अवस्था परिणाम है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों साधक का चित्त समाधि का दृढ़तर अभ्यास करते हुये निरोधाभिमुख होगा तो उस धर्मी चित्त के अन्दर निरोध रूप एक नया परिणाम पैदा हो जायेगा। उसका परिचय दिलाते हुये भगवान् पतंजलिदेव ने निम्नलिखित सूत्र में स्पष्टीकरण किया है :-

व्युत्थाननिरोध संस्कारयोरभिभव प्रादुर्भावौ। निरोधक्षणचिन्तान्वयौ निरोध परिणामः।।

इस सूत्र का भगवान् व्यसादेव भाष्य करते हैं:-

व्युत्थान संस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्यय निरोधे न निरुद्धाः निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः तयोरभिभव प्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते, निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं सस्कारान्यथात्वनिरोध परिणामः, तदासंस्कार शेषं चित्त मिति निरोध समाधौ व्याख्यातम्।

अर्थात् व्युत्थान भी चित्त धर्म है और निरोध भी चित्त धर्म है, सम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर होने वाले चित्त के धर्म व्युत्थानात्मक थे। यद्यपि यह चित्त एकाग्र था और समाहित था उसके अन्दर सिद्धि शक्तियों का वास हो चुका था, शक्तिशाली था किन्तु फिर भी सम्प्रज्ञात समाधि की यह स्थिति निरोध स्थिति को अपेक्षा व्युत्थानावस्था ही है। इस स्थिति में चित्त के एकाग्रता के रूप समाहित स्थिति में जो सिद्धियाँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं व निरोध के लिये भगवान् पतंजलिदेव ने स्वयं उपसर्ग रूप मानी हैं :-

भगवान् व्यासजी भाष्य करते हैं :-

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वाद् व्युत्थितचित्तस्यो-त्पद्यमानाः सिद्धयः।

अर्थात् सम्प्रज्ञात योग में होने वाली सिद्धियाँ उसी स्थिति में अर्थात् व्युत्थानावस्था में वह सिद्धियाँ हैं। निरोध स्थिति के लिये तो वह भी उपसर्ग भूत है अर्थात् निरुद्धावस्था के लिये वे सिद्धियाँ भी एक प्रकार की अन्तरायें हैं। समाहित चित्त के निरोध परिणाम के लिये निरोधात्मक संस्कारों का प्रादुर्भाव होगा और व्युत्थानात्मक संस्कारों का अविर्भाव होगा तो इस प्रकार धर्मी चित्त के व्युत्थानात्मक संस्कार दब जायेंगे और निरोधात्मक संस्कार प्रादुर्भूत हो जायेंगे। निरोध स्थिति के अन्दर चित्त वृत्ति संस्कार मात्र से शेष रहती है अर्थात् निरुद्धावस्था साधक की निर्बीज समाधि है इनमें चित्त की वृत्तियाँ सब प्रकार से शान्त हो जाती हैं फिर भी क्योंकि निरुद्धयावस्था भी चित्त के धर्म हैं और व्युत्थानावस्था भी चित्त के धर्म हैं। इसलिये व्युत्थानात्मक चित्त के धर्म दब जाते हैं। निरोधात्मक प्रादुर्भूत हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में चित्त का

प्रवाह बहुत शान्ति के साथ बहने लगता है क्योंकि उसके व्युत्थानात्मक धर्म समाप्त हो चुके हैं और निरोधात्मक का जन्म हो चुका है। यहाँ आकर के चित्त की वृत्ति केवल वृत्तिरूपेण अवशेष ही मानी जायेगी और निरुद्ध हो जाने के बाद वह भी संस्कारवश अपने कारण में लय हो जायेगी। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जायेगा। यहाँ तक की ये समाधियाँ सबीज समाधि कहलाती हैं यहाँ तक संस्कार का बीज बना रहता है। उपरोक्त समाधियों को ही सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ वितर्कांनुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत क्रमशः प्रकट होती रहती है, शब्द–अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिली हुई समाधि सवितर्क समाधि कहलाती है। यह सम्प्रज्ञात योग की पहली स्थिति है। ज्यों–ज्यों इसका अभ्यास योगी दृढ़ मन से बढ़ाता चला जाता है और अपने अभ्यास में कोई अन्तराय पैदा नहीं होने देता और उसके निरन्तर अभ्यास से समाधि उत्तरोत्तर साफ होती चली जाती है जिसमें जाकर के योगी को अपने नाम सत्तारूप स्वरूप समापत्ति का आभास नहीं होता उनको निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। इस समाधि का लक्षण भगवान् पतंजलिदेव ने इन शब्दों में किया है :–

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ मात्र निर्भासा निर्वितका।

अर्थात् स्मृति की निर्मलता बढ़ जाने के बाद जिसमें केवल अर्थमात्र निर्भासित होता रहे उसको निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं जब तक उसमें शब्द की प्रतीति होती रहती है तब तक वह समाधि निर्वितर्का नहीं कहला सकती। जब स्मृति को दूर हो जाने पर केवल मात्र अर्थ मात्र ही भाषित होता रहे तभी वह समाधि निर्वितर्का कही जा सकती है। यद्यपि इस अवस्था में भी ज्ञान अवश्य बना रहता है किन्तु वह नहीं के बराबर होता है। एक प्रकार से अपने ग्रहण स्वरूप को त्याग कर वह ग्रहणाकार हो जाता है। इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने– ''**स्वरूप शून्य इव**'' इस सूत्र का प्रयोग किया है, योगदर्शन के सत्रहवें सूत्र में जो स्थूल विषय में वितर्क योग कहा है उसी में ये सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं इन्हीं को योगियों की परिभाषा में निर्विकल्प और सविकल्प भी कहते हैं। इस प्रकार से ये दोनों समाधियाँ स्थूल विषयात्मक ही हैं, इसी प्रकार से जब योगी का मन इससे आगे उठता है तो इससे सूक्ष्म विषयों में उसका चित्त समाहित हो जाता है और सविचार और निर्विचार समाधि का स्वरूप हुआ करता है। जब तक सूक्ष्म विषय देशकाल और निर्मित के साथ आभाषित होता है और शब्द ज्ञानादि की उसमें अनुभूति बनी रहती है तब तक वह समाधि सविचार समाधि कहलाती है और उसमें जा करके लक्ष्य को साक्षात्कार करते–करते देशकाल निर्मित आदि भूल जाते हैं। इसी समाधि का नाम निर्विचार समाधि है, इस समाधि का विषय मूल प्रकृति तक पहुँच जाता है। महाभूतों का साक्षात्मकार करना स्थूल विषय कहलाता है, उसमें सवितर्का और निर्वितर्क समाधि ही हो सकती है। उससे जब सूक्ष्म विषय में योगी का प्रवेश होता है और महाभूतों की अपेक्षा गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र, रूप तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र एवं शब्द तन्मात्र, रूप तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र एवं शब्द तन्मात्र आदि तन्मात्राओं का ज्ञान उपलब्ध करता है तो ये पंच महाभूतों की अपेक्षा सूक्ष्म है, इसमें ही चित्त का समाहित होने से सविचार और निर्विचार समाधि बनती है किन्तु सूक्ष्मता का विषय और भी आगे बढ़ जाता है, पंच तन्मात्राओं के बाद अहङ्कार के बाद महत्तत्व, और महत्तत्व से प्रकृति सूक्ष्म है, यद्यपि प्रकृति से भी पुरुष और सूक्ष्म है किन्तु यहाँ पर यह सूक्ष्मता मूल प्रकृति पर्यन्त ही पहुँचती है। पुरुष साक्षात्कार का विषय आगे चल करके स्पष्ट हो जायेगा, यहीं पर सूक्ष्मता का अभिप्राय उपादान कारण तक है क्योंकि प्रकृति ही पंच महाभूत, पंच तन्मात्राओं, अहङ्कार, महतत्त्व आदि सब को जन्म देने वाली है। एक प्रकार से वह प्रकृति ही रूपान्तरित होकर इनके अन्दर भाषित होती रहा करती है। पुरुष प्रकृति का उपादान करण नहीं है इसलिये ये समाधियाँ सबीज समाधि कहलाती है जब निर्विचार समाधि की निर्मलता बढ़ती है त्यों–त्यों उसकी समाधि का प्रवाह भी निर्मल होता चला जाता है और उसकी समाधि प्रज्ञा अति निर्मलता को प्राप्त हो जाती है। अब उसको प्रकृति पर्यन्त सब पदार्थ इस प्रकार दिखलाई देने लगते हैं जिस प्रकार शीशे के अन्दर रखी हुई वस्तुयें आभाषित होती रहा करती हैं। ऐसी स्थिति में आकर योगी प्रज्ञा प्रसाद पर आरूढ़ होकर सांसारिक लोगों को इस प्रकार देखा करता है जिस प्रकार पर्वत शिखर पर खड़ा हुआ भूमि के प्राणी को देखा करता है।

प्रज्ञा प्रसादमारुह्या शोच्य: शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानि शैलम्थ: सर्वान प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

अर्थात् बुद्धि महल पर खड़ा हुआ योगी आप अशोच्य हो जाता है उसको अपनी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती किन्तु दु:ख द्वन्द्वों में तपे हुये मनुष्यों की उसकी चिन्ता रहा करती है। जैसे पहाड़ की उच्च शिखर पर चढ़ा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार भूमिस्थ प्राणियों को साफ-साफ देख लिया करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने बुद्धि की निर्मलता को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लिया है वह संसार के प्राणीमात्र को जिन स्थितियों में वह हुआ करते हैं स्पष्ट देख लिया करते हैं।

एक उदाहरण

मेरे सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज जब नेपाल हिमालय से अधम लोगों के उद्धार के लिये उतर कर भूमि पर आये और उन्होंने संसार में आकर के योग की विशुद्ध परिभाषायें समझाकर योग-प्रचार करना आरम्भ किया, उस समय कोई-कोई लोग जब उनसे इस प्रकार के प्रश्न किया करते थे, उनका इस भूमण्डल पर आगमन किस प्रकार हो गया? तो उसका उत्तर श्री गुरुदेवजी अपने शब्दों में इस प्रकार कहा करते थे कि भाई क्या बतलायें हमने वहाँ बैठे हुए भी संसार के जीवों को तड़पते हुये देखा तो हृदय में दया भाव पैदा हुये, कुछ उन परम पुरुष की इसी प्रकार की इच्छा थी। अत: हम वहाँ से चले आये और यहाँ आकर यह कार्य करना आरम्भ किया। श्री गुरुदेवजी ने हिमालय से उतर कर योग का वह अमर उपदेश करना शुरू किया जिसे पाकर के संसार के अधम प्राणी भी उस पवित्र प्रकाश को देखने लगे और वह सामर्थ्य वाले बन गये कि उनके द्वारा और भी हजारों जीव उस पवित्र प्रकाश को पाकर के कृतार्थ हुये। श्री आनन्दकन्द परम कृपासागर श्री गुरुदेवजी की महिमा को स्पष्ट शब्दों में बतलाते हुये एक श्लोक लिखा है। मैं उस श्लोक को बार-बार पढ़ा करता हूँ। वह श्लोक उनकी परम करुणा का पूर्ण परिचायक है। श्लोक इस प्रकार है :-

यस्य प्रसादात् पतितास्सुपावना:।
भवन्ति संसार सुताश्णाश्शिवा:।।
योगीश्वराणां परमेश्वरम् हरिं।
श्री रामलाल: प्रभुमीश माश्रये।।

अर्थात् जिनकी कृपा के एक कण को पाकर के अत्यन्त पतित भी परम पवित्र होकर संसार-सागर से तराने की सामर्थ्य वाला हो जाता है, मैं उन योगेश्वरों के ईश्वर प्रभु श्री रामलालजी को बार-बार नमस्कार करता हूँ। यहाँ तक कि समाधियाँ जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है जो चित्त के उत्तरोत्तर परिणामों के साथ प्राप्त होती रहा करती है वह समाधियाँ सबीज समाधियाँ हैं। जिस समय निर्विचार समाधि निर्मल होती है तो मनुष्य को अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। भगवान् पतंजलिदेव ने लिखा है:-

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसाद:।

इस सूत्र का भगवान् व्यासदेव भाष्य करते हुये:-

अशुद्धयावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धि-सत्वस्य रजप्तमोभ्यमनभिभूत: स्वच्छ: स्थिति प्रवाहो वैशारद्यम, यदा निर्विचारस्य समाधेवैंशारेद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसाद: भूतार्थं विषय: क्रमाननुरोधी स्फुटप्रज्ञाऽऽलोक: तथा चोक्तं—

अर्थात् अशुद्धि का आवरण जिसका समाप्त हो चुका है, रज, तम के प्रवाह से निष्फल हुआ, प्रकाशात्मक, पवित्रतम, बुद्धि सत्त्व का जब पूर्ण पवित्र प्रवाह बहने लगता है तो मनुष्य को स्फुट प्रज्ञा लोक हो जाता है। योगियों की परिभाषा में इसी का नाम अध्यात्म प्रसाद, प्रज्ञा प्रसाद, स्फुट प्रज्ञा लोक, ऋतम्भरा प्रज्ञा, सत्त्व पुरुषान्यता-ख्याति-आदि-आदि नामों में कहा गया है, निर्विचार समाधि की निर्मलता में मनुष्य को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञ:

यह ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्वार्था है अर्थात् उस समाहित चित्त में जो बुद्धि पैदा होती है उसी का नाम ऋतम्भरा है और क्योंकि यह सत्य को ही धारण करती है इसलिये इसका नाम ऋतम्भरा है :-

ऋतम् सत्यमेव विभर्त्ति

अर्थात् इसमें किसी भी प्रकार का मिथ्या ज्ञान नहीं होता। इस बुद्धि का विषय आगम और अनुमान से भिन्न होता है क्योंकि वेद शास्त्रों में उपदिष्ट बातें प्रत्यक्षानुभूति में नहीं आई हुई होती। इसी के अनुमानित विषय भी प्रत्यक्ष पूर्वकता होते हैं किन्तु उनका प्रत्यक्ष उस समय का यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं

होता, इसलिये उनके यथादर्शन के बिना मनुष्य की बुद्धि में भ्रम भी हो सकता है किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा के अन्दर उस भ्रम का लवलेश भी नहीं होता। इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है :-

श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्या-
मन्य विषया विशेषार्थत्वात्।

अर्थात् ऋत और अनुमान वाली जो बुद्धि होती है उससे ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय कुछ और ही प्रकार का है क्योंकि ये विशेष अर्थवाली है अन्य समाधियों में पंचभूत और तन्मात्राओं का योगी पूर्णरूपेण साक्षात्कार नहीं कर पाता किन्तु निर्विचार समाधि की निर्मलता में यह हस्तामलक स्पष्ट ज्ञान कराने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा ही उसका बल है जिस समय यह बुद्धि पैदा हो जाती है, अन्य सब संस्कारों को रोक देती है। इसके अपने ही संस्कार कायम रहते हैं और इसके संस्कार उन सब संस्कारों से बलवान् होते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के अन्दर योगी के मन में जो संकल्प बनेगा वह सत्य बनेगा, जो देखेगा सत्य देखेगा। यहाँ आकर के ही मनुष्य सिद्धांतों का निर्णायक बन जाता है और उसका ज्ञान प्रलवन रहित बनता है क्योंकि इससे मिथ्यात्त्व का लवलेश भी नहीं रहता, इस प्रकार के बहुत से महात्मा देखने में आते हैं जिनको हर वस्तु का यथार्थ ज्ञान तत्काल हुआ करता है वे जो कुछ देखते हैं सत्य देखते हैं, जो कुछ सुनते हैं सत्य सुनते हैं, जो कुछ करते हैं सत्य करते हैं। आजकल के अभ्यासी इस चरम स्थिति तक पहुँच नहीं पाते-थोड़ी बहुत अनुभूतियाँ साधारण अभ्यासों से हो पाती हैं और उन अनुभूतियों का ही आधार लेकर वे अपने-आपको सत्य दृष्टा कहलाने की चेष्टा किया करते हैं और उसके परिणाम स्वरूप बहुत-सी गलत बातों का प्रचार होता है जो लोकहित की अपेक्षा लोगों के अनिष्ट का कारण बन जाते हैं। पिछले दिनों में लोगों ने हमारे भारतवर्ष में कईं एक भविष्य वाणियाँ कीं किन्तु परिणाम में वह असत्य ही रहीं, उसका कारण केवल मात्र इतना ही था कि अभी उनकी बुद्धि ऋत को धारण करने वाली बन नहीं पाई थी इसलिये कच्ची स्थिति में ही मान-सम्मान की भूख में भूत-भविष्य की बातें कहने लगते हैं। परिणाम में वे असत्य निकलती हैं जैसे पिछले दिनों अभी दो-चार वर्ष पहले इटली के किसी योगी ने 14 अगस्त को प्रलय की घोषणा की थी और उसका काफी प्रचार हुआ किन्तु वे सब बातें यर्थात रहित थीं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के बिना मनुष्य को समाधि स्थिति में भी सभी अनुभव सत्य नहीं होते, क्योंकि उन अन्य समाधियों में रज और तम की मात्रायें अवशेष रहती हैं। एक प्रकार से साधक के सामने उसका अपना मन ही ऋत जैसा रूप धारण करके खड़ा हो जाता है किन्तु उसके अन्दर ऋत का लवलेश भी नहीं रहता और अपने ही मन की अनुभूति से वह दु:ख को खरीद लेता है। यह अवश्य होता है कि समाधि की पहली भूमिका में भी कभी-कभी उत्तर भूमिकाओं का ज्ञान होने लगता है और उसका कारण केवल मात्र हृदय में निवास करने वाले सर्वशक्तिवान् प्रभु की प्रेरणा ही होती है जो साधक को छोटी भूमिकाओं मे भी अवान्तर भूमिकाओं का बोध होने लगता है और कितनी ही बातें सत्य अनुभव में आने लगती हैं। यह उस पुरुष विशेष परमात्मा की अहेतुकी कृपा का परिणाम होता है जो साधक को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करता है। अन्यथा ऋतम्भरा प्रज्ञा तो निर्विचार समाधि की निर्मलता में ही मनुष्य को प्राप्त हो पाती है :-

एक उदाहरण

एक स्थान पर एक अच्छे योगाभ्यासी साधक निवास करते थे उनको अपने ध्यानाभ्यास की स्थिति में बड़े-बड़े दिव्यानुभव होते रहते थे, लोक-लोकान्तरों का दर्शन होता था, उनके गुरुदेव उनको निर्माण चित्त का आश्रय लेकर कई प्रकार के उपदेश किया करते थे क्योंकि उस साधक की समाधि उत्तरोत्तर निर्मलता की और बढ़ रही थी, इसलिये वह अपनी स्थिति में हर एक स्थिति को ही सत्य समझने लगे क्योंकि वह अपने ही समाधि ज्ञान को सत्य ही समझ बैठे थे कुछ समय के बाद यकायक ऐसा हुआ कि उन्होंने ध्यानयोग में अपने गुरुदेव से उपदेश सुना और उनकी कही हुई बात पर अमल करने लगे। जब उनके गुरुदेव उनको मिले तो उन्होंने बतलाया कि यह तुम्हारी यथार्थानुभूति नहीं है। तुमने यह कदम गलत उठा लिया है। साधक को आश्चर्य हुआ कारण उसका केवलमात्र इतना ही था क्यों कि अभी उसको निर्विचार वैशारद्य प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये प्रज्ञा विवेक निर्मल नहीं था और उसने अपनी गलत अनुभूति को सत्य समझ लिया, परिणाम निष्कर्ष गलत रहा।

निर्विचार वैशारद्य स्थिति का एक और उदाहरण

उपरोक्त लेख में निर्विचार वैशारद्य को भली प्रकार समझाने का प्रयत्न किया गया है ज्यों-ज्यों साधक के प्रयत्न से निर्विचार समाधि निर्मलता को प्राप्त होती है त्यों-त्यों उसका बुद्धि विवेक भी उत्तरोत्तर निर्मल होता चला जाता है और बुद्धि ऋत को धारण करने वाली बन जाती है। ऐसी स्थिति में योगी बिल्कुल सत्य संकल्प होता है, सत्य दृष्टा होता है, वह जो कुछ देखता है सत्य देखता है जो कुछ सुनता है सत्य सुनता है। उसके अनुभव में कभी भी मिथ्यात्व नहीं होता। ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद योगी के संकल्प में ही पूर्णतया सिद्धियों का वास हो जाया करता है। उसके संकल्प कभी भी मिथ्या नहीं होते हैं इसलिए उसको सिद्धि उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती। उसका संकल्प स्वयं ही महाशक्तिशाली रहता है। एक स्थान पर एक अच्छे उच्च कोटि के महात्मा निवास करते थे उनका प्रज्ञा विवेक इतना निर्मल था कि जो होनहार होती वह पहले से ही उनके मन में आभास होने लगती और थोड़ी देर के बाद वह घटना यथार्थरूप में घटित हो जाती। वे स्थान-स्थान वन-वनों में और नगरों के अन्दर घूमते रहा करते थे। एक बार श्री मथुराजी से श्री गोवर्धन की यात्रा कर रहे थे एक और ब्रह्मचारी उनके साथ थे। थोड़ी दूर चलने पर अपने साथ के ब्रह्मचारी से पूछा कि भाई क्या तुम्हें भूख लगी है? उनके साथी ने जवाब दिया, हाँ! मुझे भूख लगी है, पर इस जंगल में क्या हो सकता है। उस महात्मा ने वहाँ उस जंगल में एक जड़ी उखाड़ कर पानी में मिलाई। थोड़ी देर के बाद वह दही की तरह जम गई, वह उन्होंने अपने साथी ब्रह्मचारी को खिला दी व स्वयं भी खा ली। जड़ी में अति बल था उसके खाने से ब्रह्मचारी ने अनुभव किया कि शरीर में नयी स्फूर्ति पैदा हुई, उत्साह वर्धन हुआ। थोड़ी दूर और आगे बढ़े, महात्मा ने अपने अर्धोन्मीलित नेत्रों से ध्यानमग्न रहते हुए अपने साथी ब्रह्मचारी से कहा भाई! हमारे मन में ऐसा विचार आ रहा है कि यहाँ आगे आनेवाले गाँव में एक पटवारी रहता है वह हमारे तुम्हारे लिये भोजन तैयार करा रहा है क्योंकि हमारे मन में यह बात आई है तो अवश्य करा ही रहा है क्योंकि हमारे मन में यह विचार आये हैं। इसलिये सत्य ही है और हमें तुम्हें वह रास्ते पर मिलेगा। पटवारी की आकृति उस महात्मा ने पहले से ही बता दी थोड़ी देर के बाद जब वह आगे बढ़े तो वस्तुत: वही पटवारी गाँव के बाहर खड़ा था। जब ये दोनों महात्मा आगे बढ़े तो उस पटवारी ने नमस्कार किया और आदरपूर्वक प्रार्थना की कि महाराज! मैं बहुत देर से यह सोच ही रहा था कि कहीं से दो महात्मा आ जायें तो भोजन कराऊँ, मेरे मन में था कि कोई दो महात्मा आ रहे होंगे, मेरे बड़े भाग्य से आप दोनों आ गये हैं, कृपा करके मेरे घर में भोजन करो। उस पटवारी ने कहा मैं जैसा चाहता था उसी प्रकार के दो महात्मा मुझे मिल गये वह दोनों को आदर पूर्वक अपने घर ले गया और वहाँ जाकर उसने बहुत शुद्धि के साथ बनाया भोजन कराया। पटवारी वैष्णव था शुद्ध घी से पकवान तैयार कराया था, भोजन करने के उपरान्त वह महात्मा और उनके साथी ब्रह्मचारी राधा कुण्ड चले गये। ब्रह्मचारी ने अनुभव किया कि उनके साथी महात्मा को प्रज्ञा विवेक है और निर्विचार वैशारद्य स्थिति पूर्णरूपेण प्राप्त है। जो व्यक्ति मन के तीनों परिणाम को भली प्रकार से समझते हुए संयम को उपलब्ध करते हैं वे अपने उच्चतम लक्ष्य को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेते हैं। निर्विचार वैशारद्य में जो ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट होती है उसके संस्कार अन्य सभी संस्कारों को रोक देते हैं।

तज्ज: संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी।

अर्थात् उस ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न हो जाने के बाद अन्य सभी संस्कार रुक जाते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के सामने सभी संस्कारों का रुक जाना आनायास ही सिद्ध हो जाता है। केवल मात्र यह ऋतम्भरा प्रज्ञा ही अस्मि प्रत्यय का रूप धारण करके निर्माणोन्मुखी वृत्ति के रूप में शेष रह जाया करती हैं। ऐसी स्थिति में ही जा करके योगी अपने आपको सर्व व्यापक परमात्मा से अभिन्न देखता है और अस्मि अहमेवा अस्मि उसकी वृत्ति अहमेवा अस्मि ''**मथ्येवमिदं सर्वं**'' इसका अनुभव करती है। किन्तु जब चित्तशक्ति अपने स्वरूप में स्थान ग्रहण करती है तब यह वृत्ति भी स्वमेव शान्त हो जाया करती है जैसे अग्नि रूई के ढेर को जला कर अपने आप भी शान्त हो जाती है वैसा ही इस वृत्ति का स्वरूप होता है और यह भी अन्य सभी संस्कारों को विलीन करके अपने आप ही अपने कारण में लय हो जाती है। ऐसी स्थिति को ही

निर्बीज समाधि कहा करते हैं। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं:-

तस्यापि निरोध सर्व

निरोधान्निर्बीजः समाधिः।।

भगवान् व्यासदेव जी भाष्य करते हुए लिखते हैं :-

स न केवलं समाधि प्रज्ञा विरोधी प्रज्ञा कृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति कस्माद् ? निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान बाधत इति, निरोध-स्थितिकाले क्रमानुभवेन निरोधचित्तकृत संस्कारा-स्तित्वमनुमेयम्।।

अर्थात् वह केवल समाधि प्रज्ञा की ही विरोधी नही करती है, प्रत्युत समाधि प्रज्ञा के द्वारा होने वाले संस्कारों को रोकती है क्योंकि निरोध के संस्कार समाधि के संस्कारों को रोकते हैं। निरोध संस्कार काल में निरोध चित्त के ही संस्कार रहते हैं अन्य संस्कार सब रुक जाते हैं। इसी प्रकार से मनुष्य अपने परम पुरुषार्थ को पाकर के परम श्रेय का भागी बन जाता है एवं गुणों का अवसान हो जाने के बाद कैवली भाव को प्राप्त होता है।

संयम और सिद्धियाँ

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग के दशवें अङ्क में संयम के साथ गुरुदेव का क्या सम्बन्ध है, इन भावों को बतलाने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य अपने प्रयत्न से अष्टांग योग की साधना करता हुआ क्रमश: धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास करता हुआ अपने मन को संयमित कर सकता है। अष्टांग योग का अर्थ है कि साधक महामुनि पतंजलिदेव के बतलाये हुए योग के आठों अंगों की साधना बाकायदा करता हुआ अपने पुरुषार्थ से समाधि को प्राप्त होकर संयम तक पहुँच जाये। यह स्थिति साधक अपने प्रयत्न से ही उपलब्ध कर सकता है एवं गुरुदेव की महान कृपा को पाकर तो सब कुछ सम्भव हो ही जाया करता है। श्री गुरुदेव के परम अनुग्रह से या अपने प्रयत्न से जिस भी प्रकार से मनुष्य उद्यम के साथ अपने आपको संयम तक बढ़ाते हैं फिर उनके लिए सिद्धियों का द्वार खुल जाता है। शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधनों का कुछ वर्णन सिद्धयोग के अगले अङ्क में प्रकाशित करा दिया गया है। उस लेख में संयम के अतिरिक्त शक्ति प्राप्ति के और भी अनेक साधनों का वर्णन किया गया है। सिद्धि मनुष्य की अपनी शक्ति है। शक्ति ही सब कामों में प्राणी मात्र की लक्ष्यीभूत बनी रहा करती है। संसार में जन्म लेने वाले हर व्यक्ति का सिद्धि प्राप्त करना ही स्वाभाविक लक्ष्य रहता है क्योंकि सिद्धि ही उसका अपना बल है। हमारे ऋषि स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:

अर्थात् आत्मपद की प्राप्ति बलहीन मनुष्य को नहीं हुआ करती अत: यह परम आवश्यक है कि मनुष्य ज्यों–ज्यों किसी भी प्रकार अपनी साधनाओं की ओर प्रगति करे त्यों–त्यों ही उसका सिद्धि भाजन हो जाना भी निहायत आवश्यक है। सिद्धियों के विषय में हमें योग दर्शन बतलाता है :–

ते समाधावुपसगा व्युत्थाने सिद्धय:

अर्थात् प्रातिभज्ञानादिक सिद्धियाँ जब योगी को पैदा होती हैं व समाहित चित्त में उपसर्गाभूत मानी जाती हैं। किन्तु वे ही सिद्धियाँ समाधि से अतिरिक्त उत्थानावस्था के चित्त में सिद्धियाँ ही होती हैं। योगी का मन ज्यों–ज्यों एकाग्र होता चला जाता है, त्यों–त्यों वह सिद्धि भाजन बनता चला जाता है और वे सिद्धियाँ ही योगी का अपना बल होती हैं। योग–दर्शन के उपरोक्त सूत्र का आधारभूत लेकर बहुत से लोग सिद्धि प्राप्ति की निन्दा किया करते हैं किन्तु बात इस प्रकार की है नहीं। ज्यों–ज्यों योगी अन्तर भूमिकाओं में प्रवेश करने लगेगा। त्यों–त्यों ही उसका मन सिद्धि भाजन बनता चला जायेगा। बहुत सी सभाओं में हमने लोगों को सिद्धियों की निन्दा करते देखा है। उन लोगों का कहना होता है कि मनुष्य को सिद्धियों के चक्र में नहीं पड़ना चाहिए। जो लोग सिद्धियों के अभ्यास में लगे रहते हैं वे लोग अपने समाधि मार्ग से पीछे हट जाया करते हैं। यह बात उसी दशा में कही जा सकती है जबकि मनुष्य शास्त्रोक्त सिद्धान्तों को न समझता हो। शास्त्र–ज्ञाता पुरुष कोई भी इतनी बड़ी भूल की बात अपनी वाणी से नहीं कहेगा। उपरोक्त सिद्धान्त को सामने रखने वाला व्यक्ति संसार में बिल्कुल अकर्मण्य रहेगा क्योंकि उसको हर समय यह भय रहेगा कि जब भी शरीर में किसी प्रकार का बल होगा या किसी सिद्धि–शक्ति का उदय होगा उससे लोगों के अनिष्ट होने का भय बना रहेगा या साधक मान–अपमान के झमेले में पड़ सकता है। धीर पुरुषों को कभी–कभी इस प्रकार के कायरता वाले संस्कारों को अपने मन में उठने नहीं देना चाहिये। एक पहलवान खाता है, पीता है, हजारों प्रकार के व्यायाम करता है, उसके शरीर में अतुल बल बढ़ता है। कदाचित वह पहलवान अपने मन के अन्दर यह विचार करे कि शरीर में बल बढ़ाना उपयुक्त नहीं है क्योंकि बल हो जाने पर जिसको चाहे दण्ड दिया जा सकता है, मारा पीटा जा सकता है। इसलिए अच्छा यही है, कहीं इस बात से किसी का अनिष्ट न हो जाय, अत: बल रहित ही बना रहना चाहिए।

यह कायरों का सिद्धान्त है। आज से लगभग 90-100 वर्ष पहले कुछ साधुओं ने इस प्रकार के भावों का प्रचार किया जाए कि जो पढ़ेगा वह भी समय आने पर मर ही जायेगा और जो अनपढ़ मूर्ख रहेगा वह भी समय आने पर मर ही जायेगा, इसलिए व्यर्थ शास्त्र के अभ्यास के अन्दर इतना लम्बा समय क्यों खराब किया जाय। आलसी और उत्साह रहित लोगों के इन विचारों ने समाज का बड़ा अनिष्ट किया और उनके पग-पग चमकने वाले उज्ज्वल जीवन को मृणमय बना दिया। अत: सिद्धि मनुष्य का बल है और जो व्यक्ति बलहीन है उसको कभी भी आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य को **''येन केन उपायेन''** अपने अन्दर शक्ति का विकास करना चाहिये एवं सिद्ध शक्तिवान् होना चाहिये। किन्तु जिस प्रकार एक स्वस्थ एवं बलिष्ठ मनुष्य शरीर के बल होने पर एवं हाथ में कृपाण रहने पर भी वह किसी को मारता-काटता नहीं फिरता किन्तु ठीक समय के सदुपयोग के लिए अपनी उस ताकत को सम्भाले रहा करता है। जो समय आने पर उसकी सहायक हुआ करती है। संयम के आधार पर मनुष्य जिस-जिस प्रकार से सिद्धियाँ प्राप्त करता है, उसका वर्णन इसी लेख में आगे चलकर करेंगे उससे पहले शास्त्र संविधान से जो सिद्धियाँ उपलब्ध हुआ करती हैं उसका थोड़ा सा वर्णन कर देना उपयुक्त समझते हैं। योग दर्शन में कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में भगवान पतंजलिदेव ने विविध उपायों से होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया है।

जन्मौषधिमन्त्रतप: समाधिजा: सिद्धय:।

अर्थात् कुछ सिद्धियाँ प्राणी को जन्म के साथ उपलब्ध हुआ करती हैं। कुछ सिद्धियाँ औषधियों से एवं कुछ सिद्धियाँ मंत्र, तप एवं समाधि के द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान् व्यासदेवजी निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं।

देहान्तरिता जन्मना सिद्धि: औषधिभिर सुर-भवनेषु रसायनेत्येवमादि मन्त्रैराकाशगमनाणिमादि लाभ: तपसा संकल्पसिद्धि: कामरूपी यत्र तत्र काम-गइत्येवमादि समाधिज्ञा: सिद्धयों व्याख्याता:।।

जन्मजासिद्धि

अर्थात् देहान्तरिता जन्मजा सिद्धि का अर्थ है पूर्व जन्म के अर्जित पुण्य के प्रभाव से इस जन्म में सांसिद्धिक ज्ञान का हो जाना, जैसे भगवान कपिलदेव आदि को हुआ। इस सिद्धि का संकेत समाधि पाद के 16 वें सूत्र में भगवान पतंजलिदेव ने किया है :-

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

अर्थात् विदेहानाम् प्रकृतिलयानाम च योगिनाम भव प्रत्ययों भवति। अर्थात् जो लोग देवलोक से आकर जन्म लेते हैं और प्रकृतिलीन योगी जिनको अपने साधन में अपूर्णता के कारण संसार में पुन: जन्म लेना पड़ता है इनको जन्म से ही पौर्व दैहिक ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है। इस विषय का पूरा-पूरा संकेत अखिल लोक पावन विश्वात्मा भगवान श्री कृष्णचंद्र ने गीता के छठे अध्याय में इस प्रकार से किया है। अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से प्रश्न किया :-

अयति: श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानस:।
अप्राप्य योग संसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति।।
गीता 6 : 37

कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट श्छिन्नभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मण: पथि।।
गीता 6 : 38

एतन्मे संशय कृष्ण छेत्तु मर्हस्यशेषत्।।
त्वदन्य संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।
गीता 6 : 39

अर्थात् जो व्यक्ति श्रद्धा युक्त है और योग साधना की पूर्णता के बिना ही प्रमादवश जिसका मन विचलित हो चुका है वह योग संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है। कहीं ऐसा तो नहीं होता जैसे आकाश में फूटे हुए बादलों के समान वह ब्रह्म मार्ग से भ्रष्ट हो जाया करता है। इसलिए हे श्री कृष्ण आप कृपा करके मेरे इस संशय का नाश करें। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित श्लोकों में इस प्रकार दिया :—

पार्थनैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिंतात गच्छति।।
गीता 6 : 40

प्राप्य पुण्यकृतां लोका नुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
गीता 6 : 41

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम।।
गीता 6 : 42

तत्र तं बुद्धि संयोग लभते पौर्वदेहिकम।
यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
गीता 6 : 43

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपिस:।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।।
गीता 6 : 44

अर्थात् भगवान श्री कृष्णजी ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का इस लोक और परलोक में कभी भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता जिसने इतनी तीव्रतम साधना की है और किसी अन्तराय से वह परम श्रेय भागी नहीं बन सका तो भी वह पुण्यात्माओं के पवित्र लोक में पवित्र धनवानों के घर में अथवा योगियों के ही घरों में जन्म ले लिया करते हैं। इस प्रकार का जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म प्राप्त कर लेने के बाद वहाँ पर उसको पुन: पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग प्राप्त हो जाया करता है जिसको प्राप्त करके वह साधक अपनी साधना को पूर्ण करने के लिए पुन: प्रयत्न करता है उसका पूर्व जन्म में किया हुआ अभ्यास उसे पूरी-पूरी प्रेरणा देकर इसी अभ्यास में संयुक्त कर देता है और विवश होकर के साधक को वह पूर्व अभ्यास करना पड़ता है। इस पवित्र योग का अभ्यास भी शब्द ब्रह्म के दायरे से (अर्थात् कर्मकाण्ड के दायरे से) अनायास ही ऊपर उठ जाया करता है।

जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण का यह संकेत भव प्रत्यय का संकेत है। इसी को भगवान पतंजलिदेव ने देहान्तरिता सिद्धि के रूप में वर्णन किया क्योंकि ये सिद्धि पूर्व जन्मारजित है। इसमें योगी को इस जन्म में कोई विशेष अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एक उदाहरण

हमारे दिल्ली के योग प्रचार कार्यक्रम में जब दिल्ली में प्रो. ऋषिराम की कोठी पर ही योग प्रचार कार्यक्रम चल रहा था उस समय उन्हीं के हिन्दू कालेज में अध्ययन करने वाला एक छात्र इस प्रकार का आया जिसने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में बतलाया जिसको पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग से भगवान् विष्णु के चतुर्भुज दर्शन चिन्तनमात्र से हर समय होते रहा करते हैं। ये उसके देहान्तर में उपार्जित किये हुये पुण्य का फल था। जो इस जन्म में अनायास ही उसके सामने प्रगट रहता था। वैसे इस प्रकार की स्थिति को उपलब्ध करने के लिये सहस्रों साधक प्रयत्नशील रहा करते हैं। वह अभन्तर धारणा के द्वारा भगवान् के स्वरूप को हृदयांगम करने के लिये पूरे-पूरे प्रयत्नशील रहा करते हैं। घण्टों लगातार मानस पूजन करते हैं। तीव्रतम तपश्चर्या एवं स्वाध्याय पूर्वक स्थिति को सम्पादन करने के लिये प्रयत्नशील रहा करते हैं किन्तु घोर प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु उस विद्यार्थी को पूर्व जन्म के अभ्यास के फलस्वरूप यह स्थिति इस जन्म में जन्म लेने के बाद अनायास स्वत: ही प्राप्त थी यही देहान्तरिता सिद्धि शुद्ध स्वरूप है। कोई-कोई भाष्यकार या अनुभवी साधु जन्म-सिद्धि का स्वरूप दूसरे रूपों से भी बतलाते हैं जैसे पक्षियों को स्वत: ही आकाश गमन प्राप्त होता है। यह भी उनके इसी पौर्व दैहिक कर्म के ही फलस्वरूप उनको यह जन्म धारण करके आकाश गमन के लिये प्रयत्न करने की साधना नहीं करनी पड़ी। मछली और कछुए को स्वत: ही जल में श्वास लेने की शक्ति प्राप्त है। स्थल में रहने वो जीवों को यह ताकत प्राप्त नहीं होती, वे लोग यदि जल में डूबने का अभ्यास करेंगे तो उनको विशेष प्रकार के अभ्यास करने पड़ेंगे। जिनके फलस्वरूप वे इस ताकत को प्राप्त कर सकेंगे। अत: यह जन्म लेने के बाद स्वभाव से प्राप्त होने वाली सिद्धि का रूपक है। उसके बाद दूसरी कुछ सिद्धियाँ इस प्रकार की हुआ करती हैं जो दिव्य औषधियों से उपलब्ध करते हैं।

औषधिजा सिद्धियाँ

औषधिजा सिद्धि का अर्थ है दिव्य रसायनों के सेवन करने से शरीर के अन्दर जो विशेष प्रकार की शक्ति प्रगट हो

जाती है वह औषधिजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। जैसे साधारण-तया संसार में देखने में आता है पारे की योग की औषधियों के सेवन करने से मनुष्य बड़ी जल्दी दिव्य बल को पा लिया करता है। आम तौर पर शरीर में होने वाले रोगों की चिकित्सा डॉक्टर और कुशल वैद्य किया करते हैं और उस रोग की निवृत्ति के लिये उन दिव्य औषधियों का सेवन कराया करते हैं। दिव्य औषधियों का सेवन करने से रोगी का रोग नष्ट हो जाता है और शरीर में स्थाई बल प्राप्त हो जाया करता है, इसके अतिरिक्त पारद के कुछ और भी इस प्रकार के योग हैं जिनको विधिवत् सेवन करने पर मनुष्य आकाश गमन आदि ताकत को प्राप्त करता है। साधारणतया किसी को बुद्धि विकास के उपयोग के लिये वैद्य लोग ब्राह्मी रसायन आदि का सेवन कराया करते हैं। ब्राह्मी बूटी के सेवन करने से मनुष्य को क्या-क्या लाभ पहुँचते हैं वे सभी बातें तो हर व्यक्ति नहीं जानता किन्तु इतना ज्ञान सभी को अवश्य है कि **ब्राह्मी बूटी को दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की मस्तिष्क शक्ति केन्द्रित होती है** और उसको बुद्धिबल मिलता है। इसका बहुत से लोगों को अनुभव है और वे लोग अधिकांश में ब्राह्मी बूटी का सेवन किया करते हैं। भांग, धतूरा या गांजा आदि के सेवन करने से मनुष्य भारी मद को प्राप्त होता है। वह अपने बाह्य बोध से शून्य हो जाया करता है और बुद्धि विवेक से खाली हो जाता है यह उन औषधियों में रहने वाले प्रवाह का परिणाम है। जिसको मनुष्य तत्काल नहीं देख लेता है। हिमालय पर्वत की तराइयों में कुछ इस प्रकार की दिव्य बूटिया भी मिलती हैं जिनके प्रयोग से मनुष्य जल्दी ही अपने आपको समाहित कर लेता है किन्तु जिस प्रकार से सिद्ध पुरुषों का सहसा हर किसी के लिए जानना सम्भव नहीं होता उसी प्रकार दिव्य औषधियों की प्राप्ति भी हर व्यक्ति को सुलभ नहीं हुआ करती। दिव्य औषधियों को प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना हर व्यक्ति को सिद्धों के दर्शन पा जाना। किन्तु जो लोग स्वाध्याय शील है एवं ब्रह्मचर्य व्रत से रहने वाले हैं उनको इस प्रकार की औषधियाँ सुलभ हो जाया करती हैं।

एक उदाहरण

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध योगिराज श्री नृसिंह मूर्ति, जो मेरे छोटे गुरु भाई हैं, उन्होंने कुछ दिन पहले घटित हुई एक घटना का समाचार मुझे बतलाया। उनके दक्षिण प्रान्त में बड़े-बड़े दिव्य देव मन्दिर हैं जिनको देख करके मनुष्य को आत्मसंतोष मिलता है। वहां पर किसी नगर के एक दिव्य मन्दिर में संस्कृत पाठशाला थी और उसके अध्यापक एक उच्च कोटि के विद्वान थे उनके घर में क्रमश: सात पुत्र उत्पन्न हुए और वो सभी एक से एक ऊँचे विद्वान बने किन्तु ज्योंहि वो युवा हुए त्योंहि काल ग्रास बन गये। इससे पंडित जी को बड़ा भारी कष्ट हुआ। अत: उन्होंने अपने सातवें बच्चे को बिल्कुल मूर्ख रख लिया ताकि विद्वता को पाकर कहीं वह भी काल का ग्रास न बन जाए। वह बच्चा पण्डित के इस प्रयास से जिन्दा तो रह गया किन्तु अत्यन्त मूर्ख था। पंडित जी इसी चिन्ता के अन्दर रहा करते थे किन्तु स्वाध्याशील व्यक्ति थे। स्वाध्यायशील व्यक्ति कभी खाली नहीं रहता। योगदर्शन हमें बतलाया है :-

स्वाध्यायादिदेवता सम्प्रयोग:।

अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति को इष्टदेव की कृपा अवश्य प्राप्त होती है। और उसके साथ-साथ इस सूत्र का भगवान व्यासदेवजी भाष्य करते हैं :-

देवा ऋषय: सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्य्येचास्य वर्त्तन्ते इति।

अर्थात् देवता, ऋषि और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्तियों के सामने जाया करते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। पंडित जी के तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद उनके घर में एक महात्मा आकर ठहरे, उन्होंने पंडित जी के उस पुत्र को मूर्ख देखा ओर उनके ह्रदय में बड़ा भारी दु:ख हुआ और उनको दया आ गई। उनके पास विद्युल्ललता नाम की दिव्य औषधि थी जिसके सेवन कराने से बच्चे का विद्वान हो जाना स्वाभाविक था। महात्माजी ने उस बच्चे को अपने पास बुला लिया और उसको विद्युल्ललता नाम दिव्य औषधि का सेवन पवित्र गौ दूध से करा दिया जिसके सेवन करने से वह बच्चा थोड़ी दिनों में ही अपने पिता के पढ़ाए हुए पाठ को सुनने मात्र से ही धारण कर लिया करता और वह अपने बुद्धि कौशल से पूर्ण विद्वान बन गया। एक रोज उसके पिता कहीं अन्यत्र गये हुए थे उनके बाद उसने पाठशाला जाकर विद्यार्थियों की शिक्षा देनी आरम्भ की इतने में उसके पिता आ गये और इस बात को

देखकर उनको भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरा यह बच्चा जो मैंने मूर्ख रख दिया था, इतना विद्वान कैसे बन गया। बच्चे से सब बातें उसके पिता ने पूँछी। उस बच्चे ने सत्य व स्पष्ट बतला दिया कि घर में अतिथि रूप में आये हुए महात्मा जी ने विद्युल्ल-लता नाम की दिव्य औषधि का सेवन कराया है। जिससे उसका इतना बड़ा बुद्धि विकास बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप वह सुनने मात्र से ही इतना बड़ा विद्वान हो गया है। यह वनो औषधि विद्युल्ल लता का प्रभाव था। इसी प्रकार की और भी कई एक दिव्य औषधियाँ अनुभवी महात्माओं को मिलती हैं। मेरे गुरु देव जी स्वयं अपने मुखारबिन्द से चान्द्रायण बूटी नाम की एक बूटी का वर्णन किया करते थे। श्री प्रभुजी अपने मुखार बिन्द से कहा करते थे कि चान्द्रायण बूटी को सेवन करने से मनुष्य को अनायास ही समाधि प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। वनों मे रहने वाले साधु वर्षों की तपश्चर्या के बाद इस बूटी को प्राप्त किया करते हैं। सुनते हैं चान्द्रायण बूटी की जड़ में एक भयंकर नाग हर समय निवास किया करता है। जो लोग इस बूटी को उखाड़ना चाहते हैं वे लोग धीरे-धीरे जा करके इस बूटी को रेशम के धागे से सख्त बांध कर चले आया करते हैं। कदाचित सर्प के वार से वह लोग बच जायें तो इस बूटी को घोट कर पी लेने मात्र से उनका चित्त समाहित हो जाया करता है और तत्काल ही उनको दिव्यानुभूति प्रारम्भ हो जाया करती है फिर शनै: शनै: समाधि प्रज्ञा निर्मल होती रहती है और ये लोग भी समाधि को प्राप्त हो जाते हैं। अत: औषधियों से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह अवश्य सम्भावी बात है।

मन्त्रजा सिद्धियाँ

मन्त्रजा सिद्धियों के विषय में साधनपाद के 44 वें सूत्र में स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि मन्त्र जप करने से मनुष्य इतनी बड़ी ताकत को प्राप्त कर सकता है। भगवान् पतंजलिदेव बतलाते हैं :-

स्वाध्यायायादिष्टदेवता सम्प्रयोग:।

भगवान् व्यासदेवजी भाष्य करते हुए लिखते हैं :-

देवा, ऋषय:, सिद्धाश्च, स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छति कार्यचास्य वर्त्तन्ते।

अर्थात् मनुष्य का स्वाध्याय बल बढ़ जाने के बाद ऋषि, देवता और सिद्ध लोग उसको दर्शन दिया करते हैं और अपने मन की ताकत से उसके सब काम कर दिया करते हैं। यही स्वाध्याय पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ मनुष्य को समाधि तक पहुँचाने का कारण बन जाता है। जब मनुष्य मंत्र के बल से समाधि योग को प्राप्त होता है तो वह समाधि सिद्धियों का भाजन स्वयं बन जाता है। जो व्यक्ति किसी भी मंत्र का अनवरत जप करता रहता है उसके मन में एक विशेष प्रकार की ताकत इष्टदेव की ताकत एवं सिद्धों की ताकत साधक को प्राप्त होती है। उसका परिणाम यह निकलता है जो व्यक्ति स्वाध्याय के बल से मत्रों को सिद्ध कर लेते हैं वे लोग कभी भी किसी भी आपत्ति के समय में जब उस मंत्र को स्मरण करते हैं तभी उसको पूर्ण रूपेण मनोबल प्राप्त होता है और उनका अनिष्ट बिल्कुल दूर हो जाया करता है। आम तौर पर हमारे शास्त्रों में मंत्रानुष्ठान करने की विधियाँ लिखी हैं। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जो व्यक्ति मंत्रानुष्ठान करते हैं उनकी अवश्य ही इष्टदेव का दर्शन होता है।

अनुष्ठान की साधारण विधि

अनुष्ठान करने की विधियों में हमारे आचार्य मंत्र का कुछ भाग यज्ञ के लिये, कुछ ब्राह्मण भोजन दान-दक्षिणा आदि के लिए उपयोग करते हैं बल्कि उसके अतिरिक्त जो व्यक्ति इस लम्बे-चौड़े झमेले में नहीं पड़ना चाहते उनको चाहिए जिस मंत्र का वे लोग जप करते हैं उस मंत्र में जितने अभ्यस्त हुआ करते हैं और उनकी कृपा से उसको अपने मनोरथ प्राप्त होते हैं किन्तु यही अनुष्ठान निष्काम भाव से किया हुआ मनुष्य को समाधि द्वार तक पहुँचा देता है। स्वाध्याय क्लेशों के तन्वीयकरण के लिए एवं समाधि की पुष्टि के लिए हुआ करता है। योग दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव ने :- **तप:स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योग:** कह करके क्रिया योग के तीन स्तम्भ बतलाये हैं। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान और इन तीनों का फल निर्देश करते हुए यह सूत्र लिखा है :-

समाधि भावनार्थ: कलेशतनकरणर्थश्च

अर्थात् ये तप स्वाध्याय और प्रणिधान क्रिया योग के तीनों अङ्ग समाधि की पुष्टि के लिए एवं क्लेशों के हल्का बनाने के लिये हैं अत: निष्काम भाव से किया हुआ स्वाध्याय भी समाधि का जनक है। मंत्रानुष्ठान की अन्यान्य विधियों का

आश्रय लेने से व्यक्ति विविध प्रकार की मंत्र शक्तियों को पा जाते हैं। सर्व विष के उतारने के मंत्र, बिच्छू के विष को उतारने के मंत्र मानस रोग निवारण करने के मंत्र आदि जितने मंत्र संसार में प्रचारित हैं। वे सब के सब मंत्रजा सिद्धि के अङ्गभूत है। मंत्र बल से जो शक्ति मिले वह मंत्रजा सिद्धि कहलाती है।

तपोजा सिद्धियाँ

कुछ सिद्धियाँ तप के द्वारा मनुष्य को प्राप्त हुआ करती हैं। वे सिद्धियाँ तपोजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। भगवान् पतंजलिदेव जी लिखते हैं :-

कार्येन्द्रियसिद्धिर शुद्धिक्षयात्तपस:।।

भगवान् व्यासदेव भाष्य करते हुए लिखते हैं :-

निर्वर्त्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्धयावरणमल तदावरणमलापगमात कायसिद्धि: अणिमाद्या, तथेन्द्रिय सिद्धि: दूराच्छवणदर्शनाद्येति।।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के आवरण रूप मल के यक्ष हो जाने पर मनुष्य को कायक सिद्धि, अणिमादिक और कायक सिद्धि, दूर-श्रवण और दूर दर्शन आदि स्वभावत: प्राप्त हो जाया करती है। तप का अर्थ है :- द्वन्द्व सहनम् तप:। अर्थात् सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है और योग में प्राणायाम से बढ करके अन्य किसी तप को कोई महत्व नहीं दिया है। तप के द्वारा मनुष्य को उत्तरोत्तर अशुद्ध के नाश होने से सिद्धियाँ आदि और एन्द्रिय सिद्धियाँ दूर-श्रवण, दूर-दर्शन आदि प्राप्त हुआ करती हैं। इसका कारण केवलमात्र इतना ही है कि तप से अशुद्धि का नाश होता है और अशुद्धि नाश होने से रज और तम का आवरण नष्ट हो जाता है। योगाचार्यों के संविधान में प्राणायाम से बढ़कर और किसी तप का महत्व नहीं है। मनु जी महाराज मनुस्मृति में बतलाते हैं :-

अर्थात् जिस प्रकार सोना चांदी आदि धातुओं को पकाने से उनके मल जल जाते हैं उसी प्रकार से प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के मल जल जाते हैं और इन्द्रियों के मल जल जाने पर दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि एन्द्रिय सिद्धि मनुष्य को स्वभावत: प्राप्त हो जाया करती हैं।

मनुजी महाराज के उपरोक्त श्लोक के द्वारा एवं भगवान पतंजलि देव के बतलाये हुए :-

कायेन्द्रियसिद्धिर शुक्षयातपस:

इस सूत्र के द्वारा इस निश्चित सिद्धान्त की पुष्टि की गई कि मनुष्य तप के बल से कायिक एवं इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

प्राणायाम के द्वारा कायिक एवं एन्द्रिऐं वाले एक साधक का उदाहरण

हमारे आश्रम के एक अभ्यासी साधक ने एक एकान्त स्थान में रहकर प्राणायाम का अभ्यास शुरू किया। शनै: शनै: अभ्यास बढ़ाने के बाद वह 20 प्राणायाम प्रात:, 20 प्राणायाम दोपहर, 20 प्राणायाम सायंकाल, 20 प्राणायाम अर्धरात्रि शास्त्र विधि के अनुसार अभ्यास करने लगा। शनै: शनै: वह प्राणायाम के अभ्यास की गयी मात्रा को बढ़ाता गया। अभ्यास बढ़ जाने के बाद उसके समीपस्थ लोगों ने प्राणायाम के बल से होने वाली कायिक एवं एन्द्रिय सिद्धियों को समय-समय पर अनुभव किया। एक बार वह प्राणायाम के अभ्यास से कहीं पहाड़ी स्थान में बैठा हुआ था। प्राणायाम के बल से उसके हृदय में प्रकाशावर्ण क्षय हो चुका था। वृत्ति अन्तर जगत में लीन थी इतनी देर में उसके सामने पहाड़ी भ्रमण के लिए आया हुआ एक डॉक्टर पहुँचा। डॉक्टर घूमता हुआ सामने से निकल गया वह डॉक्टर अमृतसर का रहने वाला था। अचानक उस प्राणायाम के अभ्यासी योगी की दृष्टि उस डॉक्टर पर पड़ी। डॉक्टर की शक्ल को देखकर उसका मन उसके मकान की ओर गया। ज्योंहीं योगी के मन में उसके मकान का चिन्तन किंचित् आरम्भ हुआ त्यों ही दूर-दर्शन एन्द्रिय सिद्धि से उसने देखा कि उसके तिमंजिलें मकान से उसके दो बच्चे परस्पर लड़ते-झगड़ते नीचे गिर गये हैं। प्राणायाम अभ्यासी योगी ने अपने एक साधक की ओर संकेत करके उस भ्रमाणार्थ आये हुए डॉक्टर को अपने पास बुला लिया और पास आने पर उसने कहा क्या तुम डॉक्टर हो? डाक्टर ने जवाब दिया हाँ महाराज मैं डॉक्टर हूँ। क्या तुम अमृतसर के रहने वाले हो। डॉक्टर ने कहा हाँ जी महाराज मैं अमृतसर का रहने वाला हूँ। डॉक्टर के ऐसा कह देने के बाद

उस योगाभ्यासी नवयुवक ने डॉक्टर से कहा कि तुम्हारे दो बच्चे अभी-लड़ते हुए तुम्हारे तिमंजिलें मकान से नीचे गिर गये हैं। तुम्हारा छोटा भाई तुम्हें टेलीफोन करने के लिए घर से चल पड़ा। तुम सीधे डाकखाने चले जाओ, तुम्हारा टेलीफोन आने वाला है। अपने भाई से बच्चे का समाचार सुनकर तुम अपने घर अमृतसर लौट जाना किन्तु तुम किसी बात की चिन्ता मत करो तुम्हारे बच्चों पर हमारी दृष्टि पड़ गई है उनका बाल बांका नहीं होगा। तुम जब घर पहुँचोगे वे सब प्रकार से प्रसन्न मिलेंगे। योगी ने दूरदर्शन के द्वारा उस बच्चे के कुल समाचार बतला दिये और उस डॉक्टर ने अपने घर जाकर देखा तो उस योगी की बताई हुई सब बातें यथार्थ निकली। तीन दिन के बाद डॉक्टर ने पुन: योगी के दर्शन प्राप्त किये और घटना को यथार्थ बतलाया। इसी प्रकार से इस युवक के अभ्यास काल में उसके सत्संग में रहने वाले लोगों ने इसकी अन्तर्ध्यान क्रिया को देखा और कई इसी प्रकार की घटनायें घटित हुईं।

समाधिजा सिद्धियाँ

इस लेख के ऊपर के भाग में जन्म औषधि-मंत्र एवं तप से होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया जा चुका है। पाँचवीं प्रकार की सिद्धियाँ समाधि से उपलब्ध होने वाली होती हैं। हम अपने पिछले लेखों में समाधि की परिभाषा भली प्रकार समझा चुके हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने समाधि की पतन रहित स्थिति को संयम कहा है। वस्तुत: संयम ही सिद्धियों का जनक हैं। संयम की परिभाषा भगवान् पतंजलिदेव ने ''**त्रैमेकव संयम:**'' कहकर प्रचारित की है त्रयमेकत्र संयम: का अर्थ धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक विषयक ही हों। अर्थात् जिस अवस्था पर धारणा का अभ्यास किया जाय। धारणा-काल में मन उसी में लगा रहे और तदन्तर धारण के धारा प्रवाहिक अभ्यास के बाद वह धारणा ही सदृश प्रवाह के रूप में बदल कर ध्यान के रूप में प्रस्फुटित हो जाय और इसी प्रकार दीर्घ काल नैरन्तर्य एवं आदरपूर्वक किये हुए अभ्यास के बल से वह ध्यान ही तदाकार रूप धारण कर समाधि को प्राप्त हो जाय। जब साधक का अभ्यास इतना परिपक्व हो जाता है कि उसका मन धारणा काल में, ध्यान काल एवं समाधि काल में भी अनवरत एक विषयक ही बना रहता है। समाधि की इस प्रकार की स्थिति को संयम कहते हैं और ये संयम ही भिन्न-भिन्न भूमियों में लगाने पर समाधि का जनक हो जाया करता है। भगवान् पतंजलिदेव ने संयम पर विजय प्राप्त कर लेने पर उसका क्या परिणाम रहता है यह स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है :-

तज्जपात् प्रज्ञाऽऽलोक:

इसका अर्थ स्पष्ट करते हुये भगवान् व्यासदेव निम्नांकित पंक्ति में लिखा है :-

तस्य संयमस्य जयात्समाधि प्रज्ञाया भवत्या-लोक: यथा यथा संयम: स्थिरपदो भवति तथा-तथा समाधि प्रज्ञा विशारदी भवति।।

अर्थात् संयम की परिपक्व स्थिति हो जाने पर साधक की समाधि प्रज्ञा बिल्कुल निर्मल हो जाती है। तभी उसका रूप ज्ञान एवं विज्ञान पर पार पा जाने वाला बन जाता है। प्रज्ञा लोक हो जाने के बाद ही भगवान् पतंजलिदेव ने :-

तस्य भूमिषु विनियोग:।

यह सूत्र कह करके संयम को अन्यान्य भूमिकाओं में लगाने का निर्देश किया है। समाधि प्रज्ञा को प्राप्त हुआ संयम जहाँ-जहाँ लगाया जायेगा उस वस्तु के ज्ञान को तत्काल अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। इसी संयम के आधार पर योगदर्शन के विभूतिपाद की सारी विभूतियाँ आधारित हैं। संयम के बल पर मनुष्य किन-किन सिद्धियों को किस प्रकार से प्राप्त करता है इसका बहुत बड़ा उल्लेख योगदर्शन के विभूतिपाद में है। समाधिजा सिद्धियों का रूपक समझाने के लिये योगी संयमित मन के आधार पर जिन-जिन ताकतों को जिस प्रकार से प्राप्त करते हैं, उसका थोड़ा सा संकेत हम निम्नलिखित पंक्तियों में कर देना उचित समझते हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने योग-समाधि दो प्रकार की मानी है-

1. संप्रज्ञात 2. असंप्रज्ञात

संप्रज्ञात योग का अभ्यासी मनुष्य पहले सवितर्क समाधि का अवलम्ब लेता है।

चित्तस्यालम्बेने स्थूल आभोग:।

भगवान् पतंजलिदेव अनुसार चित्त का स्थूल विषय का अवलम्ब लेना वितर्कानुगत समाधि कहलाती है। इसके बाद सूक्ष्म का अवलम्ब विचारानुगत और उसके बाद सूक्ष्मतर लक्ष्य का अवलम्ब आनन्दानुगत एवं उससे भी

सूक्ष्मतम विषय में चित्त को समाहित करना संप्रज्ञात योग की अस्मितानुगत समाधि कहलाती है। संप्रज्ञात योग का इन चार प्रकार की समाधियो में संयम करने वाला व्यक्ति प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझकर उन पर पूर्ण रूपेण अधिकार प्राप्त कर लेता हूँ। इससे उसका नाम ज्ञान-तृप्तात्मा हो जाता है। भगवान जगदात्मा श्री कृष्णचन्द्र जी ने युक्त योगी की परिभाषा श्री मद्‌भगवद्‌गीता के छठे अध्याय में निम्नांकित श्लोक में स्पष्ट रूप से व्यक्त की है :-

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त: इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म काँचन:।।
गीता 6 :8

अर्थात् जो योगी प्रकृति के सब नियमों को समझ कर उन पर पूर्ण रूपेण अधिकार प्राप्त कर लेता है, और इसी प्रकार समाधि प्रज्ञा के निर्मल हो जाने पर आत्म साक्षात्कार करके ज्ञान तृप्तात्मा एवं विकार रहित स्थिति के अन्दर पहुँच जाता है, इस प्रकार के व्यक्ति को ही पूर्ण रूपेण सिद्ध एवं युक्त योगी कहा जाता है। प्रकृति के नियमों को समझ कर उन पर अधिकार प्राप्त करने वाले योगी समाधि प्रज्ञा के बल से वज्रकाय, दूर-दर्शन, दूर-स्पर्शन, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वसित्व एवं यत्र कायावसायुत्त्व आदि-आदि अष्ट सिद्धियाँ एवं अन्य सभी उप सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं। जो योगी हठयोग के निरन्तर अभ्यास करने से अपने मन पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त कर चुका है उसके लिए उपनिषद स्पष्ट रूप से कहती हैं ऐसा व्यक्ति तीनों लोकों में स्वतंत्रता से विचरण करता है और कभी भी मौत के चक्कर में नहीं पड़ता क्योंकि उसने अपने आपको हठ-योग की साधना द्वारा मार लिया है जो व्यक्ति हठ साधना के द्वारा अपने आपको मार लेते हैं वे अवश्य ही जन्म-मरण के चक्र से बच जाया करते हैं और वे लोग अपने-संयम के आधार पर सभी सिद्धियाँ को प्राप्त कर लिया करते हैं। यही सब सिद्धियाँ समाधिजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। जिन सिद्धियों का ऊपर के लेख में वर्णन कर दिया गया है वे सभी प्रकार की शक्तियाँ योगी को समाधि के बल से अवश्य-अवश्य प्राप्त हो जाया करती है। इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने जन्म औषधि मंत्र तप: समाधिजा सिद्धियाँ कह करके उपरोक्त पाँच प्रकार से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का विशुद्ध वर्णन किया है किन्तु उनमें से उत्तमोत्तम सिद्धियाँ समाधि के बल से जो समाधिजा सिद्धियों को प्राप्त करता है वही अभ्युदय एवं निश्रेयस सिद्धि का भाजन हो जाया करता है। इसलिये पाठकों को एवं 'सिद्धयोग' के अन्य सभी अङ्कों के पढ़ने वाले जिज्ञासुओं को अपनी समाधि प्रज्ञा के बल को बढ़ाकर सभी शक्तियों को प्राप्त कर लेना चाहिये और मनुष्य जीवन को सफल बनाना चाहिये क्योंकि ये मनुष्य जीवन इसी हेतु प्राप्त हुआ करता है।

परम सिद्ध योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी व उनकी अचिंत्य योग-शक्ति

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगी की अचिन्त्य शक्तियों का वर्णन करते हुये योग शिखोपनिषद् में निम्नांकित प्रकरण मिलता है :—

इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्व जरामरः।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्रकुत्रचित्।।
अचिन्त्य शक्तिमान्योगी नाना रूपाणि धारयेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः।।
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः।।
मरणं यत्र सर्वेषां तत्राषौ परिजीवति।
यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ मृत एव वै।।
कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्व दोषविवर्जितः।।

अर्थात् योगी पुरुष इच्छा रूप होते हैं। अपनी इच्छा से ही वे तीनों लोकों में स्वतन्त्र गति से विचरते रहा करते हैं। उनकी शक्ति इतनी अद्‌भुत होती है कि उसको हर व्यक्ति सोच भी नहीं सकता। वे लोग एक क्षण में हजारों रूप बना लें और फिर उनका संहार भी कर दें। वे लोग हठ साधना के द्वारा अपने आपको मार लेते हैं। कठिन योग साधनायें करते हैं इसके परिणाम स्वरूप वे लोग फिर मरण धर्मा नहीं रहते। जो व्यक्ति अपने आपको हठ साधना के द्वारा मार लेता है उसका फिर मरण नहीं होता। योगी पुरुष विजितेन्द्रय होते हैं। जिन वासना के गर्तों में सांसारिक लोग हर समय मरते रहते हैं वहां पर योगेश्वर लोग सर्वंथा जीवित ही रहते हैं और जिन वासना क्षेत्रों के अन्दर दुनिया के लोग हर्षोल्लास के साथ भोगशक्ति में अपने आपको जिन्दा रखते है वहां पर ये यतीन्द्र लोग सदा सर्वदा मरे ही रहते हैं, ऐसे योगेश्वरों का कुछ भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। उन लोगों की स्थिति कर्म बन्धन से परे हो जाती है। वे लोग सदैव जीवन्मुक्त, स्वच्छ एवं दोष रहित होते हैं। इस प्रकार अन्यान्य स्थानों में भी योगी के अद्‌भुत ऐश्वर्यों का वर्णन हमारे शास्त्रकारों ने किया है। भगवान् पतंजलिदेव ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में योगी के अधिकार का वर्णन करते हुये योगदर्शन के साधनपाद के 40 वें सूत्र में सरलता से कह दिया है कि :—

परमाणु परमहत्त्वान्तो्ऽस्य वशीकारः।

अर्थात् जिस समय योगी अपने चित्त को सूक्ष्म तत्त्व में लगाना आरम्भ करता है तो परमाणु पर्यन्त उसके साक्षात्कार का विषय बन जाता है और यदि वह स्थूल की ओर बढ़ता है तो पंच महाभूत अहंकार और इन्द्रियों को देखता हुआ मूल प्रकृति पर्यन्त बढ़ जाता है। उसके अधिकार की सीमा इतनी ऊँची बढ़ जाती है कि वह संयम के बल से सभी कुछ करने की शक्तिवाला हो जाता है। नेपाल हिमालय की एवं तिब्बत और भूटान की सीमास्थली हिमाच्छादित प्रदेश से पतितोद्धार के निमित्त उतर कर आने वाले सद्‌गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री राम-लाल जी महाराज की शक्तियों का मैं इस छोटे से लेख में क्या परिचय दू। मैनें अपने जीवन में उनको हर समय शक्तिमय देखा और उनके अद्‌भुत योग ऐश्वर्य ने ही मेरे मन को उनके चरणारबिन्द की ओर सहसा आकर्षित कर दिया।

आँखों देखी अद्‌भुत घटना

यह घटना सन् 1929 अनुमानतः शीत ऋतु माघ या फाल्गुन महीने की है। जिसमें मैंने अपने जीवन में पहली बार श्री गुरुदेवजी की योगशक्ति के अद्‌भुत प्रवाह को अपनी आँखों से देखा था। मैं अमृतसर में रहता था मेरा तब अध्ययन

काल था। श्री सद्गुरुदेवजी के दर्शन एवं योग-शिक्षा मैं पहले से ही प्राप्त कर चुका था। अकस्मात् मैंने किसी से सुना कि ऋषिकेश योग साधना आश्रम से मेरे दो बड़े गुरुभाई अमृतसर में कहीं आये हुये हैं, पता लगाने पर मुझे पता लगा कि वे रेलवे ब्रिज के नीचे लाला गागरमल की धर्मशाला में ठहरे हैं। मैं उनके दर्शनार्थ उस धर्मशाला में गया। मैंने वहां जाकर देखा कि परम आदरणीय श्री मुलखराजजी महाराज एवं ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्दजी वहां आये हुये थे। ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्दजी उस समय ध्यानस्थ थे। मेरे वहाँ जाने के कुछ समय बाद उनकी ध्यान-समाधि खुली और वह यह शब्द कहते हुये उठे कि हे सर्व शक्तिवान्, सर्व समर्थ योगेश्वर! आप आप ही हैं। इस कलिकाल के समय में आप जैसा कोई देखने में नहीं आता। मैंने आदरणीय भाई ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्दजी से परम विनय पूर्वक पूछा कि भाई जी आप यह क्या कह रहे हैं। इस समय का आपका क्या अनुभव है। कृपा कर बतला दीजिये। उन्होंने मुझे बतलाया भाई तुम्हारा इस मार्ग में अभी प्रवेश नहीं है। तुम इन बातों को अभी समझ नहीं सकोगे इसलिये यह सब बातें पूछने की हठ मत करो। किन्तु जब मैंने अपने आग्रह को नहीं छोड़ा तो ब्रह्मचारीजी ने मुझे बतलाया कि भाई कल शाम को लगभग 5 बजे श्री गुरुदेवजी ने तपेदिक के किसी रोगी के रोग को अपने शरीर पर आकर्षित कर लिया है और उसके इस महा कष्ट को श्री प्रभुजी तीन दिन तक लगातार स्वयं भोगेंगे और वह रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा। यह घटना बिल्कुल सत्य थी। इस महा आश्चर्यप्रद एवं चमत्कारिक घटना को देखने के लिये ही मैं दो दिन बाद ऋषिकेश आश्रम पहुँचा। वहाँ जाने पर देखा कि श्री प्रभुजी नेपाली कम्बल ओढ़े आराम कुर्सी पर बैठे हैं और उनके शरीर की कान्ति बहुत ही कृश एवं पीतवर्ण मालूम पड़ती है। मैंने जब उनकी इस स्थिति को जानने की इच्छा विनम्रतापूर्वक की तो श्री गुरुदेवजी ने तो मुझे कुछ जवाब नहीं दिया प्रत्युत हँस पड़े और कहा कोई बात नहीं यह तो शरीर का धर्म है। इस प्रकार की बातें होती रहा करती हैं। किन्तु उनके सामने वही रोगी बैठा हुआ था जिसके कष्ट को श्री प्रभुजी ने अपने शरीर पर आकर्षित किया। उस रोगी ने मुझे स्वयं बतलाया कि भाई जी यह मेरे पापों का परिणाम है मेरी तकलीफ को श्री प्रभुजी ने अपनी योगशक्ति से अपने शरीर पर आकर्षित करके भोगा है। मैंने स्वयं अर्द्ध तन्द्रावस्था में श्री प्रभुजी को अपने सामने खड़ा देखा और मुझ से स्पष्ट शब्दों में कहा कि ला यह अपना भोग अब हमें दे दे अब तू इसको नहीं भोग सकेगा। यह कह करके श्री प्रभुजी ने मेरे सारे रोग को अपने शरीर पर आकर्षित कर लिया। मैंने अपने रोग को एक काले-काले गोले के रूप में अपने शरीर से अपने मुख से निकलता देखा और श्री प्रभुजी ने इस महारोग को अपने शरीर पर आकर्षित किया उस दिन के तीन रोज बाद तक किसी को अपने पास तक आने नहीं दिया और एकान्त में लेटे रहे। यह अद्भुत घटना थी जिसको देख कर मैंने योग की अद्भुत शक्ति को पहचाना एवं योगाभ्यास करने की तीव्रतम प्रवृति बनी और उसी दिन से इस मार्ग का तीव्रतम अन्वेषण मेरे चित्त में प्रारम्भ हो गया और परमेश्वर की कृपा से अवश्य ही मुझे इसमें अच्छी सफलता मिली।

काय-निर्माण

ऊपर इस लेख के प्रारम्भ में योग शिखोपनिषद् के जिन श्लोकों का उद्धरण दिया गया है उनमें एक श्लोक यह भी है:-

अचिंन्त्य शक्तिमान्योगी नाना रूपाणि धारयेत्।
संहरेच्च पुरस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः।

अर्थात् अचिन्त्य शक्ति वाला योगी अपनी निर्माण काय की योग्यता से चाहे जितने शरीर धारण कर सकता है और फिर उनका संहार भी कर सकता है सद्गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज के जीवन चरित्रों में इस प्रकार की घटनायें बहुत अधिक मिलती हैं जिन सबका इस छोटे से लेख में वर्णन करना भी सम्भव नहीं हो सकता। सन् 1911 के लगभग जिस समय श्री प्रभुजी ने कुछ समय सवाँई गांव में निवास किया था उस समय यहां के सत्संगियो ने एक गुफा बनाई जिसमें श्री प्रभुजी निवास किया करते थे उसी समय की यह घटना है। सत्संगी लोग हमेशा उनके चरणारबिन्द में आते रहा करते थे उसी समय की यह घटना है। श्री प्रभुजी सवाँई ग्राम में तो रहते ही थे किन्तु कभी-कभी इधर उधर भ्रमणार्थ भी चले जाया करते थे। एक बार अपने इन्हीं विचारों के अनुसार श्री प्रभु जी ने कहीं बाहर जाने की इच्छा की किन्तु सत्संगी लोगों ने उनको आग्रहपूर्वक रोक लिया और

श्री प्रभुजी रुके रहे। किंतु लोगों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा जब कन्हीं राम बोहरे ने सब लोगों के बीच में आ करके कहा कि महाराज जी आप इतनी जल्दी हम लोगों से पहले कैसे चले आये कल तो आप हम लोगों के साथ रहे व गंगा स्नान किया था और गाड़ी कोई आती नहीं जो हमसे पहले आप आ गये हैं। उधर गांव के लोग जो सत्संग में बैठे हुए थे उन्होंने कहा तुम क्या कह रहे हो। श्री महाराज जी तो यहां से कहीं गए ही नहीं। सभी को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। उसी समय थोड़ी देर बाद किसी दूसरे व्यक्ति ने आकर के कहा कि महाराज कल तो आपने मेरी जिन्दगी बचा दी, यदि मैं उस भारी गड्ढे में गिर जाता तो अवश्य मर ही जाता। आपने मेरी बाजू पकड़ कर गिरने से बचा लिया। आपकी इस महान कृपा का मैं क्या बदला दे सकता हूं। सत्संग में बैठे लोगों ने उसकी उस घटना को पूछा तो घटना बिल्कुल यथार्थ थी। श्री प्रभुजी ने निर्माण काय से उसके शहर में प्रकट होकर उसकी रक्षा की ही थी। किन्तु सुनने वाले सभी सत्संगियों को महान् आश्चर्य था। उस समय में श्री प्रभुजी स्थूल शरीर से वहाँ से कहीं गये ही नहीं थे। इस ही प्रकार की उनके 'निर्माण काय' को प्रगट करने वाली अनेकानेक घटनायें मेरी स्मृति में हैं जिनको वर्णन करने से इस लेख का बड़ा आकार बन जायेगा। किन्तु फिर भी निर्माण काय से सम्बन्ध रखने वाली एक दिव्य घटना का थोड़ा सा संकेत तो कर ही देना उचित समझता हूँ।

यशवन्त वाली घटना

अमृतसर में एक पुराने सत्संगी भाई धूप की दुकान करते हैं। वह बहुत छोटी आयु में श्री प्रभुजी के चरणारबिन्दु में सेवार्थ आये थे इन्होंने श्री प्रभुजी के निर्माण काय की घटना अपनी आंखों देखी बतलाई थी। इनका नाम यशवन्त है। दुर्याना में लोहे के फाटक के साथ माई धवन्तरिकौर की धर्मशाला के सामने इनकी धूप की दुकान है। जिस समय अपनी बाल्यावस्था में इन्होंने मन लगाकर श्री प्रभुजी की सेवा की उसी समय इनके मन में एक विचार बना कि श्री गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज इनके घर चलें और अपने चरणों से उस भूमि को पवित्र करें। अत: उन्होंने हठपूर्वक श्री प्रभुजी के चरणारबिन्द में निवेदन किया कि प्रभो आप कृपा करके एक बार मेरे घर अवश्य चलें। श्री प्रभुजी उस दिन अधिक व्यस्त थे। उनकी प्रार्थना को किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता था। किन्तु इनकी अत्यन्त विनम्रता को देखकर श्री प्रभुजी ने कह दिया कि बेटा तू अपने घर चल हम समय निकाल कर अवश्य पहुँच जायेंगे। बालक यशवन्त ने अपने मन में विचार किया कि श्री प्रभुजी ने मेरे मन की तुष्टि के लिए पहुँच जाने की बात कह दी है। यदि इन्होंने जाना होता तो मेरे साथ ही चलते या मुझे आज्ञा करते तुम उस समय मुझे बुलाने के लिए आ जाना उस समय मैं तुम्हारे साथ चलूंगा। किन्तु उन्होंने कहा कि हम पहुँच जायेंगे। अपने आप ही प्रभु जी किसके घर जाते हैं यह तो टालने वाली बात है। उस सरल बच्चे को यह बोध नहीं था कि श्री प्रभु जी को वह कितना प्रिय है और वे सर्व अन्तर्यामी अपनी योग शक्ति से अपने वचन को निभायेंगे। यशवन्त निराश मन से अपने घर पहुँचा। बैठक का दरवाजा खोला तो क्या देखता है कि सामने श्री प्रभु जी स्थूल रूप से विराजमान हैं और हंस रहे हैं। यशवन्त ने श्री गुरुदेवजी के चरण पकड़ विनय की, कि हे प्रभुजी मैं तो अभी रास्ते से ही चलकर आ रहा हूँ और आगे से दरवाजा बन्द था आप दरवाजा बन्द होने पर किस प्रकार आ गये हैं। श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि बेटा तुम्हारे प्रेम को देखकर मैं तुम्हारे घर आ गया हूँ। किन्तु यह बात किसी से नहीं कहना। यह घटना प्रिय यशवन्त धूप वाले ने मुझको स्वयं बतलाई थी। श्री प्रभुजी के काय निर्माण का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

अणिमा प्रयोग एवं आकाश गमन

हमें पतंजलि योग दर्शन बतलाता है कि :-

स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थ-

वत्त्व संयमाद्भूतजयः।

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः

कायसत्तद्धमनिभिघातश्च।

अर्थात् महाभूतों के स्थूल स्वरूप, सूक्ष्म अन्वय अर्थवत्व इन पांच रूपों के अन्दर संयम करने से योगी कालजयी बन जाता है और इस ही के फलस्वरूप अणिमादि सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं और रूप लावण्य वज्रकाय आदि काय संपत्ति गिरावट के दायरे से आगे निकल जाती हैं अर्थात्

कालजयी योगी को काय सम्पदा नभिघात स्वत: ही सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही व्यक्ति को आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। भगवान पतंजलि देव बतलाते हैं :-

श्रोत्राकाशयो: सम्बन्ध संयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।

अर्थात् काया और आकाश के सम्बन्ध में शरीर में रुई के तरह हल्कापन आ जाता है तब वह योगी समाधि के बल से आकाश गमन करता है। योग योगेश्वर सद्गुरु देव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जिस समय सवाँई गांव में निवास करते थे उस समय की यह दिव्य घटना है। एक बार सत्संग लगा हुआ था। आसपास सवांई ऐत्मादपुर टूण्डला आदि के सभी सत्संगी श्री प्रभुजी की सेवा में सत्संगार्थ उपस्थित थे। अकस्मात् प्रसंग चला श्री प्रभुजी ने अपने देशान्तर गमन की इच्छा प्रकट की। प्रभु प्रेमी सत्संगियों पर यह बड़ा आघात था। वे अपने प्यारे गुरुदेव के बिछोह को सहन नहीं कर सकते थे इसलिये सभी ने देशान्तर गमन से रोकने के लिए अत्यन्त विनयपूर्वक प्रार्थना की। किन्तु श्री प्रभु जी को यह स्वीकार नहीं था वे जाना ही चाहते थे। लोगों के मन में यह भ्रांति पूरी-पूरी बैठ चुकी थी कि आज श्री प्रभु जी कहीं न कहीं अवश्य चले जायेंगे। इसी भ्रांति के वशीभूत होकर जिस समय श्री प्रभुजी अपनी समाधि के अभ्यास के लिए गुफा में चले गये उसी समय बाहर चबूतरे पर बैठे रहने वाले सत्संगियों ने बाहर से ताला लगा दिया। जिससे श्री प्रभु जी रात्रि में चुपचाप ही नहीं चले जाये। लोगों का विचार था कि इस समय श्री प्रभु जी समाधि में बैठ गये हैं और प्रात:काल समाधि खुलते ही हम ताला खोल देंगे। किन्तु उन लोगों की भावना पूरी नहीं हो सकी। श्री प्रभु जी रात्रि को ही अणिमा-सिद्धि के प्रयोग से गुफा से बाहर निकल गये और आकाश मार्ग से उड़कर अपने गंतव्य स्थान को चले गये। जिस समय श्री प्रभु जी आकाश मार्ग से उड़ कर जा रहे थे तो सवाँई गांव के खेतों में सूखा नाम का धीमर हल चला रहा था। उसने देखा प्रभुजी आकाश मार्ग से कहीं जा रहे हैं। पहले तो वह बड़ा भयभीत हुआ क्योंकि उसके लिए पहला दृश्य था जब उसने आकाश में उड़ते हुए व्यक्ति को देखा। उसके मन में विचार आया कि यह क्या कोई मनुष्य है या यक्ष, किन्नर है या देवता जब उसको अत्यन्त भयभीत देखा तो श्री प्रभु जी बोल उठे और कहा—''अरे सूखा हम गुफा वाले बाबा हैं क्या तू डर गया। तुझे डरना नहीं चाहिये।'' श्री प्रभुजी की वाणी को सुनकर उसको कुछ धैर्य हुआ। यह वह पहले से ही जानता था कि गुफा वाले बाबा कोई साधारण साधु नहीं हैं। वे चमत्कारिक महात्मा हैं। उनके वरदान देने से गांव के लोगों को अनेक प्रकार के महान लाभ हुये हैं जो वर्णन से बाहर हैं। यह जानकर उसके मन में कोई भय नहीं रहा। उसको सान्त्वना देकर आकाश मार्ग से ही श्री प्रभुजी चले गये। प्रात:काल होने पर सत्संगी लोग इधर-उधर से आये। गुफा द्वार का ताला खोलकर भीतर जाने की चेष्टा की किन्तु उन्होंने आश्चर्य से देखा कि भीतर से भी संकुली बन्द है। उन लोगों ने समझा श्री प्रभु जी अभी समाधि में समाधिस्थ होंगे अत: अन्दर से ही संकुली लगी है। किन्तु फिर बहुत विलम्ब हो जाने के बाद एक ओर से गुफा के ऊपर वाले कमरे की दीवार को काट कर एक बच्चे को अन्दर घुसाया। उस बच्चे ने अन्दर जाकर देखा कि श्री प्रभुजी वहाँ नहीं हैं। गुफा में से एक आवाज आई— बेटा तुमने हमें यहां हठात् रोकना चाहा था इसलिए अब हम यहां से चले गये हैं। इस समय तो तुम सबको हमारे दर्शन नहीं हो सकते। बारह वर्ष के बाद हम पुन: लौटकर आयेंगे। तुम लोग पहचान सको तो पहचान लेना। ऐसा ही हुआ भी। बारह साल के बाद श्री प्रभुजी पुन: सवाँई ग्राम में आये और यहाँ के लोग नहीं पहचान सके किन्तु श्री प्रभुजी ने करुणावश सवांई के लोगों को स्वयं का परिचय दिया।

अमोघ वाणी

योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव लिखते हैं :—

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

श्री भगवान व्यासदेव जी भाष्य करते हुए लिखते हैं:-

धार्मिकों भूया इति भवति धार्मिक: स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति अमोघाऽस्य बाग भवति।।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठ योगी की वाणी बिल्कुल अमोघ हो जाती है। वह जो कुछ भी अपनी वाणी से कहता है वह सब सफल हो जाता है यदि वह किसी पापात्मा को कह दे **'धार्मिको भूया'** तो वह धर्मात्मा हो जाया करता है। इसके अतिरिक्त वह किसी को कह दे **'स्वर्गं प्राप्नोहि'** तो वह स्वर्ग लोक का अधिकारी बन जाता है इसके अतिरिक्त यदि

योगी संयम बल से इतना ऊँचा सत्य प्रतिष्ठ हो जाए कि उसकी बुद्धि में ही ऋत का वास हो जाये और समाधि में उत्तम प्रज्ञा विवेक हो जाये तो उसके संकल्प में ही दिव्य शक्ति आ जाती है। मैंने सवांई गांव में आने पर श्री प्रभुजी के चरित्रों में यह बात पूर्ण रूपेण स्पष्ट देखी कि उनकी वाणी पूर्णरूपेण अमोघ थी। उन्होंने मजाक में भी जो कुछ कह दिया वह पूर्णरूपेण सत्य हुआ। जब मैं पहली बार सवाँई गांव में आया तो ठाकुर गुलाबसिंह की पक्की कुटिया में ठहरा था। वहां पर मेरे पास एक बूढ़े ने आना आरम्भ किया वो जवानी से हँकला कर बोलता था अत: उसकी बात को पूरी तरह नहीं समझ पाता था फिर भी आसपास के लोगों ने बूढ़े की भाषा समझाई। बुड्ढा कुछ जल्दी बोला करता था। वह मेरे पास आता और बार-बार यही शब्द कहता— महाराज जी आपके चार गुलाम हैं उनसे जितनी अधिक से अधिक सेवा ले सको लेना। मैंने एक रोज उससे पूछा भाई ये चार गुलाम क्या कहते हो मैं नहीं समझ सका तो उसने मुझे स्पष्ट बोलकर समझाया कि महाराज मेरी तीन शादियां हुई और तीनों स्त्री स्वर्ग चली गईं। और जिस समय मेरी तीसरी स्त्री का देहान्त हुआ तो मेरे मन में अतिशय दु:ख हुआ। मैं पागलों की तरह रोता और बिलबिलाता हुआ बड़े बाबा (श्री प्रभुजी) के चरणारबिन्द में पहुँचा उन्होंने मेरे दु:ख को देखकर कहा कि भाई ठकुरी तू रोता क्यों है डर मत अभी तेरी चौथी शादी होगी और उससे चार बच्चे होंगे।

बुड्ढे ने कहा, सो महाराज मेरी चौथी शादी भी हो गई और जैसा श्री प्रभु जी ने मुखारबिन्द से कहा था वैसे ही मेरी चौथी पत्नी से चारों बच्चे भी मौजूद हैं। उनसे आप जो भी बड़ी से बड़ी सेवा ले सकें अवश्य ले लें। वे लोग अवश्य आपकी सेवा करेंगे। इसी प्रकार की और बहुत सी बातें इस गांव के लोगों ने मुझको बताई जो श्री प्रभु जी की अमोघ वाणी की शुद्ध प्रतीक थी।

निर्माण चित्त के द्वारा उपदेश

भगवान् पतंजलि देव ने योग-दर्शन में कहा है:—

निर्माण चित्तान्यस्मितामात्रात्

इस सूत्र का भगवान व्यास देव जी भाष्य करते हुए लिखते हैं : —

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माण-चित्तानि करोति तत: सचित्तान भवन्ति।।

अर्थात् जब योगी अस्मितानुगत योग का उत्कृष्ट विद्यार्थी बन जाता है तो उसके अन्दर स्वाभाविक योग्यता चित्त निर्माण की आ जाया करती है। ये निर्माणित चित्त क्योंकि ध्यानज है इसलिए इसमें कर्माशय की स्थिति नहीं होती। निर्माणित चित्त केवल मात्र अपने मनोभावों का दूसरों को ज्ञान कराने के लिए हुआ करता है। जब योगी अपने इस प्रकार के चित्तों का निर्माण किया करता है तो प्रवृत्ति भेद से उन सबको अपने प्रधान चित्त के अधीन रखकर अपने विनयी बच्चों में अनेक प्रकार के उपदेश या वार्तालाप आदि किया करता है। हमारे पुराने इतिहास में निर्माण चित्त के इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। जैसे भगवान कपिलदेव ने अपने आसुरी नाम के शिष्य को निर्माण चित्त का आश्रय लेकर तंत्र का उपदेश दिया था।

इसी प्रकार से मैंने श्री गुरुदेव योग योगेश्वर प्रभुजी रामलाल जी को अनेक बार उपदेश देते देखा यद्यपि उनका निर्माणित चित्त साधक श्रेणी वाला नहीं था। अनादि महासिद्धों की तरह ही यह उनके सहज कार्य थे। किन्तु अभ्यास करने वाला साधक समुदाय जब उनकी आंखों के सामने बैठ करके अपना-अपना ध्यानाभ्यास किया करते थे तो बहुत ही जल्दी अपने ध्येय में तन्मय हो जाया करते थे और वह सभी यह देखते थे कि उन सभी के सामने श्री प्रभु जी विराजमान हैं। और उनके चित्त सूक्ष्म तत्व का स्फुरण करा रहे हैं। कई बार यह देखने में आया कि ध्यानाभ्यास करने वाले साधकों की श्रेणियाँ सामने बैठी हैं और श्री प्रभुजी ने चित्त निर्माण के साथ उन सबके पास जाकर एक ही बात का उपदेश दिया और उस तत्व को जिनकी उत्कृष्ट स्थिति थी, उन सबने एक ही जैसा अनुभव किया। इस प्रकार अभ्यास करने वाले साधकों को थोड़े समय के बाद स्वयं चित्त निर्माण की योग्यता आ जाया करती थी। पहले पहल अपने मन के संकल्प से स्वयं श्री प्रभु जी ही उनके ध्यानज चित्तों का निर्माण कर दिया करते थे जिसके फलस्वरूप ध्यानाभ्यासी साधक अपने आपको एक से अनेक रूपों में देखने लगता था और यह स्पष्ट अनुभव करता था कि मैं यहां बैठने वाला अमुक व्यक्ति अमुक नाम वाले व्यक्ति के पास ही हूं और उससे बातचीत

कर रहा हूँ। इस प्रकार की अनुभूति होना चित्त निर्माण योग्यता का ही प्रखर परिणाम था।

महिमा का उपयोग

इस लेख में पहले बतलाया जा चुका है कि भूतजय हो जाने के बाद योगी को अनायास ही अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं। जिसमें योगी अणुमात्र का चिन्तन करता हुआ अणु बन जाये तो समझ लेना चाहिये कि अणिमा सिद्धि हो गई। लघुत्व का चिन्तन करता हुआ अपने अन्दर लघुत्व का स्पष्ट अनुभव करने लगे और अपने आप को रुई के समान हल्का देखने लगे तो समझ लेना चाहिये यह अनुभव लघिमा सिद्धि का है और महिमा का चिन्तन करता हुआ महान भवति बड़ा हो जाता है। उसका संकल्प इतना तीव्र हो जाता है कि वह चिन्तन मात्र से ही अपने को महान देखने लगता है। सवांई गांव के चरित्रों में इस विलक्षण घटना को प्राय: सभी लोग जानते हैं। जबकि बौहरे कर्णसिंह व श्री प्यारेलाल पटवारी ने श्री प्रभुजी से योग की कोई विशेष चमत्कृति देखने के लिए बार-बार हठ पूर्वक आग्रह किया था यद्यपि श्री प्रभु जी इस प्रकार की कोई बात नहीं चाहते थे। किन्तु उन लोगों के महीनों आग्रह करने का यह परिणाम निकला की श्री प्रभु जी हंस पड़े और मुस्कराकर कहा कि अच्छा देखो जो भी कुछ तुम देखना चाहते हो। उन लोगों ने अपनी आंखों के सामने क्षण भर में श्री प्रभुजी को बहुत बड़े महान रूप में होना देखा जिसको देखकर वे लोग अपने आप को सम्हाल नहीं सके। प्रत्युत बेहोश हो गये। अचेत अवस्था में भी अनेकानेक दृश्य देखते रहे। जिनका कोई भी वर्णन नहीं किया जा सकता। यह योगेश्वर श्री प्रभुजी की महिमा सिद्धि का महान स्वरूप था और इन सब बातों के लिए उनके मन में साधारण संस्कार का स्फुरण होना ही पर्याप्त होता था। ज्योंही उनके मन में इस प्रकार का संकल्प होता त्योंही साधकों के मन में तत्काल अनुभूतियाँ हो जाया करती थीं।

संस्कारों का साक्षात्कार एवं भावी जन्म का ज्ञान

हमें योग दर्शन बतलाता है :—

संस्कारसाक्षात्करणत्पूर्वजातिज्ञानम्।

अर्थात् योगी को संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्व जाति का ज्ञान हो जाया करता है। पूर्व जाति में हम कौन थे उनका संयम विधि से अनुभव करने पर योगी को ज्ञान हो जाया करता है। और इसी प्रकार से दूसरे के चित्त के संस्कारों का ज्ञान उसके अनुरक्त चित्त को साक्षात्कार कर लेने के बाद अवश्य ही हो जाया करता है। भगवान् पतंजलिदेव बतलाते हैं:-

प्रत्ययस्य परिचितज्ञानम्।

भगवान व्यासदेव भाष्य करते हैं :—

प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणत्तत: परचित्त ज्ञानम्।

प्रत्यय शब्द का अर्थ है प्रतीयतेऽर्थोऽनेनिति प्रत्यय अर्थात् जिसका अवलम्ब लेकर के अर्थ का ठीक-ठीक बोध हो जाये उसको प्रत्यय कहा करते हैं। अर्थ ज्ञान का यही मूल कारण है। चित्त के अन्दर घूमने वाले संस्कारों में संयम करने से योगी को दूसरे चित्त का भी यथार्थ ज्ञान हो जाया करता है केवल मात्र योग विद्या ही सब प्रकार से उत्कृष्ट ज्ञान की दात्री है। एक बार मेरे गुरू भाई ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी के मन में अपनी दिवंगत माता की गति देखने की प्रेरणा हुई। हमने अपने पहले के लेखों के अन्दर यह स्पष्ट रूप से समझा दिया है कि योगी के संयमित चित्त में जिस प्रकार के संस्कारों का स्फुरण होगा वे सभी संस्कार समाधि प्रज्ञा को प्राप्त करके वो पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित हो निकलते हैं। और प्रस्फुटित होने पर छोटे संस्कार भी विस्तृत होकर दिखाई देने लगते हैं। यही संस्कारों का प्रत्यक्षीकरण है। श्री गोपालानन्द जी के मन में अपनी माता की गति देखने की प्रेरणा हुई। उस समय उनका चित्त एकाग्र था किन्तु अपनी माता की गति का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो रहा था उन्होंने ध्यानावस्था में श्री प्रभु जी से प्रार्थना की कि हे प्रभो कृपाकर मेरी माता की गति का ज्ञान कराओ। श्री प्रभु जी ने थोड़ा सा संकेत किया और श्री गोपालानन्द जी के मन को बल दिया। जिसके फलस्वरूप एक मछियारी की लड़की के रूप में उन्होंने अपनी माता को देखा। अपनी माता की इस प्रकार की निकृष्ट गति को देखकर श्री ब्रह्मचारी जी को बहुत कष्ट हुआ उन्होंने श्री प्रभु जी से प्रार्थना की कि हे प्रभो इसकी कोख से मैंने जन्म लिया था मेरी जन्मदात्री मेरी इस माता की यह गति क्यों हुई। श्री प्रभु जी ने ध्यान में ही आज्ञा दी कि तुम इसके मरणासन्न समय के संस्कारों को देखो

यह उस समय क्या चाह रहे थे। श्री ब्रह्मचारी जी ने श्री प्रभु जी की आज्ञानुसार अपनी माता के मरण समय में चित्त में संयम किया कि उसका चित्त मृत्युकाल में किन संस्कारों को चिन्तन करता हुआ देह त्याग कर रहा था। ब्रह्मचारी जी ने देखा कि उसकी माता मृत्यु के समय मछली के तेल का चिन्तन करती हुई शरीर को छोड़ रही है। यह सब दृश्य देखकर ब्रह्मचारी जी के मन को बहुत भारी दु:ख हुआ कि अन्तिम समय में उनकी माता ने मछली के तेल का स्मरण क्यों किया। उन्होंने ध्यान समाधि से उठकर अपनी बड़ी एवं सहोदरी बहिन रुक्मणीदेवी से पूछा कि बहिन माताजी अन्तिम समय किन भावों का चिन्तन कर रही थीं। उनकी बहिन ने बतलाया कि भाई उनके पेट में अफारा था और एक डाक्टर ने अफारे की शान्ति के लिए मछली का तेल पीना बतलाया था। हम लोगों ने यह प्रयत्न भी किया कि किसी भी प्रकार इनकी जिन्दगी बच जाय तो अच्छा ही है। बाद में शुद्धि कर लेंगे। एक बार उनको मछली का तेल ही पिला दें। हमने मछली का तेल प्राप्त करने बाजार में आदमी को भेजा। उसके लौट कर आने के पहले ही श्री माता जी ने अपने शरीर का त्याग कर दिया था। सम्भव है उनके मन में मछली के तेल के संस्कार मृत्यु काल में रहे होंगे। श्री ब्रह्मचारी जी ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि अन्त मति सो गति। भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने भी गीता के 8 वें अध्याय के इसी भाव को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि :-

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वाकलेवरम्।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्रसंशय:।।
गीता 8:5

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्तेकलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:।।
गीता 8:6

अर्थात् अन्तिम समय में जो मेरा स्मरण करता हुआ देह त्याग करता है वह संशय रहित मुझे ही प्राप्त हो जाया करता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति मृत्यु काल में जिन जिन भावों का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है तद् भाव भावित होकर वह वैसी ही गति को प्राप्त हो जाया करता है। इस प्रकार श्री प्रभु जी ने अपनी शक्ति देकर ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी को संस्कार साक्षात्कार करने की योग्यता वाला बनाया। इसके अतिरिक्त उनके अलौकिक चरित्रों को मैं कहां तक वर्णन करूँ। वे सब तो अब भी इसी प्रकार घटित होते रहा करते हैं जैसे उनकी उपस्थित काल में होते रहा करते थे। उनका स्थान पर प्रकट होना वरदान देना व अपने जिज्ञासु भक्तों की सहायता करना नित्य का कार्य है। उनका प्रत्येक क्रियाकलाप एवं प्रत्येक शिक्षा मनुष्य के लिए हर समय योगोपदेश कर रही है जो लोग इन लेखों को पढ़कर अपने आपको पवित्र योगमार्ग की ओर बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे उनकी वह सर्व शक्तिवान गुरुदेव अवश्य ही मदद करेंगे।

अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण और उनका योग-ऐश्वर्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

जगदात्मा अखिल लोकपावन भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में श्रीमद्भागवत या अन्यान्य पुराणों में उनके परात्पर होने का निर्देश मिलता है। यथा :-

श्री मद्भागवत के उपाख्यान में जिस समय श्री ब्रह्माजी अन्यान्य सभी देवों को साथ लेकर और गौ-रूपधारणी अश्वमुखी पृथ्वी को साथ लेकर क्षीर सागर पर गये और वहाँ जाकर क्षीरोदशायी भगवान् नारायण की स्तुति करनी आरम्भ की। देवताओं की विनती सुन भगवान् विष्णु ने उनको उत्तर दिया था। उत्तर एक अव्यक्त वाणी के रूप में था जो इस प्रकार है-

गिरं समाधौ गगने समीरितां।
निशम्यवेधास्त्रिदशानुवाचह।।
गां पौरुषीं मे श्रृणुतामरा: पुनर्वि-
धीयतामाशु तथैव माचिरम्।।
पुरैव पुंसाऽवघृतो धराज्वरोभव-
द्भिरंशैर्य दुषूषजन्यताम्।।
सयावदुव्यभिर मोश्वेरेश्वर:।
स्वकालशकल्याज्ञपयंश्चरेदभुवि।।
वसुदेव गृहे साक्षाद् भगवान पुरुष: पर:
जनिष्यते तत्प्रियार्थसम्भवन्तु सुरस्त्रिय:।।

अर्थात् क्षीर सागर पर पुरुष सूक्त के द्वारा भगवान् नारायण की स्तुति करने के बाद ब्रह्माजी को अपने हृदयाकाश में समाधि के द्वारा जो भगवान् नारायण की वाणी सुनाई दी थी वह पौरुषी वाणी उन्होंने समाधि से उठ करके देवताओं को सुनाई थी और स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि मुझे समाधि में जो भगवान् नारायण की वाणी सुनाई दी है वह मैं तुम्हें बतलाता हूँ और उस वाणी के अनुसार तुम लोग जा करके यदुकुल में जन्म ले लो क्योंकि उस वाणी ने मुझे यह कहा है कि वासुदेवजी के घर में स्वयं भगवान् पर-पुरुष प्रादुर्भूत होंगे और उनके आमोद-प्रमोद के लिए देवलोक की देवांगनायें भी भूमण्डल पर जाकर जन्म ले लें। श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण से और इसी प्रकार के पुराणों के अन्तर्गत आये हुए अन्यान्य प्रकरणों से श्रीकृष्ण का पर-पुरुष होना अनायास ही सिद्ध हो जाता है, देवकी ने भगवान् के प्रकट होने पर जो स्तुति की वह इस प्रकार है:-

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्ति लयोदया:
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तंत्वाद्याहं गतिं गता।।

अर्थात् हे प्रभो जिसके अंशाअंश को धारण करके ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि प्रमुख देव सृष्टि का पालन पोषण व संहार करते हैं उस सबके आधार आप ही हैं। इसी प्रकार से ब्रह्म स्तुति में इन्द्र के द्वारा की गई स्तुति में, श्रीमद्भागवत में और अन्यान्य पुराणों में भी श्रीकृष्ण का वर्णन पर-पुरुष के रूप में किया गया है इसलिए वह अनादि काल से ही महासिद्ध हैं इसमें कोई संशय की बात नहीं। योग-दर्शन में भगवान पतंजलि देव ने ईश्वर का लक्षण-

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ठा: पुरुष विशेष ईश्वर:।।

कहकर किया है श्री भगवान व्यासदेव जी भाष्य करते हुए लिखते हैं—

यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटि: प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटि: सम्भाव्यते-नैवमीश्वरस्य, सतु सदैव मुक्त: सदैवेश्वर: इति:।

अर्थात् जो लोग तीन बन्धनों को काटकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं वे पहले बन्धन में है और जो योगी लोग प्रकृतिलीन हैं और अपने आपको कैवल्य पद में विलीन समझ रहे हैं वे बाद में पुन: बन्धकोटि के अन्दर आ जायेंगे किन्तु ये सारे के सारे लक्षण ईश्वर के साथ बिल्कुल नहीं होते। इसलिए वह ईश्वर हमेशा ही मुक्त है और हमेशा ही ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य, साम्यात्स्थ विनिर्मुक्त है। अत: अखिल आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी साम्यात्स्थ विनिर्मुक्त है। इसलिए उनका आदि महासिद्ध होना अनायास ही सिद्ध है। भगवान् श्री कृष्ण को लीलावतार कहते हैं किन्तु उनके जीवन में घटित होने वाली घटनायें उनको एक सरल ऐश्वर्य सम्पन्न योगिराज का ही अवतार सिद्ध करती हैं। जन्म से लेकर स्वधामगमन तक उनकी जितनी भी लीलायें हुई हैं उन सभी में से एक-एक से योग टपकता है। उनका कारावास में जन्म लेना और जन्म भी एक अद्भुत जन्म जिस प्रकार संसार में कोई बालक जन्म नहीं लिया करता उसके अतिरिक्त विलक्षण ढंग से अपनी माता के सामने अपने दिव्य चतुर्भुज रूप से प्रगट होना जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा है :-

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं।
चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभ।
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।
महार्हवैदूर्यकिरीट कुण्डल।
त्विषा परिष्वक्तसहस्त्र कुत्तलम्।।
उद्दामकाञ्चयङ्गदकंङणदिभि-
विरोमानं वसुदेव ऐक्षत।।

अर्थात् वासुदेवजी ने देखा कि उनके सामने किरीट, कुण्डल एवं वरमाला धारण किये हुये मेघ वर्ण सुन्दर श्याम शरीर वाला और अपनी चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुये एक सुन्दर बालक खड़ा है। इसी प्रकार से देवकी ने उनके रूप को देखा और उस अद्भुत रूप को देखकर उस महायोगीराज के उस तेज को सहन न कर सकी और उसने विनम्र भाव से प्रार्थना की कि हे प्रभो- इस धारणा ध्यान के लिए मंगलमय जो आपके दिव्य चतुर्भुज स्वरूप हैं वह हम हाड़-माँस चमड़े के शरीर धारण करने वाले साधारण मनुष्य लोक के जीव इसके अधिकारी नहीं हैं। इस समय आपने मेरे ऊपर से जन्म लेने का अभिनय किया है, इसलिए अपने इस अलौकिक दिव्य रूप तेज को छिपाकर साधारण मनुष्य रूप में मेरे सामने प्रगट होइये। अपनी माता देवकी को इस प्रकार भयभीत देखकर अपने उस दिव्य चतुर्भुज रूप से अन्तर्हित होकर उसके सामने अपनी योगमाया से बालक रूप में प्रगट हो गये। इस प्रकार अपने अद्भुत दिव्य चतुर्भुज रूप का माता के सामने प्रगट करना और फिर उसको छिपा लेना ये उनकी स्वाभाविक योग शक्ति का अद्भुत प्रभाव था। किन्तु एक साधक सिद्ध योगी के लिए ये क्रिया अपनी साधना के बल पर आधारित है और उसको संयम के द्वारा ही ऐसा करना पड़ेगा। किन्तु आदि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिये यह न के बराबर सहज कर्म था।

पतंजलि योग दर्शन एवं अन्तर्ध्यान क्रिया

भगवान् पतंजलि देव अपने योग सूत्र में बतलाते हैं-

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्य शक्ति स्तम्भे चक्षु: प्रकाशा-संप्रयोगेऽन्तर्धानम्।।

अर्थात् जिस समय योगी अपने संयम के बल से काया के रूप में अपने मन को संयमित करता है उस समय उसके शरीर पर सर्व-साधारण की आँखों का प्रभाव नहीं पड़ सकता, चक्षु: प्रकाशासंयोग होने के कारण वह अपने आपको छिपा लेता है। ये साधना साधन सिद्ध योगी को अपने योग-सिद्ध ऐश्वर्य के बल पर संयम के बल से करनी पड़ेगी। किन्तु महायोगी ईश्वर सिद्धों के महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिये यह अद्भुत कर्म कुछ भी अर्थ नहीं रखता। उन्होंने अपने माता-पिता के सामने अपने दिव्य चतुर्भुज तेजोमय स्वरूप को प्रगट करके दिखला भी दिया और तत्काल उनकी विनय पर अपने उस दिव्य रूप को छिपा भी लिया और तत्काल ही सहजकाय निर्माण शक्ति से अपने आपको बालक रूप में प्रगट भी कर दिया। यह उन महायोगेश्वर की योग ऐश्वर्य की पहली झलक थी जो देवकी वासुदेव ने अपनी आँखों से देखी। इसके बाद उन्होंने अपने योग बल से बाल-लीला आरम्भ की इस कथा-प्रसंग को प्राय: सभी कृष्ण भक्त जानते ही हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण का सहज शुभ संकल्प

कंस के कारागार से श्री वासुदेवजी भगवान् बाल रूप श्रीकृष्ण को गोकुल पहुँचा आये थे। कंस के कारागार के दरवाजों का अपने आप खुल जाना और वासुदेव के लौट आने पर पुन: उसी प्रकार से बन्द हो जाना यह उनके स्वाभाविक शक्ति संकल्प का ही परिणाम था। उनके लिये यह कोई कठिन कार्य नहीं था। केवल मात्र संकल्प में आना ही उन सब कामों का जनक था।

साधन-सिद्धों की संकल्प सिद्धि का साधन

एक साधक योगी को जन्म-जन्मान्तरों के सत्य को धारण करने की यह सिद्धि प्राप्त होती है योग दर्शन हमें बतलाता है-

सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठ योगी की वाणी क्रिया फल वाली हो जाया करती है और ज्योंही मनुष्य बाह्य रूप से सत्य की साधना करता हुआ समाधि के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करता है तो वह सत्य संकल्प हो जाता है। उसको अनायास ही सिद्धि प्राप्त रहा करती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ ऋतं, सत्यं, विमर्ति या ऋतम्भरा अर्थात् जिस योगी की बुद्धि सत्य को धारण करती है वह ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त योगी जो भी मन में संकल्प करता है, प्रकृति उसको स्वीकार कर लेती है। और उसके संकल्पित कार्य अनायास ही होने लग जाया करते हैं। यह साधारण मनुष्य अपने साधन के बल से प्राप्त कर पाता है किन्तु अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिये यह कोई भी बड़ी बात नहीं थी। वे स्वयं सत्य स्वरूप हैं। श्री मद्भागवत के दसवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय में जहाँ पर गर्भ स्तुति की गई है वहाँ पर ब्रह्माजी ने उनकी स्तुति करते हुए उनको सत्यात्मक कहा है—

सत्य व्रतं सत्य परं त्रिसत्यं।
सत्यस्य योनिनिहितं च सत्ये।।
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रं।
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।।

अर्थात् ब्रह्माजी करबद्ध स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि सदा सर्वथा सत्य रहने वाले सत्य परायण सत्यात्मक हम आपकी शरण में होते हैं। इसलिए सत्य संकल्प अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिये कारागार के दरवाजों का खुल जाना और उनके लौट आने पर फिर बन्द हो जाना एक बहुत साधारण कर्म था किन्तु यह शक्ति साधक योगी के लिये बड़ी कठिन साधना के बाद प्राप्य है। इसके बाद भगवान् की गोकुल लीलायें आरम्भ होती हैं। नन्दरायजी ने उनका जन्मोत्सव मनाया। गीत, वाद्य आदि के सब उपक्रम हुए और उसके बाद भी जिस समय नन्दरायजी कंस को वार्षिक कर देने के लिये गये हुये थे उसी सुअवसर को पाकर पूतना सुन्दर रूप धारण कर गोकुल में आ गई। और धूम-धाम करके नन्द के घर में पहुँची और अनायास ही बालक रूप में छिपे उस परम योगेश्वर को अपनी गोद में लेकर अपने विषमय स्तनों का पान कराया किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला प्रत्युत श्रीकृष्ण के शरीर पर असह्य विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और जैसे के तैसे अपने दिव्य स्वरूप में अमर रहे और खेलते रहे। इसके विपरीत पूतना के प्राण पखेरू उड़ गये एवं श्रीकृष्ण के संकल्प से उसने सद्गति पायी। यह उस अनादि महासिद्ध की सहज वसिता थी जिसमें पंच महाभूतों पर पूर्णाधिकार था जिसमें उनको किसी प्रकार की कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि यह उनका सदैव ईश्वर: सदैव भुक्त: कथनानुसार सहज ही है। यद्यपि साधन करने वाला योगी साधन सिद्धता को पाकर इस शक्ति को प्राप्त कर लेता है किन्तु ये उनकी साधन सिद्धता है और अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण का यह सहज वसीकार है। हमें योगदर्शन बतलाता है—

परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:।

अर्थात् योगी का संयम बल इतना बढ़ जाता है कि वह चाहे परमाणुओं से लेकर परम महत्व अर्थात् मूल प्रकृति पर्यन्त पूर्ण वसीकार रहता है। जहाँ भी जिस वस्तु में अपने को संयमित करता है उस तत्व को जान लेता है। इसी बल के आधार पर भूतजय की शक्ति को प्राप्त करता है।

योगी का भूतजय एवं अणिमादिक की प्राप्ति

एक साधक योगी पंच महाभूतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये संयम करता है और उनका साक्षात्कार करता है। बाद में कठिन प्रयास के बाद वह भूतजय की सिद्धि को प्राप्त करता है और अणिमादि का अधिकार बनता है। योग–दर्शन में भगवान् पतंजलि देव लिखते हैं–

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व संयमाद्भूतजयः।

अर्थात् योग दर्शन में पाँच भूत माने हैं– 1. स्थूल, 2. स्वरूप, 3. सूक्ष्म, 4. अन्वय, 5. अर्थवत्व। वह इस प्रकार है–

1. स्थूल – पंच महाभूतों का स्थूल स्वरूप इस प्रकार है जैसे पृथ्वी का पृथ्वी ही स्थूल रूप है और जल का जल ही स्थूल रूप है, अग्नि का अग्नि, वायु का वायु और आकाश का खाली पोल। यही इन पंच महाभूतों में स्थूल रूप है जो स्वरूप हर व्यक्ति को देखने में आते हैं।

2. स्वरूप – दूसरा रूप उनका स्वरूप है। उदाहरण के लिये जैसे पृथ्वी में गन्ध, जल में चिकनाहट, अग्नि में गर्मी, वायु में कम्पन और आकाश में पोल। ये इन पंच महाभूतों का स्वरूप है।

3. सूक्ष्म – तीसरा रूप सूक्ष्म है जिनको तन्मात्र कहा जाता है, जैसे पृथ्वी का गन्ध तन्मात्र, जल का रस तन्मात्र, अग्नि का रूप तन्मात्र, वायु का स्पर्श तन्मात्र यह पंच महाभूतों का तीसरा रूप है।

4. अन्वय – चौथा रूप अन्वय है। अन्वय का अर्थ ओत–प्रोत रहना, जैसे सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों गुण अपने प्रकाश, प्रवृति और स्थिति वाले धर्मों से सर्वत्र अनुगत रहते हैं यही पंच महाभूतों का अन्वय रूप है।

5. अर्थवत्त्व – अर्थात् इनका अर्थवान होना, इनसे कोई उपकार हो, लाभ हो, सो ये पांचों महाभूत भोग अपवर्ग के दाता हैं। महाभूत के सम्मिश्रण से ही मनुष्य भोग का भोक्ता है। इसलिए नित्य चेतन आत्मा बौद्धेय धर्मों का अनुगामी होकर पंच महा–भूतों में जनित सभी प्रकार के दृश्यात्मक भोगों का भोक्ता रहता है। दृश्य का दूसरा कार्य अपवर्ग है जिस समय जीव वैराग्य भाव को प्राप्त होकर बराबर सूक्ष्मतर और उसकी सूक्ष्मतम तत्वों में संयम करता हुआ आगे बढ़ता रहता है वह अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। भूतों के इन भिन्न पाँच रूपों में जब तक योगी साक्षात् पर्यन्त बराबर संयम करता रहता है तो उसके फलस्वरूप वह भूत जय को प्राप्त होता है। और भूत जय कर लेने पर—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय संपत्तद्धर्मान–भिघातश्च।।

अर्थात् पंच भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने पर अणिमादिक सिद्धियाँ योगी को अनायास ही प्राप्त हो जाया करती हैं। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यास देवजी लिखते हैं—

तत्राणिमा भवत्यणुः, लघिमा लघुर्भवति, महिमा महान, भवति प्राप्ति अंगल्यग्रैणपि स्पृशति चन्द्र–मसम्, प्राकम्यम् इच्छाऽनभिघातो भूमावुन्म–ज्जति निमज्जति यथोदके वशित्वम भूत भौतिकेषु वशी भवतिः अवश्यश्चान्येषाम्, ईशितृत्वं तेषाम्प्रभ–वाप्यव्यूहाना–मीष्टे, यत्र कामावहायित्वं सत्य संकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूत–प्रकृतीनामवस्थान।

अर्थात् भूत जय प्राप्त कर लेने पर योगी को अणिमादिक सिद्धियाँ जो अनायास प्राप्त हो जाती हैं।

1. **अणिमा : भवत्यणु** – अणुमात्र हो जाना।

2. **लघिमा : लघुर्भवति** – हल्का हो जाना।

3. **महिमा : महान भवति** – बड़ा हो जाना।

4. **प्राप्ति : अङ्गल्यग्रैणपिस्पृशति** – अंगुली के अगले भाग से चन्द्रमा को छू लेने की ताकत होना।

5. **प्राकाम्य : इच्छाऽनेभिघातो भूमा–वुन्मज्जति** – किसी भी प्रकार की इच्छा का न रुकना, पूर्ण हो जाना, चाहे तो योगी जिस प्रकार सर्व साधारण मनुष्य जल में गोता लगा लिया करते हैं और बाहर निकल आया करते है इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश कर बाहर निकल आ सकते हैं।

6. **वसित्वम् : भूतभौतिकेषुवशीभवतिः** अर्थात् पंच महाभूतों से रहने वाले सभी पदार्थों पर उसी योगी का पूर्ण वसीकार होता है और वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता।

7. ईशतत्व : तेषाम्प्रभवोप्यव्यूहाना-मीष्टे: अर्थात् पंच महाभूतों के भौतिक कार्यों को बनाने और बिगाड़ने की सामर्थ्य रखना।

8. यत्रकायावसायत्वम : सत्य सङ्कल्प-स्तथा: अर्थात् सत्यं संकल्पता जैसे योगी की इच्छा होती है पंच महाभूतों का उस प्रकार अवस्थान हो जाता है और इन महा सिद्धियों को पाकर योगी सर्व सामर्थ्यवान बन जाता है। महाभूतों का कोई भी कार्य उसके प्रतिकूल नहीं होता प्रत्युत उसको काय संम्पत और प्रगट हो जाती है। कायसम्पति को भगवान् पतंजलि देव ने इस प्रकार कहा है–

रूप लावण्य बलवज्र संहननत्वानि काय संपत्।

अर्थात् रूप = अत्यन्त रूपवान कान्तिवान वज्र के समान दृढ़ और सब प्रकार अच्छेद्य शरीर वाला हो गया है। सब प्रकार से शरीर की अच्छेद्यता, अभेदता को प्राप्त रहना यह योगी की कायसम्पति है। जो भूतजय प्राप्त होने पर स्वभाव से ही बनी रहती है। साधक सिद्ध योगी को जीवन भर की कठिन साधना के बाद भूत जयता प्राप्त होती है। तब उसके ऊपर भूतों के दुष्परिणाम नहीं हो पाते। भूतजय योगी विषपान करके उसको सहज में ही पचा जाता है और अमृत के गुणों को अपने अन्दर प्रगट कर लेता है। साधना करने वाले योगी को ये सम्पत्ति बड़े कठिन प्रयत्न के बाद प्राप्त हुआ करती है किन्तु अनादि महासिद्ध सदैव ईश्वर: सदैव भुक्त: के स्वरूप को धारण करने वाले अनादि महासिद्ध सर्वत: परिपूरितम श्रीकृष्ण के लिये यह भूत जय आदि ऐश्वर्य अनायास ही प्राप्त है। अत: पूतना के स्तनों से विषपान करने पर भी शरीर में किसी प्रकार का कुप्रभाव न हो करके उनकी काय सम्पत्ति को ज्यों का त्यों बने रहना उस महायोगी के भूत जयात्मक पूर्णाधिकार को पूर्णरूपेण प्रगट करती है।

इससे आगे श्रीमद्भागवत में संकट भंजन जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपने पालने में सो रहे थे। कुछ समय बाद उनकी आँख खुली वह भूख के कारण दूध पीने की इच्छा रखते हुए रोने लगे। काफी समय तक माता यशोदा उन्हें देख नहीं पायी। माता की इस उपेक्षा के कारण भगवान् ने थोड़ा-सा कोप का अभिनय किया और पास में खड़े हुए एक बड़े भारी संकट अर्थात् बैलगाड़ी को बल से पैर मार कर तोड़ डाला। उस पर काफी दही दूध रखा था वह बर्तन भांड़ों के टूट जाने के कारण पृथ्वी पर फैल गया। सभी बृजवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी भारी गाड़ी सहसा कैसे टूट गयी। भगवान् श्रीकृष्ण के बालसखा छोटे-छोटे बच्चे अपनी तोतली जुबान से नन्द बाबा और यशोदा माता को बतलाने लगे कि तुम्हारे लाला इस कन्हैया ने गुस्से में आकर पैर मारकर इस गाड़ी को तोड़ दिया है। सभी बूढ़े-बड़ों के मन में पूरा-पूरा विश्वास नहीं हो पाया क्योंकि श्री कृष्ण तो अभी बिल्कुल छोटे बच्चे थे। अभी तो उन्होंने करवट बदलना ही सीखा था। उनके पैर मारने से संकट का टूट जाना असम्भव-सी बात थी। किन्तु बलों के भंडार अखिल आत्मा श्रीकृष्ण के लिये ये सब खेल जैसी बात थी। उन्होंने अपनी इस अल्पीय-सी अवस्था में ही संकट को पैर मार कर अपने अतुल बल का परिचय दे दिया। यह उनका बिना किसी साधना के सहज ऐश्वर्य था। दूसरे योगी इस बल को बड़ी भारी कठिन साधना के द्वारा प्राप्त किया करते हैं तब इतने बन पाते हैं।

बल प्राप्ति का अमोघ साधन

योग दर्शन में भगवान् पतंजलि देव अपने शरीर में अतुल बल बढ़ाने का एक अमोघ साधन बतलाते हैं। साधक योगी पहले ब्रह्मचर्य व्रत आदि का पूर्ण रूपेण पालन करके बाद में धारणा, ध्यान, समाधि का निरन्तर अभ्यास करके संयम सिद्धि को प्राप्त करे तब वह अपनी साधना के बल पर अपने शरीर में हाथियों के बलों को उत्पन्न कर सकता है। चीते जैसी स्फूर्ति ला सकता है, बशर्ते उसने अपनी साधना को लगातार निरन्तर एवं आदर पूर्वक दृढ़ता से अभ्यास करके कठिनता से प्राप्त कर पाया हो। भगवान पतंजलि देव बतलाते हैं।

बलेषु हस्तिबलादीनि।

यदि योगी बलों के अन्दर संयम करता है तो उसके अन्दर तत्काल हाथी के समान बल बढ़ जाता है। एवं उसका शरीर वज्र के समान दृढ़ हो जाता है। उसके लिए संकट का तोड़ देना कुछ न करने के बराबर कार्य है। किन्तु साधना सिद्धों के लिए यह कार्य उनकी अपनी साधना के बल पर होता है और अनादि काल से स्वत: सिद्ध रहने वाले महान् आत्मा श्रीकृष्ण के लिये यह अनायास सहज कर्म था जो उनकी इच्छा मात्र से स्वत: हो गया।

तृणावर्त का वध एवं लघिमा और गरिमा का प्रयोग

भगवान् के इससे आगे के चरित्रों के अन्दर तृणावर्त राक्षस की कथा है। यह तृणावर्त वात रूपधारी कंस का एक नौकर था जिसने जंजावात का रूप धारण कर गोकुल में बड़ा भारी तूफान मचा दिया। सम्पूर्ण गोकुल गाँव ब्रज रज से भर गया। उस झंझावात में एक दूसरे के शरीर नहीं दिखाई देते थे। महाअन्धकार छा गया था। माता यशोदा ने अपने बाल गोविन्द को एक ओर जमीन पर बिठा दिया था। राक्षस तृणावर्त का दांव लग गया और उनको उठा कर आकाश में ले गया। तृणावर्त के मनोभाव जान कर भगवान् ने अपने आपको रुई के मानिन्द हल्का बना लिया और उसके वेग के साथ–साथ आकाश में चले गये और तृणावर्त के गले को पकड़े बालक के वेश में छिपे हुए उस दिव्य तेज ने आकाश में पहुँच कर और अपने हाथों में तृणावर्त के गले को पकड़ कर गरिमा सिद्धि के प्रयोग से अपने आपको इतना भारी बना लिया कि श्रीमद्भागवत में व्यास देव जी को यह शब्द कहने पड़े।

तमश्मानं मन्यमानआत्नो गुरुमत्तया।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्रोदद्भुतार्भकम् ।।

अर्थात् उस तृणावर्त राक्षस ने भगवान श्रीकृष्ण को पत्थर के मानिन्द भारी समझा। भगवान् ने उसके गले को पकड़ रखा था। भारी प्रयत्न करने पर भी वह अपना गला नहीं छुड़ा सका और अन्त में उसको मृत्यु के मुख में जाना ही पड़ा। जगदात्मा की ये सारी लीलायें योग से ही सम्बन्ध रखने वाली हैं। अन्य जितने अवतार हुए उनमें से किसी अवतार रूप में भी कहीं पर इतने विशेष ऐश्वर्य का प्रदर्शन नहीं किया कि उसके चरित्रों से योगिक ऐश्वर्य झलक पड़े। भगवान् श्रीकृष्ण की सारी लीला चरित्र योग ऐश्वर्य से परिपूर्ण है किन्तु ये सबके सब कार्य उनमें संकल्प मात्र के थे और यही सब उनकी अनादि काल से चलने वाली सिद्धता है। इस छोटे से लेख में उन जगदात्मा के अलौकिक योग ऐश्वर्य को यत्किंचित दिखलाने का प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ इन चरित्रों के पढ़ने से हर साधक को योग की उत्कृष्टता का ज्ञान अवश्य हो जायेगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वत: सिद्ध थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन में जिस प्रकार अणिमादिक ऐश्वर्य का प्रयोग किया है उस बल की साधना करने वाला योगी भी समय पर प्राप्त कर सकता है। आज भी भारतवर्ष में इस प्रकार के योगी मौजूद हैं जिनकी इस प्रकार की कथायें दंत परम्परा से अवगत होती ही रहती है। साधारण साधक समुदाय के अन्दर भी लोग अपनी छोटी मोटी प्राणशक्ति का प्रदर्शन आज दुनिया में किया करते हैं। सैकड़ों मन का वजन अपनी छाती पर रखता हैं बैलों की गाड़ी, ट्रक अपनी छाती पर से उतरवाते हैं। ये उनकी प्राण–शक्ति का थोड़ा–सा प्रदर्शन होता है। इसमें संयम बल की कोई भी साधना नहीं किन्तु प्राण पर थोड़ा–सा जय प्राप्त करने पर वे लोग इस प्रकार के अद्भुत कर्म करके दिखाया करते हैं। जब मुझसे कोई यह प्रश्न पूछता है कि परमात्मा की ओर चलने वाले मार्गों में आपको कौनसा प्रिय है तो मुझे उसी समय केवल मात्र लीला तनु धारण करने वाले श्रीकृष्ण की स्मृति हठात् आया करती है और मेरी वाणी से एक ही उत्तर मिलता है। परमात्मा की ओर जाने वाले रास्ते बहुत हैं और **'मुन्डे मुन्डे मतिर्भिना'** के नियमानुसार अपने मार्गों को योगी तय भी कर लेता है किन्तु हमारे पूर्वजों ने जिस विद्या का मान किया, श्री कृष्ण की लीला अभिनय के अन्दर जो विद्या पग–पग पर टपकती है वह पवित्र योग विद्या ही है। भगवान् श्रीकृष्ण की चार–पाँच कथाओं की ओर संकेत करके उनके योग ऐश्वर्य को बतलाने का प्रयत्न किया है।

निरोध एवं वृत्ति सारूप्य

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

पातंजलि योग दर्शन के कर्त्ता भगवान पातंजलि ने योग दर्शन के प्रारम्भ में ही **'अथ योगानुशासनम्'** इस सूत्र के बाद दूसरे सूत्र **'योगश्चित्तवृत्ति'** इस सूत्र के बाद दूसरे सूत्र **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** कहकर योग की सही परिभाषा लिखी है। योगाभ्यास करने वाला साधक क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एवं एकाग्र रूप चित्त भूमिकाओं से निकलता हुआ निरोधावस्था को प्राप्त होता है। वही जीवात्मा की कैवल्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में इसी का नाम निर्बीज समाधि एवं स्वरूप स्थिति कहा गया है। निरोध समाधि में जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए भगवान पातंजलि देव ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया **'तदादृष्टु स्वरूपेवस्थानम्'** अर्थात् समाधिस्थिति में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहा करता है। स्वरूप स्थिति क्या चीज है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान व्यासदेव ने इस सूत्र के भाष्य में केवल मात्र एक छोटी सी पंक्ति लिखी है–

'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीम् चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, अर्थात् तदानीं स्थितौ स्वरूप प्रतिष्ठा तावत् कीदृशी यथा कैवल्ये चित्शक्तिर्भवति।

अर्थात् उस निरोध समाधि में जिसका नाम निर्बीज स्थिति व स्वरूपावस्थान के रूप में वर्णन किया गया है। उस स्थिति में चित् शक्ति अर्थात् जीवात्मा किस स्थिति में रहा करती है, इसका उत्तर केवल मात्र दो ही शब्दों में दिया गया कि– यथा कैवल्य मोक्ष में जीवात्मा हुआ करती है, उसी का नाम स्वरूपस्थिति कहा गया है। उस स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा के सब दुःख द्वन्द्व छूट जाते हैं और उसका स्व स्वरूपावस्थान हो जाता है। यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है। हमारे शास्त्रों में एवं श्रीमद्भागवद्गीता में अखिल लोक पावन जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अछेद्य अभेद्य आदि कहकर इसको विकार रहित बतलाया है :–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।
गीता 2:23

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर चलोऽयं सनातनः।।
गीता 2:24

अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयम विकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानु शोचितुमर्हसि।।
गीता 2:25

अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र काटते नहीं है। अग्नि जलाती नहीं है पानी इसको गीला नहीं करता वायु सुखा नहीं सकता यह अछेद्य है अदाह्य है अक्लेद्य एवं अशोष्य है। यह आत्मा सर्वत्र ओत–प्रोत रहने वाली निश्चित अचल और सनातन है यह अव्यक्त अचिन्त्य एवं अविकारी कहा गया है यह सब आत्मा के स्वरूप की बातें समझाकर भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सीधे और स्पष्ट शब्दों में कह दिया–

तस्मादेवं विदित्वैनं नानु शोचितु मर्हसि

अर्थात् हे अर्जुन इस आत्मा को उपरोक्त वर्णानानुसार अछेद्य अभेद्य अविकारी जान कर तुम कोई चिन्ता मत करो। जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण के उपरोक्त उपदेश को सुनकर एवं अन्यान्य उपनिषदिक सिद्धान्त को समझकर आत्मा की स्थिति निर्विकार एवं सब प्रकार से शुद्ध है। किन्तु योग दर्शन के तदादृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्, पर भाष्य लिखते हुए समाधि में आत्मा की स्वरूप स्थिति बतला करके 'व्युत्थान चित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा, अर्थात् व्युत्थान चित्त में चित्त शक्ति अछेद्य अभेद्य रहते हुए भी वैसी नहीं होती क्योंकि वह दर्शित विषया बन जाती है। इस स्थिति को भगवान पतंजलि देव ने वृत्ति सारूप्य कहा है। यथा **'वृत्ति–सारूप्य मितरत्र'**

अर्थात् इतरत्र व्युत्थानावस्था में चैतन्य आत्मा को वृत्ति सारूप्य हो जाता है निरोध जैसी स्थिति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में विकार रहित शुद्ध चेतन आत्मा विकारी सी दिखने लगती है और वह अपने सब कार्य बुद्धि बोध के अनुसार किया करती है। स्वरूपरूपोपलब्धि के बहुत से उपायों का वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है किन्तु ऊँची-ऊँची ज्ञान भूमिकायें एवं निर्बीज समाधि में भी पहुँच जाने के बाद भी ज्यों ही चेतन शक्ति बुद्धि बोध को प्राप्त होती है त्यों ही वह वृत्ति सारूप्य होने से जैसे जिसकी अन्त:करण की वृत्ति होती है वैसे ही वह प्राणी चेष्टायें करने लगता है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने इसका संकेत **'सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'** कह कर दिया है। प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह: किंकरिष्यति, अर्थात् ज्ञानी पुरुष भी अपने आप को नित्य शुद्ध बुद्ध मनन करते हुए भी जैसा उसका बुद्धि बोध है वैसी वैसी हरकतें किया करता है।

यही कारण है बड़ी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुए महात्माओं के चरित्र उनकी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार दिखलाई देते हैं भगवान श्री राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता जगदात्मा श्री कृष्ण की लीला पुरुषोत्तमता उनकी अपनी-अपनी स्वीकार की गई प्रकृति की परिचायक है। मेरे गुरुदेव योग योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज वृत्ति सारूप्य का पूरा-पूरा स्वरूप समझा देने वाला एक उदाहरण अपने मुखारबिन्द से बतलाया करते थे। वृत्ति सारूप्य के स्वरूप को समझाने के लिए मैं उसको यहां लिख देना उचित समझता हूँ।

सुन्दरसिंह डाकू का उदाहरण

ऋषिकेष से लगभग 7 या 8 मील ऊपर भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर ब्रह्मपुरी नाम का एक जंगल है। हिमालय की यात्रा करते हुए सबसे प्रथम ऋषिकेश से चलने के बाद मेरे गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस जंगल में निवास किया था। जिन दिनों श्री प्रभु जी इस वन में निवास किया करते थे उन्हीं दिनों महात्मा कृपालानन्द नाम के एक सिद्ध योगिराज भी निवास किया करते थे। उन्होंने अपने आपको शिवमय बना लिया था। भगवान शिव की शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे महात्मा अणिमादिक ऐश्वर्यों से सब प्रकार से परिपूर्ण एवं कर्तुम-कुर्तुम अन्यथा कर्तुम की ताकत वाले सर्व समर्थ महात्मा थे। उन्हीं दिनों सुन्दरसिंह नाम का एक डाकू कहीं से डाका डालकर कई हजार के स्वर्ण जेवरात लूटकर वहाँ लाया। वह चाहता था कि उस कीमती जेवर को कहीं जंगल में छुपा दें और समय आने पर पुन: वहाँ से निकाल ले जायें। उस डाकू का कोई पूर्व पुण्य उदय हुआ जिसके फल-स्वरूप कहीं से घूमते हुए योगिराज श्री कृपालानन्द जी अकस्मात् उधर से आ निकले उन्होंने उस डाकू की उस क्रिया को देख लिया और उससे कहा कि तू ये क्या कर रहा है। उसने जवाब दिया कि महाराज मैं डाकू हूँ। डाका डालकर कुछ धन यहाँ ले आया हूँ और उसको यहां दबा रहा हूँ ताकि कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर मैं यहां से निकाल ले जाऊँ। महाराज मैं डाकू हूँ और यह मेरी वृत्ति है। योगिराज श्री कृपालानन्द जी को उसकी सत्यवादिता एवं विनय पर स्वाभाविक प्रसन्नता आ गई और उन्होंने कहा कि डाकू क्या तू हमारी आज्ञा से इस कुकर्म को छोड़ देगा और जो कुछ हम कहेंगे वह काम करेगा। उस डाकू ने योगिराज की उस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और नि:संकोच कह दिया कि प्रभो! आप जो भी कुछ कहेंगे मैं उसका सदा सर्वदा बिल्कुल पालन करने को तैयार हूँ। आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ। योगिराज कृपालानन्द जी ने किसी पूर्व पुण्य वश उस डाकू के विनयपूर्वक वचनों को सुनकर आज्ञा दी कि अच्छा यह जितने जेवर तुम यहां छुपाने के लिए लाये हो इसको उठा लाओ और हमारे साथ चलो। उस डाकू ने अपना सौभाग्य समझकर तत्काल योगिराज की आज्ञा को मान लिया और सुनहरी जेवर की गठरी को उठाकर उनके साथ चल दिया। महात्मा उसको गंगा किनारे ले गये और वहां ले जा कर आज्ञा दी कि अच्छा अब इस सब जेवरों को यहां गंगा जी में फैंक दो। डाकू ने योगिराज की आज्ञा को मानकर सब आभूषणों को गंगा जी में फैंक दिया और स्वयं निर्द्वन्द्व हो गया। योगिराज श्री कृपालानन्द जी की अहैतुकी कृपा से उसी समय से वह संप्रज्ञात का विद्यार्थी बन गया और उत्तरोत्तर उसका आत्मोत्थान होने लगा। योगिराज कृपालानन्द जी ने उस सुन्दरसिंह नाम के डाकू को योगिराज सुन्दरगिरी नाम में परिवर्तित कर दिया। शनै: शनै: अपने तीव्रतम योगाभ्यास एवं शुभाचरण के फलस्वरूप वह अणिमादिक सकल ऐश्वर्यों को पा गया। किन्तु योगिराज सुन्दरगिर के सर्व समर्थ हो जाने के

बाद ही वृत्ति सारूप्य के फलस्वरूप जिस समय वह अपनी निर्जीव समाधि से उठकर वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होते त्योंही अपने डाकू स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते क्योंकि **स्वभावोहि दु:स्त्यज: पुंसाम्,** क्योंकि स्वभाव एक प्रकार से वृत्तिसारूप्य ही है। इसी बात का संकेत करते हुए भगवान जगदात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कह दिया :-

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध: स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहा त्करिष्यसि वशोऽपि तत्।।
गीता 18:60

अर्थात् हे अर्जुन मनुष्य अपने स्वभाव से निबद्ध है। जिन कर्मों को तू मोह वश नहीं करना चाहता वे सब कर्म वश होकर तुम्हें करने ही पड़ेंगे। यह नियम साधु महात्मा संन्यासी एवं साधारण जीव सभी पर सामान्य रूप से लागू है।

योगी सुन्दरगिरि का हरिद्वार कुम्भ में आगमन

योगिराज कृपालानन्द के परमानुग्रह से डाकू सुन्दरसिंह के स्वरूप से बदलकर योगिराज सुन्दरगिरी के रूप में परिवर्तित होने वाले योगी सुन्दरगिरि एक बार हरिद्वार कुम्भ पर आए। कई सौ की तादाद में उनकी शिष्य-मण्डली उनके साथ थी। इतने बड़े समुदाय के लिए अन्न क्षेत्र की बड़ी भारी आवश्यकता थी। योगी सुन्दरगिरि ने देखा कि इस कुम्भ के मेले में कोई एक बड़े धनिक आये हुए हैं जिनसे इस अभाव की पूर्ति करानी चाहिए। योगी सुन्दरगिरी सर्व समर्थ थे, चाहते तो उन सेठजी के मन में प्रेरणा करके भी उस काम को करा सकते थे किन्तु उन्होंने वैसा न करके अपने एक शिष्य के द्वारा एक आज्ञापत्र लिखकर भेज दिया कि इतनी बोरी खांड, इतनी बोरी आटा, इतने कनस्तर घी के, इतना-इतना साग-सब्जी व अन्यान्य सामान तत्काल भेज दो। सेठ जी ने इतने बड़े सामान को भेजने में जब आनाकानी की तो योगी सुन्दरगिरि ने प्राणाकर्षिणी विद्या से उनके प्राणों को खींचना प्रारम्भ कर दिया और जो काम साधारण प्रेरणा मात्र से कराया जा सकता था उसको कठिन आकर्षण से जबरदस्ती कराया। इसी का नाम वृत्ति सारूप्य है। सर्व साधारण प्राणी सभी वृत्ति सारूप्य में रहा करते हैं। केवल मात्र युक्त योगी जिसने अपने कठिन प्रयास से निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लिया है वह ही देह धारण करते हुए भी निर्बीज समाधि में स्वरूपवस्थित होते हैं। जो लोग बिना परिश्रम के एवम् बिना तपश्चर्या के सिद्धयानुग्रह को पाकर उच्चतम स्थितियों को पा जाया करते हैं वे वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होकर अपने स्वभाववश पाप-पुण्य के झमेले खरीद लिया करते हैं। इसलिए जहां योगी अपने समाधि रूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है वहां अपने क्लिष्ट वृत्तियों के नाश करने के लिए तीव्रतम तपश्चर्या अथवा योगांगों के अनुष्ठानों की उसे भारी आवश्यकता रहती है। जिससे इस ही शरीर के अन्दर रज और तम के क्षय हो जाने के बाद सतोमयी शुभ वृत्तियों का उदय हो जाय जिससे वृत्ति सारूप्य काल में उससे शुभ कार्य ही हो सकें। वैसे मनुष्य के जीवन में क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का उत्थान-पतन प्राय: होता ही रहता है। किन्तु उस व्यक्ति का पुरुषार्थ सफल है जिसने अपनी मनोवृत्तियों को क्लिष्टता से निकाल कर अपने आप को शुभ वृत्तोक बना लिया है। जिसकी वृत्ति बिना ही समाधि के स्तम्भाकार बनी रहती है एवम् जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है वह व्यक्ति देह धर्मों के अन्दर रहता हुआ भी मुक्त आत्मा है। उसने अपने आप को पतन से परे निकाल लिया एवम् कृतार्थ बना लिया है। वह हर कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता एवम् सब प्रकार के कर्म-बन्धन से परे हैं। स्थित प्रज्ञ पुरुष के लक्षण गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में लिखे हैं। सर्व हितार्थ उनका यहां लिख देना बहुत ही समुचित मालूम देता है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण जी से स्थिति प्रज्ञ के लक्षण पूछे वे इस प्रकार हैं:-

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितघी: किं प्रभासेत किमासीत ब्रजेत किम्।।
गीता 2:54

अर्थ- हे प्रभो! स्थित प्रज्ञ समाधिस्थ पुरुष के क्या लक्षण हैं स्थित प्रज्ञ कैसे चलता है कैसे बैठता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के इस पवित्र प्रश्न को सुनकर उसका उत्तर इस प्रकार दिया :-

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।
गीता 2:55

अर्थात् जिस समय मनुष्य अपनी मनोगत सर्वं कामनाओं को छोड़ देता है एवम् अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहता है। तभी वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
गीता 2:56

अर्थ– दुःखों में जिसका मन दुःखी नहीं होता और सुखों की जिसे इच्छा नहीं होती जिसके मन से राग भय क्रोध निकल गये हैं वह मुनि स्थित प्रज्ञ कहा गया है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्त त्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता।।
गीता 2:57

अर्थ– जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेह रहित रहता है अच्छा या बुरे शुभ–अशुभ फल को पाकर न किसी प्रकार का दुःख मानता है न खुश होता है। वह अवश्य स्थित प्रज्ञ है।

यदा संरहते चायं कूर्मोङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थे भ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
गीता 2:58

अर्थ– जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को समेटकर अपने अन्दर कर लिया करता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति ने अपनी सारी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से हटाकर अपने वश कर लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवां निवर्तते।।
गीता 2:59

अर्थ– जो व्यक्ति निराहार रहता है उसकी वासना नष्ट प्रायः हो जाती है किन्तु विषयों में क्या आनन्द होता है यह रस की भावना उस साधक के मन में निराहार रहने पर भी बनी रहती है यह भावना दर्शन के बाद ही निवृत होती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।
गीता 2:60

अर्थ– विद्वान पुरुष इन्द्रिय जय का यत्न करते रहते हैं किन्तु उनके यत्न करने पर भी इन्द्रियों का बल इतना बड़ा है कि बलात् विद्वानों के मन को भी हर लेती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
गीता 2:61

अर्थ– इन्द्रियों को संयम में लाकर और चित्त को समाहित करके जो व्यक्ति मृत्परायण है और इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है।

ध्यायते विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।।
गीता 2:62

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाश बुद्धि नाशात्प्रणाश्यति।।
गीता 2:63

अर्थ– जो पुरुष विषयों का चिन्तन करते हैं वह विषय संगी बन जाते हैं और विषय संग से मन में काम पैदा हो जाता है और कामना के पूर्ण न होने से क्रोध बढ़ जाता है और क्रोध से मनुष्य संमोह को प्राप्त होता है। और संमोह रूप मूढ़ता से स्मृति भ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश और बुद्धि के नाश हो जाने से अवश्य नष्ट हो जाता है।

रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्म वश्वैर्विधेयात्मा प्रसादमधि गच्छति।।
गीता 2:64

अर्थ– विषयात्मक इन्द्रियों के राग द्वेषों को छोड़कर जो आत्म वशी केवल क्रिया मात्र से इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरते हैं वह इन्द्रियों के संयम से शीघ्र बुद्धि प्रसाद को पा जाते हैं।

प्रसादे सर्व दु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु: बुद्धि पर्यवतिष्ठते।।
गीता 2:65

अर्थ– और इस बुद्धि प्रसाद को पा करके उस साधक के सभी दु:ख हट जाते हैं एवम् प्रसन्न चित्तता से बहुत शीघ्र ही बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
नचाभावयत: शान्ति रशान्तस्य कुत: सुखम्।।
गीता 2:66

अर्थ– जिस व्यक्ति का अपने पर कोई नियंत्रण नहीं है वह अयुक्त है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती और न ही उसकी भावना उत्कृष्ट हो सकती है जिसकी भावना निष्ठा नहीं उसको शान्ति कहाँ जिसको शान्ति नहीं उसको शाश्वत सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।
गीता 2:67

अर्थ– विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के पीछे यदि साधक अपने मन को लगा देता है तो वह इन्द्रियाँ उस साधक की बुद्धि को इस प्रकार हर लेती हैं जिस प्रकार जल में पड़ी नाव को वायु खींच लिया करती है और गन्तव्य से दूर कर देती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश:।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठित।।
गीता 2:68

अर्थ– इसलिए हे अर्जुन जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है जो अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से दूर रखता है उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:।।
गीता 2:69

अर्थ– जो सब प्राणी मात्र की रात है मुनि उसमें जगता है और जिस दिन में संसार के प्राणी जगते हैं वह योगिराज के लिए रात्रि है। अर्थात् संसार के प्राणी भोग–वासना रूप दिन में जगते रहते हैं और मुनि लोग इन विषयों में सदा नि:स्पृह होकरं अपने आपको दूर रखते हैं यही उनकी रात्रि है। और जिस आत्मानंद में संसार के प्राणी सोये से रहते हैं मुनि लोग उसमें सदा सर्वदा जगते रहते हैं वही योगिराज के लिए पवित्र दिन है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामायं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।
गीता 2:70

अर्थ– अर्थात् कभी भी पूर्ण न होने वाले समुद्र में जिस प्रकार सभी नदी–नाले विलय को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार सारी कामनायें जिस साधक में विलय हो जाती हैं वहीं शान्ति को पाया करता है न कि कामनाओं के पीछे भगने वाला।

विहाय कामान्य: सर्वान्–
पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार:
स शान्तिमधिगच्छति।।
गीता 2:71

अर्थ– सारी कामनाओं को छोड़कर जो पुरुष नि:स्पृह ममता रहित एवं अहङ्कार रहित होकर विचरता है वही शान्ति को प्राप्त करता है।

एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ
नैनां प्राप्यविमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि
ब्रह्म निर्वाणमृच्छति।।
गीता 2:72

अर्थ– हे अर्जुन! यही पवित्रतम ब्राह्मी स्थिति है जिसको पाकर मनुष्य कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता और इसमें स्थित रहने वाला व्यक्ति अन्त में ब्रह्म निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

यमों की साधना

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह यह पाँच साधनाएँ यम कहलाती हैं, इनमें यम नियमों की सब साधनाओं की आधारभूत अहिंसा है। इसी सूत्र का अर्थ करते हुये भगवान् व्यासदेव अहिंसा के अर्थ को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं।

अहिंसा तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूता नामनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मू लास्त-त्सिद्धिपरतया तत्प्रति-पादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरण यैदोपारीयन्ते तथा चोक्तं— "स खल्वयं ब्राह्मणों यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा यथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसा-निदानेभ्यो निवर्तमानस्ता मेवावदातरूपाम् अहिंसा करोति।

अर्थात् अहिंसा के अतिरिक्त शेष यम, नियम, अहिंसा पुष्टि के लिए ही हैं। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिये। उदाहरणार्थ हम सत्य बोलते हैं, सत्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुये भगवान व्यासदेव जी ने निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं:-

सत्यं यथाऽर्थे वाङ्गमनसे, यथाद्रष्टं यथा-ऽनुमिते यथा श्रुतं तथा वाङ्मश्चेति, परत्र स्वबोध-सङ्क्रान्तेय वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति बन्ध्या वा भवेदिति एषा सर्वभूतोषकारार्थ प्रवृत्ता न भूतोपद्यताय यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात।।

अर्थात् यथार्थ वाणी जैसे देखी सुनी व अनुमान की हुई, दूसरे को अपना अर्थ समझाने के लिये न वचनों से युक्त, न भ्रान्तियुक्त व न अस्पष्टार्थ कहीं हुई, जो प्राणिमात्र के परोपकार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य प्रयुक्त होती है वही वाणी सत्य कहलाती है। इसी के द्वारा प्राणिमात्र का भला होता है। इसलिए सत्यवादन अहिंसा की निर्मलता के लिए और इसी प्रकार अस्तेय आदि जो हैं वो भी अहिंसा की निर्मलता के लिए अन्य सब प्रकार के व्रताचरण अहिंसा धर्म को ही परिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा किसी जाति, किसी देश और किसी काल व समय से युक्त न हो और सार्वभौमिक अहिंसा हो तो महाव्रत कहलाती है। यथा भगवान पतञ्जलि के शब्दों में :-

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः
सार्वभौमा महाव्रतम्।
(योगसूत्र 2/3/1)

जाति देश आदि का अभिप्राय :- जैसे मछली मारने वाले केवल मछली ही मारते हैं। उनकी हिंसा मछली जाति में है। दूसरी सब जगह वे अहिंसक हैं। देश में तीर्थ आदि में जो बलिदान देने की प्रथा है वह स्थान विशेष की हिंसा है। इसलिए देश विशेष की हिंसा और इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी खास पुण्य-काल में हिंसा करते हैं, जैसे पुण्य-विषय किसी खास समय पर आने वाली अष्टमी, चतुर्दशी आदि में बलि का विधान होता है वह कालविशेष हिंसा या कालगता हिंसा कहलाती है इसी प्रकार जो किसी खास विशेष समय के लिए बड़े-बड़े किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए हिंसा की जाती है, वह समय की हिंसा कहलाती है। इन्हीं सभी प्रकार की हिंसाओं से निकलकर प्राणिमात्र में, सब देशों में, सब काल में और बड़े से बड़े किसी महान कार्य के लिए भी जो हिंसक नहीं वह अहिंसा रूप महाव्रत का धारण करने वाला बन जाता है। हिंसा की हुई, कराई हुई, लोभ से, क्रोध से और मोह से व मृदु, मध्य व अधिमात्रादि भेदों से सैकड़ों भेदों की है। पूर्ण अहिंसाव्रती वही कहला सकता है जो लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर किसी भी प्रकार की हिंसा

न करे न कराये न अनुभोदन करें। भगवान पतंजलि जी लिखते हैं:-

वितर्क बाँधने प्रतिपक्षभावनम्।

(योगसूत्र 2/33)

अर्थात् जब जब साधक के सामने हिंसा व्रत आए तब तक उसको प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। मनुष्य लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर सोचता है कि मैं अपने शत्रु को मार डालूंगा। और झूठ बोलना पड़े तो झूठ भी अवश्य बोलूंगा, इसके धन को चुरा लूंगा। इसकी स्त्री से बलात्कार करुंगा ओर उसके स्थान आदि को जबर्दस्ती छीनकर उसका मालिक हो जाऊँगा, इत्यादि भाव जिस समय साधक के मन में प्रबलता धारण करें तो साधक को इसके अतिरिक्त विपरीत भावनाओं को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि संसाराग्नि के घोर अंगारों में पिसते हुए मैंने प्राणिमात्र को अभय देने वाला योग अपनाया है। अब मैं पुन: इस अग्नि में नहीं पड़ूंगा। इस प्रकार की भावनाओं को दृढ़ करता हुआ मनुष्य कृता, कार्यता अनुमोदिता आदि तीनों प्रकार की हिंसाओं से बचकर के पूर्ण अहिंसाव्रत को प्राप्त करता है। यह प्राणिमात्र के प्रति वैर छोड़ देता है और इसके प्रति भी प्राणिमात्र वैर छोड़ देते हैं— भगवान् पतंजलिजी- अहिंसा की पूर्ण पराकाष्ठा का फल बतलाते हैं:-

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निियो वैरत्याग:।

(योगसूत्र 2/35)

अर्थात् अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणिमात्र वैर छोड़ देते हैं, इसी कारण से इस अहिंसा के प्रतीक हमारे ऋषि मुनियों के आश्रमों में शेर, चीता और साधारण अन्य मृगादिकों का समान-भाव से रहना सुनते हैं।

दूसरा यम सत्य है। सत्य की परिभाषा ऊपर अहिंसा की पुष्टि में बतला चुके हैं अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयुक्त हुई वह वाणी जिसमें किसी को धोखा न दिया जाय सत्य कहलाती है।

सत्य के लिए उपनिषदों में बड़े बड़े शब्द मिलते हैं।

सत्यं ज्ञानमनंतम् ब्रह्म।

(तैत्रि. 2/1/1/)

सत्य प्रभु का रूप है तथा वाणी का तप है।

सत्यने लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
स्म्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येणा
नित्यम् अंत: शरीरे ज्योतिर्मयोहि
शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:।।
सत्यमेव जयते नानृतम।
सत्येन पन्था: विततो देवयान।।

मुण्डकोपनिषद् 3:1:5

अर्थात् सत्य, ज्ञान, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही अन्त: शरीर में शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा को देखता है, जिसे दोषों को क्षीण कर यति लोग भी कठिनाई से देख पाते हैं। सदैव सत्य की ही जय होती है, देवों का मार्ग सत्य से विस्तृत है। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज ने श्री मद्भगवद् गीता के सत्रहवें अध्याय के तेइसवें श्लोक में सत् शब्द ब्रह्म का नाम बतलाया है। यथा-

ॐ तत्सदिति निर्दिशो
ब्रह्मणस्त्रि विधस्मृत:।
ब्राह्मणास्तेन वेढांश्च
यज्ञांश्च विहिता: पुरा।।

गीता 17:23

अर्थात् ॐ तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही नाम है व इसी के द्वारा वेद यज्ञ व ब्राह्मणों का विधान हुआ। इसी प्रकार का संकेत उपनिषदों में स्थान-स्थान पर भरा है।

सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म

(तैत्रि 32/1/1)

सत्यं ब्रह्म-

(वृहदारण्यक उपनिषद्) 5/5/1

अर्थात् सत्य ही ब्रह्म है।

श्री विष्णुसहस्त्रनाम नाम में भगवान को ''**सत्य: सत्यपराक्रम:**'' कहकर स्तुति की गई है। श्री मद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के दूसरे अध्याय में गर्भ स्तुति के वर्णन में श्री भगवान कृष्ण चन्द्र को परम सत्य व सत्यात्मक शब्दों से सम्बोधित करके स्तुति की है। यथा-

सत्य व्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं

सत्यंस्ययोनि निहितं च सत्ये।

सत्यंस्यसत्यामृतं सत्यंनेत्रं

सत्यात्मकं त्वां शरणप्रसन्नः।।

अर्थात् हे प्रभो आप सत्यव्रत, सत्यपरायण व तीनों कालों में परम सत्य हैं। सत्य ही आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है क्योंकि आप सत्यात्मक है।

उन सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दधन प्रभु का स्वरूप सत्य है। वे स्वयं सत्य हैं, सत्य स्वयं परब्रह्म है। सत्य की महाशक्ति का वर्णन करते हुये हमारे पूर्वजों ने बड़े ऊँचे स्वर से कह दिया है :-

सत्येन वायुरावति सत्येनादित्यो रोचते

दिवि सत्य वाचः।

प्रतिष्ठा सत्ये सर्व प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं

परं वदन्ति।

(-नारायणोपनिषद 761)

सत्य ही जय का मुख्य साधन है।

सत्यमेव जयते नानृतं,

सत्येन पंथा विततो देवयानः।

ये ना क्रमन्त्यृषयोहयाप्तकामाः

यत्रतत्सत्यस्य परमं निधानम्।।

(मुण्डकोपनिषद् 3/1/6)

अर्थात् सदा सर्वदा सत्य की ही जय होती है। इस सत्य का अवलम्ब लेकर ऋषिजन आप्तकाम हो गए व उस सत्य के परम प्रतिष्ठा रूप प्रभु को सरलता से प्राप्त कर लिया। भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के बनवास हो जाने के बाद उन्हें लौटाने के विचार से गए हुये वशिष्ठ वामदेव आदि गुरूजनों के प्रति सत्य की महिमा को हृदय में धारण करते हुये श्री रामचन्द्र जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा-

सत्य मेवानृशसं च राजवृत्तं सनातनम्।

तस्मात्यसतत्मकं राज्यं सत्यो लोके प्रतिष्ठितः।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेवहि मेनिरे।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं-

गच्छति चाव्ययम्।।

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतं वादिनः।

धर्मसत्य परो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।।

सत्यमेवे श्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।

सत्य मूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम्।।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।

वेदाः सत्य प्रतिष्ठा-नास्तस्मा त्सत्यपरो भवेत्।।

(वाल्मीकि रा. अयोध्याकाण्ड सर्ग 1/10/14)

अर्थात् सत्य ही सनातन राजवृत्त है। राज्य की व लोक की सत्य में ही प्रतिष्ठा है। ऋषि मुनि व देवता सभी ने सत्य को माना है- यही सनातन धर्म है। सत्यवादी ही इस लोक में अव्ययपद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार मनुष्य सर्प से डरते हैं उसी प्रकार अनृतवादी से डरना चाहिए। क्योंकि इस संसार में सत्य ही परम तत्व है व सभी शुभों का मूल है।

इस लोक व परलोक में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदा सत्य के आश्रित है, सर्व विश्व का मूल है। सत्य से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। सत्य ही परम तत्व है। सभी दान, अनुष्ठान, यज्ञ व तप सत्य पर आधारित हैं। इसी प्रकार चारों वेद सत्य द्वारा ही प्रतिष्ठा पाने वाले हैं। अतः कल्याण चाहने वाले को सत्यपरायण होना चाहिए। इस प्रकार सत्य की महान् महिमा को बतला कर भगवान श्री रामचन्द्र जी अपने व अपने पिताजी के सत्य वचन के पालन के लिए अयोध्या नहीं लौटे।

ठीक इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने रामचरित-मानस में स्पष्ट लिखा है-

सत्य मूल सब सुकृत सुहाये,

वेद पुरान विदित मनु गाए।

धर्म न दूसर सत्य समाना,

आगम निगम पुरान बखाना।

नहिं असत्य सम पातक पुंजा,

गिरि सम होइ कि कोटिक गुंजा।

इसी प्रकार अन्य सन्तों की वाणियों में भी सत्य की महान महिमा का वर्णन कूट-कूट कर भरा पड़ा है।

जाके हृदय सांच है, वाके हृदय आप।

अर्थात् जिसके हृदय में सत्य है, वहीं प्रभु का भी वास है। ठीक यही भाव महाभारत में व अन्यान्य आर्य ग्रन्थों में भरे पड़े हैं–

अश्वमेधसहस्त्र च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्त्रभ्यः सत्यमेव विशिष्यते।।
सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्
सत्यं च वचनं राजन् सत्रं वा स्यान्नैवासमम्।
नास्ति सत्यसमो धर्मो, न सत्याद्धिशिष्यते परम्।
न तीव्रतरं किंचिद नृतादिह विद्यते।।
(महाभारत आदि पर्व 74-102-105)

अर्थात् सहस्रों अश्वमेघ यज्ञ की तुलना करें तो सत्य ही उत्कृष्ट है– इसी प्रकार सारे वेदों का पढ़ना, तीर्थ-स्नान सत्य की तुलना में नहीं आ सकते– सत्य के समान कोई धर्म नहीं है व असत्य के समान घोर पातक नहीं है।

महाभारत के शान्ति पर्व के 162 वें अध्याय में श्री भीष्मपितामह ने बड़े ऊँचे शब्दों में सत्य का व्याख्यान किया और अन्त में यहाँ तक कह दिया कि :–

नान्तो शब्दों गुणानां च
वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति
विप्रा सपितृदेवता।।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में–

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मारुतो वान्ति सत्ये सर्व प्रतिष्ठितम्।।
सत्येन देवा प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
तस्मादाहु परो धर्मस्तस्मात्सत्यन्न लंघयेत्।।
मुनयः सत्यनिरताः मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्य शपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते।।

अर्थात् सत्य की महिमा का वर्णन कहाँ तक करें। सब ऋषि, मुनि, देवता स्थान स्थान पर सत्य की महिमा गाते हैं। सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से वायु बहती है, अग्नि तपती है। सत्य में ही सब प्रतिष्ठित हैं। देव लोग, मुनि, ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं– अतः कभी भी सत्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। सब ऋषि मुनियों का बल सत्य है। इसी प्रकार के भावों से वेद-शास्त्र व पुराण भरे पड़े हैं।

श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति के अध्याय आठ के 96 वें श्लोक में निशाङ्क सत्यवादी को बड़ा ऊँचा महत्व दिया है।

यथा :–

यस्य विद्वान् हि वदतः, क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते
तस्मान्न देवा श्रेयांसो, लोके अन्य पुरुषं विदुः।
(मनुस्मृति अध्याय 8 श्लोक 96)

अर्थात् निशाङ्क सत्यवादी का देवता लोग भी परम आदर करते हैं व उसको बड़ा मानते हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति के चौथे अध्याय में प्रिय एवं सत्य बोलने को ही सनातन धर्म बतलाया है। यथा :–

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रू यान्न, ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष, धर्मः सनातनः।।

अर्थात् सत्य बोलो किन्तु प्रिय सत्य बोलो। कटु सत्य न बोलो। ऐसा न हो कि झूठ को सत्य सा बनाकर प्रिय बोल दो। सत्य ही प्रिय शब्दों में बोलो कटु सत्य नहीं यही सनातन धर्म है।

मनुष्य को मनसा वाचा कर्मणा सत्यवादी होना चाहिए। वाणी से शब्द कहे जा सकते हैं। भाव छुपाया जा सकता है। किन्तु यह सब असत्य है, सत्य नहीं। जो किसी सभा में बैठकर सत्य को जानते हुए भी नहीं कहते वे इस प्रकार असत्य ही बोलते हैं।

ये तु सभ्या सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्नासते।
यथा प्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतंवादिनः।।

अर्थात् जो लोग सत्य को भी समझते हुए सत्य नहीं कहते वे सब अनृतवादी ही हैं। अतः मनसा वाचा कर्मणा सत्य बोलने वाला ही सत्यवादी कहला सकता है।

सत्य वचन व वाक्सिद्धि

जो मनुष्य पूरी तरह मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य बोलते हैं व अपने संकल्प मात्र को भी असत्य नहीं होने देते, उनकी बुद्धि में ऋतवास कर जाता है। वे लोग जो सोचते हैं वह सत्य है। जो कहते हैं, वह सत्य है— उनकी कोई भी

क्रिया असत्य नहीं हो सकती। योग-दर्शन में भगवान पतंजलि जी आदेश करते हैं:-

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्मभ्।

(साधनपाद सू. 36)

इस सूत्र पर व्यास-भाष्य :-

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिक: स्वर्ग प्राप्नुहीति।

प्राप्नोति स्वर्ग, अमोधाऽस्य वाग् भवति।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठयोगी जिसने अपने पूरे जीवन में कभी असत्य नहीं बोला, उसकी वाणी अव्यर्थ हो जाती है। उसको बिना प्रयत्न के वाक् सिद्धि रहती है। उसके मुख से निकला वचन कभी मिथ्या नहीं होता।

अखिल ब्रह्माण्डनायक परम सत्य स्वरूप भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने महाभारत में द्रौपदी को सान्त्वना देते हुये प्रतिज्ञापूर्वक अपनी वाक्सिद्धि को कहा है-

चलेद्धि हिमाञ्छैलो, मेदिनी शतधा भवेत्।
द्यौ: पतेच्च सनक्षत्रा, न मे मोघं बचो भवेत्।।
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णेवाद्यो निगृह्यताम्।
हतमित्राञ्छिाया युक्तान्न चिराद् द्रक्ष्यसेपतीन्।।

अर्थात् हिमालय अपने स्थान से विचलित हो जाये, पृथ्वी के टुकड़े हो जायें और चाहे आकाश नक्षत्रों सहित गिर पड़े किन्तु मेरी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती। द्रौपदी, आँसू पोंछो। बहुत थोड़े समय में तुम अपने पतियों को शत्रु रहित भूमण्डल पर राज्य-श्री युक्त देखोगी। सत्य स्वरूप भगवान ने—

सत्यं ते प्रतिजाने

कहकर उपर्युक्त शब्द द्रौपदी से कहे और हुआ भी वहीं।

इसी प्रकार अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा को सांत्वना देते हुये भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र प्रयोग द्वारा उसके मृत शिशु को जीवन-दान देने के समय बार-बार प्रतिज्ञापूर्वक अपने सत्य को साक्षी रखते हुये कहा कि-

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतदृभविष्यति।
एष सजीवयाम्येनं पश्यता सर्वं देहिनाम।।
नोक्त पूर्व मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कादाचन।
न च युद्धात्परा वृत्तस्तथा संजीवतामयम्।।
यथा मे दयितो धर्मों ब्राह्मणाश्च विशेषत:।
अभिमन्यो: सुतो जातो मृतो जीवत्वयन्तथा।।
यथाहं नाभि जानामिविजयेन कदाचन।।
विरोधन्तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशु:।
यथा सत्यंच धर्मश्च मयि नित्य प्रतिष्ठतौ।
तथा मृत शिशुरयं जीवतादभिमन्युज।।
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहितौ मया।
तेन सत्येन बालोऽयं पुन: संजीव तामयम्।।

(महा. अश्वमेघ पर्व 68/18/23)

अर्थात् अयि उत्तरे! मैं कभी भी असत्य नहीं बोलता हूँ। अत: मेरी यह वाणी अवश्य ही सत्य होगी। सभी के देखते देखते इस बालक को मैं अभी जिला देता हूँ। मैंने आज तक मजाक में भी असत्य नहीं बोला है और न ही कभी युद्ध से पीछे हटा हूँ। उसी सत्य के फलस्वरूप यह बालक जी उठे।

जिस प्रकार मुझे धर्म व विशेषत: ब्राह्मण प्यारे हैं तो उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का बालक जी उठे। यदि मैंने आज तक कभी विरोध नहीं किया है तो इसी सत्य के फलस्वरूप यह मरा हुआ बालक जी उठे।

जिस प्रकार सत्य व धर्म मुझ में हर समय प्रतिष्ठित है, उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का बालक जी उठे। यदि मैंने कंस और केशी को धर्म से मारा है (न कि विरोध से) तो इसी सत्य के फलस्वरूप यह बालक जी उठे। इसी प्रकार अखिल विश्वात्मा ने स्वयं भी बार-बार सत्य की शपथ दी व फलस्वरूप अभिमन्यु का वह बच्चा जीवित हो गया।

हमारा अनुभव है जो लोग मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करते हैं, बहुत थोड़े समय में ही उनकी वाणी में शक्ति आ जाती है व क्रिया-फल होने लगता है। पंजाब जिला करनाल में एक महात्मा एक जगह पर वास करते थे, वे अन्य अपनी सभी प्रकार की साधनाओं को करते हुए भी सत्य-पालन को अपना ध्येय बनाये थे। उनकी यह साधना थी कि मनसा, वाचा कर्मणा जो भी करते थे वह सत्य ही करते थे और अत्यन्त मृदुभाषी थे। उनकी वर्षों की साधना के

फलस्वरूप उनके जीवन में सत्य चमक उठा था। वह जो भी किसी को कह दिया करते थे, सत्यदेव भगवान की कृपा से वह पूरा होता था। उनके मन से किया हुआ कोई भी दृढ़ निश्चय विफल नहीं होता था। योगिराज भगवान पतंजलि जी के अनुसार उनकी वाणी क्रियाफल वाली हो गई थी। वे स्वयं इस बात को मानते थे कि मेरा जीवन सत्यदेव की आराधना से ही पूर्ण निर्भय व अन्य सभी विघ्न बाधाओं से रहित है। सत्य पूर्ण ब्रह्म है और उसकी आराधना स्वयं परब्रह्म की आराधना है व सब प्रकार से ओज और तेज को बढ़ाने वाली है। अत: कल्याण की अभिलाषा वाले व्यक्तियों को भगवान् पतंजलि जी के बतलाये हुये दूसरे यम सत्य को अपने जीवन में पूरी तरह अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सत्य ही सब कल्याणों का मूल है।

तीसरा यम अस्तेय है।

अस्तेय धर्म की अहिंसा भाव की परिपुष्टि के लिए है। अर्थात् दूसरे के धन को चोरी से, किसी भी प्रकार से अपहरण न करना अस्तेय है।

अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदभ्यतेयं विदुर्बुधा:।।

अर्थात् किसी दूसरे के तृण, रत्न या मुक्ता आदि के चुराने में मन की वृत्ति न होने को अस्तेय कहा गया है। जिस व्यक्ति की अस्तेय में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है उसको सर्व रत्न उपस्थित होने लगते हैं, किन्तु उसको उनकी कामना नहीं रहती।

अस्तेय प्रतिष्ठायं सर्वरत्नोपस्थानम्।

(यो.सू. 2-36)

अर्थात् अस्तेय की पूर्ण-प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी को सब प्रकार से सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। रत्नादि स्वयं ही प्राप्त होने लगते हैं।

चौथा यम ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य की महिमा से हमारे शास्त्र ओत-प्रोत हैं, किन्तु आजकल के समाज में दुर्व्यसनों के अधिक मात्रा में बढ़ जाने से ब्रह्मचर्य जीवन लुप्तप्राय: ही है। वीर्य को हमारे शास्त्रों में ब्रह्मरूप से कथन किया गया है। जो वीर्य को धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। वीर्य हमारे शरीर में सातवीं धातु है उसका स्वरूप हमारे शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है।

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकर स्मृतम्।
गर्भं बीजं वपु: सारो जीवनाश्रय उत्तम:।।

मनुष्य जब अन्न-सेवन करता है, उससे रस बनता है, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस, मांस के बाद मेद, मेद के बाद हड्डी (अस्थि), अस्थि के बाद मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है और वीर्य से ओज की उत्पत्ति होती है जो मनुष्य को दैदीप्यमान रखता है। वीर्य सम्पूर्ण शरीर का आधार, जीवन का आशय और परम पुष्टिकर है। जिस प्रकार से दूध में घी और ईख के रस में गुड़ व्यापक रहता है, इसी प्रकार से वीर्य सारे शरीर में व्यापक रहता है। इसी से मन और बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यही सर्व सिद्धियों का मूल है। शिव-संहिता में भगवान् शंकर ने ऊँचे शब्दों में आज्ञा की है। यथा:-

मूलम्-मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे।
तस्मादति प्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम्

।।88।।

मूलम् जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशय:।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारण माचरेत्।

।।86।।

मूलम-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने
कि न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येदृशो भवेत्

।।60।।

अर्थात् बिन्दु के पतन से मरण व बिन्दु के धारण से जीवन होता है। प्राणी का जन्म और मरण बिन्दु से ही होता है। इसलिए योगी को प्रयत्न करके बिन्दुधारण करना चाहिए।

यत्नपूर्वक बिन्दु जय कर लेने पर संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध न किया जा सके। भगवान कहते हैं कि मेरा जो कुछ प्रभाव संसार में दिखलाई देता है। वह केवल वीर्य धारण से ही है। ब्रह्मचर्य के नियम बहुत बड़े-बड़े हैं। शास्त्र विधि से ब्रह्मचारियों की दो संज्ञाएँ रखी गई हैं-

1. नैष्ठिक
2. उपकुर्वाण

1. नैष्ठिक - नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो जीवन पर्यन्त अखंड ब्रह्मचारी रहे। उदाहरणार्थ- भीष्म पितामह, शंकराचार्य, आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द हुये हैं।

2. उपकुर्वाण - उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो समय की अवधि तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्ण रूप से पालन करके गृहस्थ में प्रवेश कर जाय। किन्तु किसी भी संज्ञा का कोई भी ब्रह्मचारी हो, ब्रह्मचर्य अवस्था में मैथुन त्याग परमावश्यक है।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्था सुसर्वहा।
सर्धम् मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्यक्षते।।

जो सब अवस्थाओं में मन, वाणी कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग करता है, वही ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी है।

मनुस्मृति आदि में ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए बहुत बड़े-बड़े नियम लिखे हैं। लेख के बढ़ जाने के भय से इन सबका यहाँ उदाहरण करना आवश्यक नहीं समझा गया? किन्तु इस विषय में सभी शास्त्रों का एक मत है कि मन से भी ब्रह्मचारी को विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। क्योंकि :-

ध्यायतो विषयान्पुषः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामत्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः।
मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।
(गीता 2/62/63)

अर्थात् विषयों को चिन्तन करने से मनुष्य को संग, व संग से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश तथा बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है भगवान श्री कृष्ण की आज्ञानुसार जो मनुष्य चिन्तनमात्र में भी विषयों का स्मरण नहीं करता वही ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकता है, अन्यथा नहीं। जिसने इस ब्रह्मचर्य रूप महाशक्ति को धारण कर लिया है, उसने संसार को जीत लिया है। ब्रह्मचारी में सिद्धों की तरह शक्तिपात करने की योग्यता आ जाती है। भगवान पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य धारण का फल इस सूत्र में बतलाया:-

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

(योगसूत्र 2-381)

ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा में पूर्ण सामर्थ्य लाभ होता है। इसी सूत्र का भाष्य करते हुये भगवान व्यासदेव जी कहते हैं:-

यस्य लाभाद् प्रतिघान्गुणनुत्कर्षोयतिः
सिद्धयश्चविनयेषु ज्ञानमाधातु समर्थों भवतीति।

अर्थात् इस ब्रह्मचर्य के धारण करने से अनुपम गुण बढ़ते हैं और पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्ति संचार करके ज्ञान- धारण करा सकता है।

पाँचवां यम अपरिग्रह है

परिग्रह का न होना अपरिग्रह कहलाता है। संसार के सब विषयों में और अपने शरीर में स्वत्व बुद्धि का नाश हो जाने पर प्राणी शरीर धर्मों से अपने आपको पृथक देखता है और उसको अपने पूर्व संस्कार स्मरण होने लगते हैं। कौन था? क्या था? कैसा था? क्यों था? आगे क्या होऊँगा? इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ मन में घूमने लगती हैं। ऐसी भावना से शरीर— धर्म में भी उपरति हो जाने के बाद उसको जन्म-जन्मान्तरों की कथाओं का स्मरण होने लगता है। भगवान् पतञ्जलिजी लिखते हैं:-

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः।

(योगसूत्र 2/96)

अर्थात् पूर्णतः अपरिग्रह की स्थिरता हो जाने के बाद जन्म-जन्मान्तरों की कथाओं का बोध हो जाता है। यह सब यमों की सिद्धियाँ हैं।

नियमों की पवित्र साधना

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वर—
प्रणिधानानि नियमा:।।

कह करके भगवान पतंजलि देवजी ने नियमों का वर्णन किया उनमें से पहला नियम शौच है।

शौच

शौच का विषय लम्बा है। भगवान पतंजलिदेव जो ने तो:–

सत्त्वं पुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्

कह करके बुद्धि और पुरुष के शुद्ध साम्य को ही कैवल्य कहा अर्थात् बुद्धि सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के मलों को छोड़ कर पूर्ण पवित्र हो जाती है, तो पुरुष साक्षात्कार हो जाया करता है। यह शुद्धि की पराकाष्ठा है। विवेक ख्याति पर्यन्त मनुष्य पूर्ण शुद्धि का ही प्रयत्न करता रहता है।

किन्तु फिर भी शुद्धि दो प्रकार की मानी गई है। जैसे योगी याज्ञवल्क्य के शब्दों में :–

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं,
बाह्यमाभ्यन्तर तथा।
मृज्जलोभ्यां स्मृत बाह्यं मन:
शुद्धि स्तथान्तरम्।।

अर्थात् शौच बाह्य और अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्य शौच मिट्टी जल आदि के द्वारा किया जाता है और दूसरा मन की शुद्धि से होता है। बाह्य शौच के भी बाह्याभ्यन्तर रूप से भी दो भेद माने जाते हैं। जैसा बाह्य शौच में ठीक समय पर मल त्याग, दन्तधावन, हाथ, कान, नाक, मुँह नेत्रादि सब इन्द्रियों की बाह्य शुद्धि पवित्र जल आदि से शरीर स्नान करना व अभ्यन्तर शौच में शरीर के भीतर के सब अवयवों की षट् कर्मों के द्वारा शुद्धि करना जैसे नासिका से सूत्र नेति करने पर मस्तिष्क की शुद्धि और धौति कर्म के द्वारा आमाश्य, पक्वाशय आदि की शुद्धि, बस्ती कर्म के द्वारा मलाशय की शुद्धि व वज्रोली के द्वारा मूत्राशय की पूर्ण शुद्धि होती है। यह सब बाह्य शौच का ही विस्तार है। मृज्जलादि के द्वारा बाह्य शरीर हाथ पैर आदि की पूर्णशुद्धि की जा सकती है। किन्तु शरीर के भीतर के अवयवों के आशयों की शुद्धि के लिए षट्कर्मों का करना आवश्यक बन जाता है। षटकर्मों में नेति, धौति, न्योली, बस्ती, कपाल भाती व त्राटक माने गये हैं। ये शरीर के भीतरी देश की शुद्धि के लिए परमावश्यक है। इसीलिये योगी लोग प्राणायाम आदि उत्तम क्रियाओं को आरम्भ करने से पहले षट्कर्मों के द्वारा शरीर की बाह्याभन्तर की शुद्धि करके प्राणायाम करने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। ये सब बाह्य शुद्धि है। इनके अतिरिक्त अभ्यन्तर शौच में अनेक प्रकार के उपायों का वर्णन है। उनमें योगाङ्गों का अनुष्ठान करना परमाश्यक है।

योगाङ्ग नुष्ठानादशुद्धिक्षये,
ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्याते:

अर्थात् विवेक ख्याति पर्यन्त योगाङ्गानुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होता रहता है और ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। योगाङ्गों में जप तप स्वाध्याय ईश्वर भक्ति आदि सभी सम्मिलित हैं। भगवान मनु के कथनानुसार:–

अदिभिर्गात्राणिशुध्यति,
मन: सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा,
बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धति।।

अर्थात् मृज्जलादि के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। सत्य के द्वारा मन की शुद्धि विद्या और तप के द्वारा आत्मा और ज्ञान के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। इन्हीं सब नियमों को समझ करके बाह्याभ्यन्तर शौच को पूर्ण करता हुआ शौच के पूर्ण फल की प्राप्त कर लेता है। अंग प्रत्यंगों तक से भी

उसको घृणा होने लग जाती है और प्राणी के संसर्ग से दूर हो जाता है। भगवान पतंजलि देवजी के शब्दों में:-

शोचात्स्वाङ्ग जुगप्सा परैरसंसर्ग:।।

अर्थात् शुद्धि की पराकाष्ठा से योगी को अपने अंगों में भी घृणा होने लगती है। ऐसी स्थिति में दूसरों का संग तो हो ही कैसे सकता है। यह बाह्य शुद्धि की पराकाष्ठा है किन्तु इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों आभ्यान्तर शौच बढ़ता है त्यों-त्यों अन्त:करण की शुद्धि मन की पवित्रता और एकाग्रता इन्द्रिय जय और आत्म-दर्शन की योग्यता बढ़ती चली जाती है।

सत्त्वबुद्धिसौमनस्यैकाग्रेयन्द्रिय
जयात्मदर्शनयोगाग्त्वानिच।

उपरोक्त दोनों प्रकार के बाह्याभ्यान्तर शौच के नियमों को समझ करके यथा विधि पालन करने वाला साधक शुद्धि के फल स्वरूप आत्म दर्शन को पा सकता है। इसके बाद दूसरा नियम सन्तोष है।

सन्तोष

सन्तोष का अर्थ है मन की पूर्ण तुष्टि। सन्तोषी वही कहला सकता है जो दृष्टानुशविक विषयों में पूर्ण वित्तृष्ण है। जिसको इस लोक से ब्रह्म लोक पर्यन्त तक के भोग विचलित नहीं कर सकते वही पूर्ण सन्तुष्ट कहला सकता है। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार से किय हैं-

दु:खेष्वनुद्धिग्नमना:
सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरायभयक्रोध: वीतराग
स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
गीता 2:56

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्त-
त्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्धेष्टि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
गीता 2:57

अर्थात् जिसका मन दु:खों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों में आसक्त नहीं होता जिसमें न राग है न भय है और न क्रोध है। जो सर्वत्र स्नेह रहित शुभ या अशुभ कैसी भी स्थिति को पाकर के न सुखी होता है और न दु:खी होता है उन्हीं की बुद्धि स्थिर है। ऐसा मुनि जिसने इतने ऊँचे सन्तोष को प्राप्त कर लिया है कृतार्थ हो जाता है। उसको कोई भी विचलित नहीं कर सकता। भगवान श्री पतंजलि जी ने संतोष का फल अनुत्तम सुख-लाभ लिखा है। अनुत्तम सुखी वही है जिससे बढ़कर और कुछ नहीं हो सकता। जिसके विषय में भगवान श्रीकृष्ण जी ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया हैं:-

सुखमात्यन्तिकं यस्मिन्स्थितो
यत्तद् बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्तियत्र न चैवायं
स्थितश्चलति तत्त्वत: गीता 6:21
यं लब्ध्वा चापरं लाभं
मन्यते नाधिकं तट:।
यस्मिनास्थितो न दु:खेन
गुरुणापिविचाल्यते ।। गीता 6:22

अर्थात् वह सुख अतीन्द्रिय व बुद्धिग्राही है जिसमें स्थिति होने पर मनुष्य को बड़े से बड़ा दु:ख भी विचलित नहीं कर सकता और जिसको प्राप्त कर प्राणी अपने आपको कृत कृत्य समझता है और उससे बढ़कर कुछ नहीं समझता। कृत कृत्य हुआ परम सुख को अनुभव करता हुआ ऐसा प्राणी गुण वित्तृष्णा हो जाता हैं और अपने आपको कृतार्थ जानकर के परम-ब्रह्म में लीन हुआ कह उठता है :-

मातमेदिनि तात मारुत
सखेतेजेसुबन्धो जल:
भ्रात्वर्योम निबद्ध एव
भवताभ्रेष प्राणमाञ्जलि:।
युष्मत्संग वशोपजात
सुकृतोद्रेकस्फर निर्मल:
ज्ञानापास्त समस्त मोह
महिमा लीये परे ब्रह्मणि।।

हे माता पृथ्वी, तात वायु, सखे तेज, हे मित्र जल, हे भाई आकाश मैं आप सब को प्रणाम करता हूँ। क्योंकि आप सब के संग से पुण्य के उदय होने से मोह की महिमा हट गई

और अब मैं परम ब्रह्म में लीन हो रहा हूँ।

तप:

भगवान पतंजलिदेवजी ने

तप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोग:

कह करके क्रिया-योग का वर्णन किया। इस सूत्र का भाष्य भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं:-

नातपरिवनो योग: सिद्धयति, अनादि-कर्मक्लेशवासना चित्रा प्रत्युपस्थित विषय जाला। चाशुद्धिर्नान्तरेण तप:सम्भेदमापद्यत इति तपस अउपादानं? तच्च चित्रप्रसादनमबाध-मानमनेन सेव्यमिति मन्यते।।

अर्थात् तप के बिना योग-सिद्ध नहीं होता । अनादि काल से कर्म-क्लेश वासना आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ विषय जाल अन्त:करण की शुद्धि के बिना नहीं कटता इसीलिए तप आवश्यक है, और वह तप जिसमें चित्त वृत्तियों को प्राप्त नहीं होता।

तप की और व्याख्या करते हुए कहा गया है:-

द्वन्द् सहनं द्वन्दश्च जिघत्सापिपा-
से, शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौना-
कारमौने च ब्रतानि चैव यथा यागं
कृच्छन्द्रायणसान्तपनादीनि।

अर्थात् द्वन्द सहन का नाम तप है। द्वन्द भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, जाड़े का नाम है। इनके अतिरिक्त एक आसन पर बैठकर काष्ठ मौन, आकार मौन व कृच्छ चान्द्रायण आदिक व्रत करना भी उत्तम तप माना गया है। काष्ठ मौन वह मौन कहलाता है जिसमें व्रत करने वाला व्यक्ति काष्ठवत् बैठा रहे। किसी प्रकार के इंगितों से भी अपने भाव को प्रकट न करें। आकार मौन वह कहलाता है जिसमें आकार व अपने इंगितों से भीतर की इच्छा को प्रकट करके केवल मात्र जिह्वा पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाता है। काष्ठ मौन व आकार मौन के द्वारा जिह्वा पर पूर्ण नियंत्रण होता है। किसी प्रकार की अशुभ वाणी मुँह से नहीं निकलती और इसी प्रकार दूसरों के द्वारा प्रयुक्त की गई शुभ व अशुभ वाणी शान्त भाव से सहन करने की ताकत बढ़ती है। इसके अतिरिक्त कृच्छ चान्द्रायण आदि व्रत समूह यद्यपि क्लेशों को क्षीण करने के लिये उत्तम हैं किन्तु उसमें भगवान व्यासदेव जी के शब्दों को याद रखने की आवश्यकता है।

चित्तं प्रसादनमबाधमानमनेना सेव्यमिति

जिसमें चित्त की प्रसन्नता बनी रहे, कष्टदायी न हो। इसी प्रकार से ये सब ब्रतादि करने चाहिये, जिससे वे मन की एकाग्रता में बाधक न हो। जो लोग इस प्रकार का कठोर तप करते हैं जो आत्मपीड़ा के साथ किया जाता है, उसको भगवान श्रीकृष्ण जी ने तामस तप कहा है। इसलिये उत्तम तप वही है जो श्रद्धा पूर्वक बिना कष्ट के आत्मसाक्षात्कार के लिये व क्लेशों को क्षीण करने के लिये किया जाय। गीता में भगवान श्रीकृष्ण जी ने उत्तम प्रकार शरीर वाणी व मन के तपों का वर्णन किया है—

''देवद्विजगुरप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते।।

गीता 17:14

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं चयत्
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते

गीता 17:15

मन: प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह:
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपोमानसमुच्यते

गीता 17:16

अर्थात् देव द्विज गुरु व बुद्धिमान लोगों की सेवा करना व शौच व नम्रता धारण करना ब्रह्मचर्य और अहिंसा व्रत का पूर्ण रूप से पालन करना, यह शारीरिक तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता, मृदुता, मौन धारण करना, आत्म-निग्रह और भावों की शुद्धि यह मानस तप कहलाता है। मनुष्य मात्र के लिये ये तीनों तप उपादेय हैं।

इससे अतिरिक्त मन के राजस तामस भावों को क्षीण करने के लिये ज्ञान दीप्ति के लिये कृच्छ चान्द्रायण आदि व्रत भी सामर्थ्यानुसार करने चाहिये। किन्तु पवनाभ्यास करने वाले साधक के लिये कृच्छ चान्द्रयण आदि व्रत की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिये प्राणायाम ही परम तप है उनके लिये प्राणायाम के साथ-साथ ब्रह्मचर्य अहिंसा सत्य भाषण आदि ही परम तप है। भगवान पतंजलि देव जी ने तप का फल इस प्रकार कहा है-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपस:

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक व एन्द्रिय सिद्धि स्वत: ही उपलब्ध हो जाती है। कायिक सिद्धि से अणिमा, महिमा आदि व एन्द्रिक सिद्धि से दूर-दर्शन, दूर श्रवण आदि की शक्ति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त शरीर के बलाबल व सामर्थ्य को देख करके किये जाने वाले तप के द्वारा सब कुछ साध्य है यथा :-

यद दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरति क्रमम्।

तसर्व तपसा साध्यं तपोहि दुरति क्रमम्।।

अर्थात् तप के द्वारा कोई भी ऐसा काम नहीं जो नहीं किया जा सकता हो। अत: शास्त्र विधि के अनुसार तप बड़ा परम उपादेय है।

स्वाध्याय

चौथा नियम स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ करते हुए भगवान व्यासदेवजी लिखते हैं।

स्वाध्याय प्रणवादि पवित्राणां जप: मोक्ष शास्त्राध्ययनं वा।

प्रणवादि प्रभू के पवित्र नामों का जप करना या मोक्ष शास्त्र गीता आदि उपनिषदों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। प्रणव की महिमा हमारे शास्त्रों में बहुत उत्कृष्टता से भरी हुई है। ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि देवों की उत्पत्ति प्रणव से है:-

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरि:।

प्रणवात्प्रभवोरुद्र: प्रणवावोहि परो भवेत।।

अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयेते हरि:।

मकारे लीयते रुद्र: प्रणवो हि प्रकाशते।।

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है। प्रणव के अकार में ब्रह्मा, उकार में विष्णु मकार में शिव लीन हो जाते हैं। इसलिये ब्रह्मा, विष्णु शिवात्मक प्रणव ही सर्वत्र प्रकाशित है। प्रणव के जाप से सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति होती हैं और प्रत्यक्ष चेतन की प्राप्ति होती है। भगवान पतंजलिदेव ईश्वर का लक्षण लिखने के बाद उसका बोधक नाम प्रणव का ही आत्मदर्शन करते हैं और उसका जप और उसके अर्थ का ध्यान करने की आज्ञा देते हैं।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

कह करके प्रणव का जाप और अर्थ का ध्यान करने की आज्ञा देते हैं। व इसके आगे के सूत्र में प्रणव जप का फल बतलाते हैं :-

तत: प्रत्यवचेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावश्च।

अर्थात् प्रणव का जाप करने के फल स्वरूप प्रत्येक चेतन की प्राप्ति अर्थात् आत्मदर्शन होता है व विघ्नों का नाश होता है। सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति के लिये प्रणव जप की उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आज्ञा की है ?

प्रणवं प्रजपेछीर्घ सर्वविघ्नोऽपसातये।

इसी प्रकार से उपनिषदों गीता आदि का पाठ करने से अन्त:करण की शुद्धि होती है व इष्टदेव की कृपा से मनोकामना पूर्ण होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग:

देवा, ऋषय: सिद्धास्च स्वाध्याय

शीलस्य दर्शनं। गच्छति,

कार्येचास्य वर्त्तते इति।

अर्थात् देवता लोग ऋषि लोग स्वाध्याय-शील व्यक्ति के सामने जाते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। स्वाध्याय और योग का परस्पर महान सम्बन्ध है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत

योगात स्वाध्याय मामनेत्।

स्वाध्याययोगं सम्पत्वा

परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय से योग ध्यान को प्राप्त हो व ध्यानावस्था में स्वाध्याय का मनन करें। स्वाध्याय और योग दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश होता है। सच्चे मनसे स्वाध्याय में रत रहने वालों को सफलता करामलकवत हो जाती है।

ईश्वर प्रणिधान

पाँचवा नियम ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ भगवान व्यासदेवजी ने योग सूत्र मैं लिखते हैं।

ईश्वर प्रणिधानं :-

सर्वं क्रियाणांपरम गुरावर्पण तत्फलं संन्यासो वा।

अर्थात् परम गुरु ईश्वर में सब शुभाशुभ कर्मों का अर्पण करना या उसका कर्म फल त्याग करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। योग सूत्र समाधि पाद में भगवान पतंजलि जी ने:-

ईश्वर प्रणिधानाद्वा:-

कह करके ईश्वर प्रणिधान को समाधि-प्राप्ति का एक खास उपाय बतलाया है। इस सूत्र का अर्थ लिखते हुए भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं।

प्रणिधानाद्

भक्ति विशेषाद् आवर्जित ईश्वर-

स्नयनुगृह्णात्यभिधानमात्रेण।

अर्थात् भक्ति विशेष से अभिमुख हुआ ईश्वर इच्छा मात्र से कृपा करता है। जिससे उसको शीघ्राति शीघ्र समाधि उपलब्ध होती है। पूर्ण अनुराग के बिना आत्म-समर्पण नहीं हो सकता।

भक्ति परानुरक्तिरिश्वरे:-

कह करके नारद जी महाराज ने नारद भक्ति सूत्र में ईश्वर में परानुरक्ति को ही भक्ति कहा है। जब तक ईश्वर में पूर्ण अनुराग नहीं होता तब तक जीव भक्त नहीं कहला सकता। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए भगवान श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को भगवत गीता के नवें अध्याय में आज्ञा दी है:-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
गीता 9:27

शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै:।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।
गीता 9:28

अर्थात् हे अर्जुन जो तू करता है, जो खाता है जो हवन करता है जो देता व जो जप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे। ऐसा करने से सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से छूट करके मुक्तात्मा हो करके मुझको प्राप्त हो जायेगा।

जिन्होंने ईश्वर को पूर्ण आत्म-समर्पण किया ऐसे संसार में ऊँचे भक्त आत्मा के उदाहरण है, जिनको ईश्वर कृपा से समाधि लाभ हुई। ध्रुव, प्रहलाद बृज-गोपिकायें सूरदास तुलसीदास, नरसिंह मेहता, मीराबाई आदि इसी विषय के प्रतीक थे जिन्हें ईश्वर कृपा से समाधि प्राप्त हुई।

इस लेख में हमने नियमों का वर्णन किया है। इससे पिछले अंक में हमने यमों का वर्णन किया है। इनका अच्छी प्रकार से पालन करने वाला मनुष्य किसी भी प्रकार से पतन को प्राप्त नहीं हो सकता। योग-भूमि के प्रत्येक साधक के लिये नियमों का पालन करना अतिआवश्यक है। किन्तु नियमों से पहले यमों का पालन करना परमावश्यक है। जो मनुष्य यमों का पालन नहीं करता और नियमों के पालन का प्रयत्न करता रहता है उसका अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य आदि के अभाव से पतन हो सकता है किन्तु जिसने अहिंसा, सत्य व अस्तेय आदि का पूर्ण रूप से पालन किया है और उसके साथ-साथ शौच, सन्तोष आदि नियमो का पालन किया है वह व्यक्ति पूर्णतया अपने लक्ष्य को पा लेता है।

आसन क्या?

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भगवान सदा शिव ने अपने ग्रन्थों में 84 लाख योनियों का वर्णन किया है और 84 लाख योनियों में विचरने वाले जितने जीव हैं; उन सभी के आसन, शयन आदि कार्य होते रहते हैं। आसन शब्द का शब्दार्थ

''**आस्यते अनेन इति आसनम्**''

अर्थात् जिस विधि से बैठा जाये उस विधि का नाम ही आसन है। 84 लाख योनियों के अन्दर जन्म लेने वाले जीव

''**येनकेन प्रकारेण आसन शयन एवं भ्रमणादि**''

करते हैं। इसलिये उनके बैठने की जो क्रिया है, वह उनका आसन है। भगवान सदा शिव ने जितनी योनियाँ है उतने ही आसनों का वर्णन अपने मुखारविन्द से किया है, किन्तु वे सर्व शक्तिवान सदाशिव घट-घट वासी अन्तरयामी प्राणी मात्र की गति को समझने वाले अवश्य ही सब कुछ कर सकते हैं। वे

''**कर्त्तुमकर्तु अन्यथाकर्त्तुम्**''

की ताकत वाले हैं। चौरासी लाख योनियों के अन्दर जहां-जहां भी जीवों ने जन्म लिया है उन सबकी आसन शयन विधि को वे परमेश्वर पहले से ही जानते थे, इसलिये उनका इस प्रकार से वर्णन करना कोई असम्भव बात नहीं थी। किन्तु वे सब भगवान शिव के कहे हुए चौरासी लाख आसन आज कल ग्रन्थों में पूर्ण रूपेण उपलब्ध नहीं हैं और उन सभी आसनों का वर्णन करना सर्व साधारण के लिये सर्वथा असम्भव है। इसलिये आजकल के योग प्रचारकों में और घेरण्ड आदि महर्षियों ने जिन आसनों का वर्णन किया है वे अधिक से अधिक चौरासी या प्रयास करने पर सौ या ड़ेढ़ सौ तक मिल जाते हैं, जो योगाश्रमों की व्यायाम शालाओं में योगोपदेशक लोग कराते हैं। किन्तु उन सब में भी चौरासी आसन ही इस प्रकार के हैं जो सर्वं साधारण के लिये विशेष लाभप्रद हैं। भगवान पतंजलिदेव ने आसन का लक्षण लिखते हुए योग दर्शन में

''**स्थिर सुखमासनम्**''

कह करके आसन की परिभाषा की है, इन शब्दों का अर्थ है कि जिसके करने से स्थाई सुख की प्राप्ति हो। बैठने की उस क्रिया को आसन कहा है। इस सूत्र का भाष्य लिखते हुए भगवान व्यास देव ने कुछ आसनों के नाम भी लिखे हैं- पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तीक, आसन, पर्य्यक आसन आदि-आदि नाम भी लिखे हैं। स्थिर सुखमासनम् कहने से मनुष्य को जिस भी उपाय से स्थिर सुख लाभ हो उस ही क्रिया को आसन कहा जा सकता है, किन्तु भगवान व्यास देव ने उनका स्पष्टीकरण कर दिया क्योंकि उन्होंने खास-खास आसनों के नाम अंकित किये। दूसरे पाणनीय व्यारण के नियमानुसार—

''**आस्यते अनेन इति आसनम्**''

कहने से बैठने की क्रिया का ही नाम आसन हमारे ग्रन्थों में मिलता है।

आसन सिद्धि का प्रयत्न

आसन करने का क्या फल है, हरेक पशु पक्षी को बैठने की विधि से हम बैठना सीखें और वैसा करने से हम किसी परिणाम को पहुँचेंगे। ये सब तो आगे इसी पुस्तक में बतलाने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु परामर्श के तौर पर जिज्ञासुओं के लिये एक बात पहले समझा देना बहुत उत्तम रहेगा कि किसी आसन के अभ्यास से हम स्थिर सुख लाभ तभी कर सकते हैं जब वह क्रिया हमें पूर्ण रूपेण सिद्ध हो जाय। स्थिर सुख का अर्थ है कायम रहने वाली शक्ति यह उस हालत में उपलब्ध नहीं हो सकती कि हम क्षणक्षण में अपने पैरों को बदलते रहें, हाथों को बदलते रहें, ऐसा करने पर तो मन की शान्ति की अपेक्षा अशान्ति ही रहेगी, क्यों कि वह क्षण-क्षण में दु:ख अनुभव करता रहेगा और बदलने की क्रिया करता रहेगा। इसलिये स्थिर सुख लाभ तो हमें उसी

हालत में हो सकता है जब कि हम जिस आसन से बैठे उसी आसन से कई-कई घन्टे लगातार बैठें रहें और उसमें हमें किसी भी प्रकार की दुखानुभूति न हो प्रत्युत यह अनुभव होता रहे कि हम बहुत हल्के हैं और एक आनन्द में बैठे हैं। हमें अपना शरीर रुई की मानिन्द हल्का मालूम पड़ने लगे तो समझ लेना चाहिये कि हमारा इस आसन का अभ्यास आसन सिद्धि की ओर जा रहा है। परमार्थ जिज्ञासु साधु लोग जंगलों में एक-एक आसन से कई-कई घन्टे बैठने के प्रयत्न में लगे रहते हैं किन्तु इस प्रकार का अभ्यास करते हुए उनको वर्षों व्यतीत हो जाते हैं फिर भी ये लोग आसन सिद्ध नहीं कर पाते। भगवान पतंजलि देव ने आसन सिद्धि का एक उपाय लिखा है वह बहुत ही उत्कृष्ट है और तथ्य से कहा जाये तो उसी का अवलम्ब लेने से मनुष्य पूर्ण रूपेण आसन सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। जो शास्त्रों के उस उपाय का अवलम्ब नहीं लेते उनका प्रयत्न।

''अकर्णात् कर्णम् श्रेय:''

के नियमानुसार यत्किंचित ठीक ही है किन्तु आसन सिद्धि और स्थिर सुख को चाहने वाले व्यक्तियों के लिये भगवान पतंजलि देव के कहे हुए निम्नांकित उपाय का अवलम्बन लेना परमावश्यक ही है।

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम्।

अर्थात् आसन सिद्धि प्राप्त करने के लिए एक ऐसे उपाय की आवश्यकता है जिससे प्रयत्न शैथिल्य होकर अनन्त समापत्ति हो जाये। जब तक मनुष्य का मन पूर्ण रूपेण एकाग्र नहीं हो पाता तब तक वह आसन सिद्धि के लिये प्रयत्न करता ही रहता है और अनन्त समापत्ति उससे हजारों कोस दूर रहा करती है। अनन्त समापत्ति का अर्थ है अखण्ड मंडलाकार व्यापक परमात्मा के स्वरूप में अपने आप को विलीन कर देना। कहीं-कहीं पर योगाचार्य शेषनाग के ध्यान को भी अनन्त समापत्ति कहते हैं, किन्तु कुछ भी हो उस अनन्त परमात्मा में मन के विलय हो जाने पर योगी को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसका शरीर किस स्थिति में पड़ा है या बैठा है। आज घोर कलि-काल के समय में भी इस प्रकार के दृश्य देखने में आते हैं कि जहाँ पर गुरुदेव के पूर्णानुग्रह से शक्ति पात हो जाने पर जिन साधकों के मन एकाग्र होते हैं और वह लोग बाह्य बोध से शून्य हो जाते हैं, उनको दो दिन के अन्दर ही कई-कई घण्टे लगातार एक ही आसन से बैठे हुए देखा गया है। और इस प्रकार की घटनायें जहाँ पर शक्तिपात दीक्षायें दी जाती हैं वहाँ पर स्वाभाविक घटित होती रहा करती हैं।

एक दिव्य घटना

एक स्थान पर एक योगिराज ने अपने एक शिष्य पर शक्तिपात किया और योगदीक्षा दी और वह लड़का एक आसन से बैठ गया। शक्तिपात के फलस्वरूप उसके मन की इतनी ऊँची एकाग्रता हुई कि उसका मन उस सर्व शक्तिवान अनन्त में विलय हो गया और वह पहले दिन ही जड़वत् पत्थर की मूर्ति की तरह से कई घन्टे तक लगातार बैठा रहा और कई दिन के निरन्तर अभ्यास हो जाने के बाद उस साधक की इस प्रकार की स्थिति आई कि वह अनन्त समापत्ति से लगातार 24-24 घण्टे एक ही आसन से बैठा रहता था और गुरुदेव उसको स्वयं चेतना देकर यह बोध कराया करते थे कि तुम्हें इतना लम्बा समय निकल गया है, अब तुम उठ जाओ और बाहर जाकर मल मूत्रादि का त्याग करो। इस प्रकार की दृढ़ स्थिति अनन्त समापत्ति का ही विशद परिणाम था। आसन सिद्धि का यही सरल एवं उच्चतम उपाय है। जो जिज्ञासु इस कृपा को लाभ कर लेते हैं उनके आसन स्वत: ही सिद्ध हो जाया करते हैं।

आसन सिद्धि का परिणाम

ततो द्वन्द्वनभिघात:।

शीतोष्णादिभिर्द्वन्दैरासन जयान्नामिभूयते।

अर्थात् आसन सिद्धि का सबसे बड़ा फल द्वन्दाभिघात अर्थात् द्वन्द्वों से न सताया जाना सर्दी-गर्मी भूख-प्यास आदि के जोड़े को द्वन्द कहते हैं। जिस व्यक्ति को आसन सिद्ध नहीं होता उसको सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि की तृष्णा सताती रहा करती है और द्वन्दों से दबाया हुआ वह व्यक्ति कभी भी साधना की पूर्णता को नहीं पा सकता। इसलिये आसन सिद्धि का द्वन्दान्भिघात सबसे ऊँचा परिणाम है। अत: जो लोग परमार्थ जिज्ञासु हैं उनको शास्त्रोक्त विधि से आसन जय प्राप्त करने के लिये अनन्त समापत्ति अवश्य करनी ही चाहिये आसनों के करने का पारमार्थिक लाभ है।

योगासन और व्यायाम

आजकल संसार में विविध प्रकार के व्यायामों का प्रचार है। लोग कसरत करना। मुगदर चलाना, रस्सा खींचना, वजन उठाना आदि आदि बहुत प्रकार के व्यायामों को करते हैं। इन व्यायामों को करने वाले लोग बड़े-बड़े हट्टे-कट्टे एवं विश्व विजयी पहलवान दिखलायी देते हैं। एक पहलवान को अपने शरीर पर बड़ा भारी अभिमान होता है कि उसके किये हुए व्यायामों के फलस्वरूप उसके शरीर में इतनी बड़ी दृढ़ता आ गई उसकी मांस ग्रन्थियों को यदि बर्छियों से भी काटा जाय तो वह कट नहीं सकती। इस प्रकार के प्रदर्शन लोग स्थान स्थान पर करके दिखलाया करते हैं। अपने भुजदण्डों को फुला लेते हैं और दूसरे व्यक्तियों से कहते हैं कि हाथों के मुक्कों से व लकड़ी के डण्डों से उसको पीटें किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हो पाता। पीटने वाले थक जाते हैं किन्तु उनके उस तनाव में कोई किसी भी प्रकार की कमी नहीं आ पाती। अपने व्यायाम के इस परिणाम को देखकर वे लोग बड़े हर्षान्वित होते हैं और समझते हैं कि हमें यह बड़ा अलभ लाभ हुआ है। किन्तु बात ऐसी नहीं होती जैसी वे लोग अपने मन में समझते रहते हैं उनके उस व्यायाम से एक ही जगह इतनी दृढ़ता इसलिये आ जाती है कि उनके शरीर के छोटे-छोटे स्नायु जिनका काम है सारे शरीर में रक्त का उचित मात्रा में प्रवाह करें उनका वह सब जमाव वहाँ ही कर डालते हैं। अत: जो कार्य सारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये होना चाहिये था वह जाता रहता है और परिणाम स्वरूप पहलवान लोग भी जिन्होंने कई हजार दंड और बैठक की हैं बार बार रोगी दिखलाई देते हैं और अन्त में उनके शरीर इतने भारी हो जाते हैं कि उनको अपना शरीर भी स्वयं भार ही दिखलाई देने लगता है। चलने फिरने, उठने-बैठने में भारी आलस्य महसूस करते हैं। उनके शरीर की ग्रन्थियों में जगह जगह दर्द होने लगते हैं, यह परिणाम अन्यान्य प्रचलित व्यायामों में भी होते हैं, जिनका तनाव शरीर के एक भाग पर ही अधिक मात्रा में पड़ता है। इसलिये सभी व्यायाम का अन्तिम परिणाम केवल दुख निकलता है।

एक और बात

संसार में एक किदवंती आमतौर पर लोग जानते हैं कि हमारा जीवन प्राणों पर निर्भर है और कहने वाले यह भी बतलाते हैं कि मनुष्य अपने जीवन में गिनी हुई श्वासों की संख्या को लेकर आया करता है। जितना अधिक वह श्वासों के खजाने को बचाकर रखेगा उतना ही उसका जीवन स्वस्थ एवं लम्बा होता चला जायेगा और जो किसी भी लापरवाही से अपने श्वासों का दुरुपयोग करते हैं शनै: शनै: अपनी मृत्यु को पास बुलाते जाते हैं। और थोड़े ही समय में काल के ग्रास बन जाते हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि अपने श्वासों की निधि को मनुष्य को व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये।

श्वासों का अपव्यय कैसे होता है?

हमें यह भी विचार लेना चाहिये, कि हमारे श्वासों का आना-जाना किस प्रकार से अधिक मात्रा में होता है। अधिकांश में जो लोग विलासी हैं उनकी साँसे बहुत जल्दी ही फूल निकलते हैं वह थोड़ा सा भी कोई काम करें तो हाँफने लग जाते हैं, और उनको इतनी अधिक घबराहट होती है कि अब हमारे प्राण कभी भी निकल सकते हैं। उनके दिल की घड़कन बहुत अधिक मात्रा में होने लगती है। इसके अतिरिक्त जो लोग ऐसे व्यायाम करते हैं जिनमें श्वासों का यातायात अधिक मात्रा में होने लगता है, वह अपने साँसे के खजाने को जल्दी ही लुटा बैठते हैं और थोड़े समय के बाद ही उन्हें इस पवित्र जीवन से हाथ धोना पड़ता है। अत: स्वास्थ्य को उत्तम रखने के लिये अपने श्वासों के खजाने की सुरक्षा भी बहुत आवश्यक है। इसलिये योगी प्राणायाम करते हैं और उसके परिणाम स्वरूप वे कालजित हो जाते हैं अर्थात् मौत पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

यौगिक व्यायाम का शरीर पर प्रभाव

ऊपर हम शास्त्रीय विधि से योगासनों द्वारा पारमार्थिक लाभ का वर्णन कर चुके हैं। प्रत्येक योगासन के करने से पारमार्थिक लाभ अवश्यभ्यावी है और मन की एकाग्रता का जनक है, क्योंकि हमारे चित्त की प्रसारभूमि हमारे शरीर की नाड़ियां हैं। यदि हमारा स्नायु-मंडल पूर्ण रूपेण शुद्ध नहीं रहता है तो हमारी मन की एकाग्रता भी पूर्ण रूपेण नहीं हो सकती। नाड़ी शुद्धि के लिये यौगिक व्यायाम परम उपादेय हैं। इसके अतिरिक्त योगासनों का व्यायाम हमारे उन आचार्यों का निकाला हुआ व्यायाम है जो चित्त के सभी परिणामों को समझने वाले थे एवं भूत भविष्य के ज्ञाता थे व उनके निश्चित किये हुए सिद्धान्त सभी पतन से परे हैं क्योंकि वे लोग सब प्रकार से परिपूर्ण थे।

आप्त काम थे और हरेक क्रिया के भूत भविष्य के परिणामों को भली प्रकार से समझने वाले थे। इसलिये योगासनों का व्यायाम हमारे लोक व परलोक के लिये एक सिद्ध व्यायाम है। योगासनों के करने से दण्ड व बैठकों की भाँति शरीर के किसी एक भाग पर ही तनाव नहीं पड़ता प्रत्युत शरीर के हर भाग पर व जगह जगह पर उसका प्रभाव पड़ा करता है। जो लोग नित्य नियम से योगासन करने वाले हैं उनका स्वास्थ परमोज्वल रहता है। स्वास्थ्य शब्द का अर्थ है जिससे अपने स्वरूप में स्थित रहे और स्वस्थ के भाव को ही स्वास्थ्य कहते हैं। योगासनों का व्यायाम भी एक इस प्रकार का व्यायाम है जिससे शरीर पूर्णरूपेण स्वस्थ रह सकता है। पादहस्त आसन पश्चिमोत्तान, उर्ध्वं पश्चिमोत्तान, उष्ट्रासन आदि आसनों के करने से एडी से लेकर नितम्ब भाग तक के सभी स्नायुओं में पूरी पूरी उत्तेजना मिलती है। और उड्डीयान बंध आदि स्वाभाविक लगने से जठराग्नि पूर्ण रूपेण प्रदीप्त होती है। मल विसर्जिनी नाड़ियाँ उत्तेजना पाकर मल का पूर्ण रूपेण परित्याग करने लगती है। धनुरासन शलभासन नाव आसन भुजंगासन इत्यादि आसनों के करने से शरीर के कटि भाग में पूरा तनाव पड़ता है फेंकड़ों का प्रसार होता है। अत: फेंफड़ों की शुद्धि कटिभाग की दृढ़ता, शरीरमान की वृद्धि आदि परिणाम इन आसनों के करने से अवश्यम्भावी हैं इसके अतिरिक्त–

मत्स्य आसन, मत्स्येन्द्रासन शलभ, गर्भासन, वकासन, मयूर्रासन

आदि सब आसन पेट से सम्बन्ध रखने वाले हैं इनके करने से सभी प्रकार के उदर विकार अवश्य नष्ट हो जाते हैं। पेट बहुत नरम रहता है किसी प्रकार के यकृत प्लीहा आदि के दोषों का स्वाभाविक समूलोन्मूलन हो जाता है। वात–पित्त आदि के गुल्म रोग स्वभाव से ही हट जाते हैं और इसी प्रकार से सर्वाङ्ग आसन हलासन, पूर्वोत्तान, ताड़ासन वृक्षासन आदि आदि आसनों के करने से नीचे की ओर होने वाली रक्त की गति थोड़ी देर के लिये शिरोभाग की ओर होने लगती है। और इसके परिणाम स्वरूप शिर व छाती की सब बीमारियाँ यकृत, प्लीहा आदि की वृद्धि अनायास दूर हो जाती है। जो लोग शीर्षासन के या अन्य आसनों के अभ्यासी हैं उनको कठिन वीर्य–विकार जो किसी प्रकार के औषधोपचार से असम्भव है प्राय: वह थोड़े दिन में दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो आसनों के नित्य करने के अभ्यासी हैं, और दूध, घी आदि की मात्रा को उचित रूप से सेवन करने वाले हैं वे लोग इन अभ्यासों के द्वारा अपनी युवावस्था कायम रख लेते हैं। उनका मुख–मंडल दैदीप्यमान दिखलाई देता है। आज–कल के इस घोर कलि–काल में भी इस अवनि मंडल पर ऐसे लोग दिखलाई देते हैं, जो शीर्षासन आदि योग के प्रमुख आसनों का घण्टों अभ्यास नित्य नियम से करते हैं, जो लोग शीर्षासन का लगभग 3 घण्टे का अभ्यास यथार्थ विधि से बढ़ा लेते हैं, वे कराल काल पर जय प्राप्त करते हैं। हमने अपने योग प्रचार के भ्रमण में कई इस प्रकार के व्यक्तियों को देखा है जो शीर्षासन के अभ्यासी हैं और उनकी सैकड़ों वर्ष की आयु होने पर भी वे सब प्रकार से स्वस्थ हैं। उनके शरीर को देखकर कोई कह नहीं सकता कि ये कोई वृद्ध होंगे पर युवाओं जैसी उनकी बातें रहती है। दांत, दाढ़, कान और नेत्रादि इन्द्रियाँ, पूर्ण रूपेण काम करती है यह उनके नैत्यिक व्यायाम का प्रभाव है इसके अतिरिक्त आसनों से पारमार्थिक लाभ होते हैं। इसके साथ ही जो लोग हठाभ्यास करते हैं जिनका लक्ष्य राजयोग है वे इन्हीं आसनों को करते हुए अपने शरीर में पूर्ण जागृति कर लेते हैं।

योगासन एवं कुंडलिनी जागरण अथवा कुण्डलिनी प्रबोध

हमारे शरीर में योगाचार्यों के मतानुसार लगभग 72 हजार नाड़ियों के अन्दर कुछ प्रमुख नाड़ियाँ है जो शरीर के विशेष–विशेष भागों में अपना काम करती हैं। इन सभी नाड़ियों में से 14 नाड़ियाँ प्रमुख मानी गई हैं।

सुषुम्णेड़ापिंगला च गान्धारी हस्ति जिह्वका। कूहू सरस्वती पूषा शांखिनी च पयस्विनी वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी। एतासु तिस्त्रो मुख्या: स्यु: पिङ्गलेडासुषुम्णिका।।

सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला गान्धारी, हस्त जिह्वा, कहू सरस्वती, पूषा शंखनी, पयम्बिनी वरुण, अलम्बूषा विश्वोदरी एवं यशस्वनी। ये चौदह नाड़िया मुख्य मानी गई हैं। और इन चौदह में से इड़ा पिगला और सुषुम्ना ये तीन प्रमुख नाड़ियाँ है। और इन तीनों में भी सुषुम्ना नाम की नाड़ी प्रमुख हैं। ये सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्म द्वार है, सुषुम्ना द्वार को खोल करके ही जीवात्मा शक्ति रूप होकर ही शिव में लय हो जाती है।

सुषुम्ना मूलाधार कमल से उठकर ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचती है और इस के मुख द्वार को कुण्डलिनी नाम की शक्ति 3½ लपेटा लगाकर बैठी हुई है। सुषुम्ना द्वार में उसका मुख है। जब तक वह महाशक्ति नहीं जग जाती तब तक मनुष्य देवताओं का पशु रहा करता है। उस महाशक्ति को जगाकर ही देवता लोग देवता कहलाते हैं क्योंकि उनकी शक्ति जागृत हुई होती है और शक्तिवान बन जाते हैं। मनुष्य की कुण्डलिनी सोई रहती है इसलिये वह दर-दर का भिखारी रहता है। दीन-हीन रहता है और शक्तिवानों से विनय करके यथा तथा अपना जीवन निर्वाह करता है। वह महाशक्ति कुन्डलिनी गुरुदेव की परम अनुकम्पा से, प्राणायाम से या अन्य हठ योग की विविध साधनाओं से जग जाया करती है। हमारे योगासनों में इस प्रकार के भी आसन सम्मिलित हैं जिनका अनवरत अभ्यास करने से महाशक्ति कुण्डलिनी जग जाती है। और यह जीव सामर्थ्य को पा जाता है। भद्रासन, पश्चिमोत्तान, वज्रासन एवं शीर्षासन सभी आसन कुण्डलिनी प्रबोध करने वाले हैं। बहुत से हठाभ्यासी महात्मा जिनको राजयोग में विशेष अभिरुचि नहीं है और जिहोंने अपना लक्ष्य हठ योग ही बनाया है वे कुण्डलिनी जागरण के लिये हठ योग की ही विशेष साधनाओं में लगे रहते हैं। हमने श्री वृन्दावन में करोली वाली कुंज में एक ब्रह्मचारी को देखा जो व्रजासन, भद्रासन शक्ति चालिनी मुद्रा और शीर्षासन आदि सभी आसनों को कुण्डलिनी जागरण के लिये कई-कई घण्टे करते रहते थे। हमने उनके दर्शन प्राप्त किये और वार्तालाप में उन्होंने बतलाया कि वे कई वर्षों से इसी हठ साधना में लगे हुऐ हैं और इस विषय में उनका थोड़ा सा ही कार्य शेष रह गया है जो लगभग-वर्ष में पूरा हो जायेगा। दो वर्ष बाद जब हम उनके आश्रम पर गये तो पता चला उनके समीप के सम्पर्क वाले लोगों ने बतलाया कि उनके दृढ़ता पूर्वक हठाभ्यास से कुण्डलिनी प्रबोध हुआ और उसके फल-स्वरूप उनके प्राण ब्राह्मण्ड में जाने लगे। उनको अनवर समाधि बनी रहने लगी। अन्तत: उनको तीव्र वैराग्य हुआ और वह कहीं वनों में चले गये। कहने का अभिप्राय: यह हैं कि योगासनों के जिन लाभों को दृष्टि पथ में रख करके योगाचार्यों ने लिखा हैं, वह लाभ केवल मात्र इसी लोक से सम्बन्ध रखने वाला नहीं प्रत्युत परलोक लाभ का दाता भी हैं।

आहार - शुद्धि

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यह निश्चत् सिद्धांत की चीज हैं

''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि

सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।''

अर्थात्–आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि और सतोगुण के शुद्ध होने पर निश्चित ही मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है। इस लिये ध्रुवास्मृति को कायम रखने में अन्न एक बहुत ही विशेष सहायक वस्तु है। हमारी शास्त्रीय परिभाषा है।

'यथा अन्नं तथा मनः।'

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है उसी प्रकार का उसका मन बन जाया करता है। यही कारण है कि आज इस कलियुग के समय में ऊँचे ऊँचे पदाधिकारियों को अपने काम कराने के लिये लोग बड़ी बड़ी दलीलें पेश करते हैं और अच्छे अच्छे भोज कराते हैं; यही कारण होता कि वे लोग उनके आतिथ्य को पाकर प्रसन्न हो जाते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। महाभारत के उद्योग पर्व में नकुल सहदेव के मामा महाराजा शल्य का उपाख्यान मिलता है। महाराजा शल्य अपने सम्बन्धित्व के नाते पाण्डवों के मामा लगते थे और उस लड़ाई में उनको पाण्डवों की ही मदद करनी चाहिये थीं और महाराजा शल्य आये भी पाण्डवों की ही मदद करने को थे किन्तु रास्ते में ही धोखा देकर के दुर्योधन ने उनका इतना ऊँचा सत्कार किया कि वह कह उठे कि :–

इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति।।17।।

अर्थात् हे दुर्योधन तुम अपना अभीप्सित वर माँगों महाराज शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपना सेनापति ही होने का ही वरदान माँगा व उनके भारी सैन्य बल को अपनी ओर कर लिया। यह था 'यथा अन्नं तथा मनः' का प्रभाव। आजकल के घोर कलि काल में भी इस प्रकार की अनेकानेक घटनायें घटित होती रहती हैं। यही कारण हैं कि हमारे सनातन धर्म में विवाहों में, शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सहभोज की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित है। यह सहभोज एक दूसरे के मनों को इकट्ठा कर देता है। प्रायः सनातन धर्म के सिद्धांतों के मानने वाले तपस्वियों द्वारा ब्राह्मणों का निमंत्रण अपनी अत्यंत विनम्रता पूर्वक अपने घरों में किया करते हैं और यह चाहा भी करते हैं कि भोजनोपरान्त वह लोग उनको अपना अभीप्सित वरदान देकर जायें। और जैसी जिसकी सामर्थ्य होती है वे लोग वैसा आशीर्वाद देते भी हैं। जैसा मनुष्य अन्न सेवन करता है वैसे अन्न का प्रभाव उसके मन पर अवश्य तत्काल पड़ता है। इस विषय में मुझे आपबीती एक छोटी सी घटना याद आती है जिसका यहाँ उल्लेख करा देना बहुत उचित समझता हूँ।

एक बार परम् करुणार्णव मेरे गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्रीरामलाल जी महाराज ऋषिकेश के श्री योग साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास एक जेल का दरोगा भेंट निमित कुछ मिठाई लिये हुए उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभुजी ने उससे रखवा तो ली किन्तु बाँटने व खाने के लिये संकेत से सबको इन्कार कर दिया। किन्तु फिर भी किसी अपरिचित भाई ने वह मिठाई बाँट दी, और प्रसाद रूप समझ कर सभी साधकों ने खा ली। उसका परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये व तीन चार रोज के लिए अपने नैतिक अभ्यास से बिल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी बहन–भाइयों ने प्रार्थना करते हुए इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि इन लोगों की दृष्टि गीध जैसी हुआ करती है। अतः इनकी कमाई का अन्न तुम सबको नहीं खाना चाहिए था। इसलिये सुश्रुत में **''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः''** कहकर मनुष्य के जीवन में आहार शुद्धि एक आवश्यकीय कर्त्तव्य है इसका निर्देश किया है जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण चन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया हैं और वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को, रज प्रधान प्राणियों को एवं तमोगुण

प्रधान प्राणियों को अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं:-

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

आयु: सत्त्वबलारोग्य,
सुख प्रीतिविवर्धना:।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या,
आहारा: सात्त्विक प्रिया:।।

गीता 17:8

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाला सत्त्व वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले आरोग्यता देने वाले सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले, चिकने, जिनकी शक्ति कायम रहने वाली हैं, जो हृदय को पुष्टि करने वाले हैं अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हैं ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और यह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने ऊपर के श्लोक में किया है। वे सारे के सारे गुण गौघृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ, गेहूँ, चना, जौ या रसीले सेव सन्तरा अंजीर और मौसमी आदि फल घीया, बथुआ, तोरई, चौलाई, पालक, मैथी आदि पत्ती के साग और पवित्र कन्द मूलों का आहार ये सब सात्विक आहार हैं, इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान के स्वभावत: यही गुण प्यारे भी लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्ण रूक्ष विदाहिन:।
आहारा राजसष्येष्टा दु:ख शोकामय प्रदा:।।

गीता 17:9

अर्थात् कड़वे- करेले आदि, खट्टे-आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले अत्यन्त गरम जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रुखे व खुश्क तेज मिर्चो के पकोड़े आदि जो इसी प्रकार के शरीर में दर्द देने वाले गर्मी पैदा करने वाले दु:ख और चिन्ता को पैदा करने वाले इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते है। जो रजोगुण प्रधान व्यक्ति हैं उन्हें ये सब भोजन प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों के आहार

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम्।।

गीता 17:10

अर्थात् रस रहित दुर्गन्ध युक्त, वासी उच्छिष्ट एवं रस रहित भोजन तमोगुण का बढ़ाने वाला है। और तामस व्यक्तियों को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है और गत रस हो जाते हैं ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जितने जिस जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिये सात्त्विक बन जाना बहुत आवश्यक है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ साथ एक बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध घी फल कन्दमूल साग सब्जी ये सब भोजन सात्त्विक हैं किन्तु कोई पाप कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है, तो उनमें उसके मन का असर रहा करता हैं। सुनते हैं ननकाना साहब में एक बार गुरु नानकदेव के सामने एक नवाब की ओर से घृत पकवान सुमधुर भोजन आया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान लेकर के आया। गुरु नानकदेव ने वह रोटियाँ स्वीकार कर लीं। किन्तु वह भोजन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने उनसे हठ की कि क्या कारण इतने पवित्र घी दूध के भोजन को आपने त्याग दिया और सूखे जौ की रोटियों को आपने स्वीकार कर लिया। गुरु नानकदेव ने जवाब दिया इन सूखी रोटियों में दूध है और इस घृत के भोजन में खून है तमोगुण हैं। इसलिये ऐसा तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं था। यह कहकर उन्होंने पूड़ी उठाकर निचौड़ीं। रोटिया से दूध व पूड़ियों से खून गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिये मनुष्य को चाहिए भोजन सात्त्विक करे वह नेक कमाई का हो तो सोने पर सुहागा होगा। इसके अतिरिक्त भगवान ने गीता में आज्ञा दी हैं:-

युक्ताहार बिहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्रावबोधस्य योगो मवति दु:खहा।।

गीता 6:17

अर्थात् जिसका आहार-विहार युक्त है। जिनका सोना व उठना युक्त है और जिसकी हर चेष्टा नियमित होती है उनके लिये योग दु:खों का नाश करने वाला है। इसलिये सात्त्विकी आहार के साथ-साथ युक्ताहार विहार के नियम का

पालन करना आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबाकर करना चाहिए। दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए इससे साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ पदार्थ पेट में पहुँचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करें, आधा जल से और चतुर्थ भाग वायु के लिये खाली रहने दे, इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिये पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक नौजवान जो शीर्षासन आदि करता है वह अपने आहार को इतना संयमित कर दे कि सहन-शक्ति से बाहर हो इसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए न ही उपवास करना चाहिए। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिए हैं जो हर समय स्वध्यायशील हैं और समाहित चित्त हैं नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौजवानों के लिए उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

हमारा कर्माशय

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

कर्माशय शब्द का अर्थ है 'शुक्लाशुक्ल कर्मणाम् आशय इति कर्माशय।' अर्थात् भोग पर्यन्त जिसमें अच्छे व बुरे कर्मों का संचय रहा करता है उसी स्थान का नाम कर्माशय है। कर्माशय ही समय–समय पर प्रारब्धानुसार अच्छे बुरे कर्मों का भोग मनुष्य को दिया करता है। भगवान् श्री पतंजलि देव जी ने कर्माशय को दो भागों में विभाजित करके उसका स्वरूप समझाया है और मनुष्य मात्र को यह शुभ प्रेरणा दी है कि यदि वह तीव्र संकल्प से चाहे तो इस ही जीवन में कुछ थोड़े से साधनों के द्वारा अपने आप को अपूर्व परिवर्तित कर सकता है। भगवान पतंजलि देव जी कहते हैं:–

क्लेशमूल: कर्माशय दृष्टादृष्टजन्म वेदनीय:

इसका अर्थ है– **संस्कार वशाद्दस्मिन एव जन्मनि दृष्ट: फलत्वेनानुभूतश्च कर्माशयो दृष्टजन्म संवेदनीय:। पुनश्च काम लोभ मोह क्रोध प्रसवो देहान्ते परिस्मिन जन्मनि अनुभूत: कर्माशयोऽदृष्ट जन्म वेदनीय:।**

'अर्थात् संस्कार वशात् काम क्रोध लोभ, मोह आदि से उत्पन्न हुआ कर्माशय तीव्र साधनों के संयोग से इस ही जन्म में अपने पाप पुण्यात्मक भोग को दे दिया करता है।

इस ही का नाम 'दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय' कहा है। जो व्यक्ति कर्म मीमांसा के सिद्धान्त को रुढ़िवाद और न कुछ मानकर अपने आप को हतोत्साहित किये रहते हैं उनके लिये यह अनौखा चमत्कारिक साधन है कि वह अपने कर्माशय को 'दृष्ट जन्म संवेदनीय' बनायें। 'दृष्ट जन्म संवेदनीय' का अर्थ है, कि जो कर्म इसी जन्म में किये जायें और उनमें तीव्र संवेग होने के कारण मनुष्य इस ही जन्म में उनका उपभोक्ता हो जाये। जो कर्माशय 'अदृष्ट जन्म संवेदनीय' अर्थात् अन्यान्य दूसरे जन्मों में फल देने वाला उसके लिये तो हर मनुष्य यह कह ही सकता है कि क्या कहा जा सकता है ये दु:ख या सुख हमारे कृत कर्मों का उपभोग रूप फल है। क्योंकि उसके सामने कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिससे कि वह जान सके कि यह भोग हमारे उन–उन कृत कर्मों का फल है। इसलिये 'अदृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय' पर मनुष्य सहसा कभी विश्वास करने को तैयार नहीं हो सकता क्योंकि मन नकद धर्मी है। मन हर समय प्रत्याक्षानुभूति का उपासक बना रहता है। वह उसी सिद्धान्त को सत्य मानना चाहता है कि जिसके परिणाम को वह निर्णायात्मक रूप से स्पष्ट जान ले, इसलिये कर्ममीमांसा के ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक के लिये यह उत्तम साधन है कि वह तीव्र संवेगन दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय को तैयार कर ले और उसके परिणाम को भी इस ही जन्म में देख डाले। भगवान् पतंजलिदेव ने दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय तैयार करने का निर्देश योगदर्शन में:–

क्लेश मूल: कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीय:

इस सूत्र मे किया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भी व्यास देव जी ने निम्नांकित पंक्तियाँ लिखीं हैं:–

'तत्र पुण्यापुण्यकर्माशय: कामलोभ मोह क्रोधप्रसव:, स दृष्टाजन्मवेदनीयश्चा दृष्टजन्म–वेदनीयश्च, तत्र तीव्रसंवेगेनमन्त्रतप: समाधिभि–निर्वर्त्तित ईश्वर–देवतामहर्षि महानु भावनामा–राधनाद्यो य: परिनिषपन्न: स सद्य: परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्या–धितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृत: पुन:पुनरपकार:; स चापि पाप कर्माशय: सद्य एव परिपच्यते।,

अर्थात् पापपुण्यत्मक कर्माशय काम, लोभ, मोह, क्रोध से उत्पन्न हुआ दृष्ट जन्म संवेदनीय (अर्थात् इसी जन्म में किये हुए कर्मों का फल इसी जन्म में देने वाला) तैयार हो

जाया करता है। पुण्यात्मक कर्माशय भी तैयार हो जाता है और पापात्मक कर्माशय भी तैयार हो जाता है। पुण्यात्मक कर्माशय तैयार करने के लिये साधक को निम्नांकित उपायों का अवलम्ब लेना पड़ता है।

तीव्र संवेग के द्वारा किया हुआ मंत्र का जप, तीव्र संवेग के द्वारा किया हुआ तप एवं तीव्र संवेग गाढ़ी लगन के साथ लगाई हुई समाधि बहुत जल्दी ही इस दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय को तैयार कर देते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर, देवता, महर्षि आदि महानुभावों की आराधना से दृष्ट जन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय तैयार हो जाया करता है। इसके अतिरिक्त विश्वासोपगत महानुभावों में या तपस्वी लोगों में बार-बार किया हुआ अपकार पाप मूलक दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय को तैयार करके उसके फल को देने वाला बन जाता है। इसके उदाहण में भगवान व्यासदेव ने नन्दीश्वर एवं महाराजा नहुष के उदाहरण लिखे हैं जिस प्रकार नन्दीश्वर अपना दृष्ट जन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय का तात्कालिक भोग उपस्थित हो जाने के कारण श्री नन्दीश्वर जी मनुष्य योनि को छोड़ करके देव योनि में बदल गये और राजा नहुष देवताओं का राजा हो जाने के बाद भी अहंकाराविष्ट रहा और अगस्त्यादियों के द्वारा श्राप पाकर सर्प योनि को प्राप्त हो गया। ये उसके अत्यन्त अहंकार पूर्ण दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय का फल था।

जिस प्रकार से भगवान व्यास देव ने उपरोक्त दृष्ट जन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय तैयार करने के चार या पाँच उपायों का अपने भाष्य में वर्णन करने का जिक्र किया है उसको हम अपने इस लेख में सोदाहरण समझा कर स्पष्ट कर देना चाहते हैं ताकि कोई भी साधक उत्साहहीन न होकर अपने आपको परम् श्रेयाभिमुख कर सके। श्री व्यास देवजी ने कहा है:-

''तत्र तीव्र संवेगेन मन्त्रतप: समाधिभि-निर्विर्चित''

ये तीन साधन है जो अपनी साधना एवं कर्त्तव्य पर निर्धारित हैं साधक तीन प्रकार के हुआ करते हैं। मृदु संवेग अर्थात् थोड़ी लगन वाला मध्य संवेग अर्थात् बीच की लगन वाला और तीव्र संवेग इसका अर्थ है बहुत ही उत्कृष्ट लगन वाला। साधकों के मृदु मध्य और तीव्र संवेग तो होते ही हैं किन्तु साधन भी उनको अपनी लगन के अनुरूप मिल जाये तभी वह साधना की पराकाष्ठा को पा सकते हैं। यदि किसी मृदु संवेग वाले साधक को कोई अधिमात्र उपाय की साधना मिल गई तो वह उत्साहहीन होकर आगे नहीं बढ़ सकेगा। उस साधक को वह साधना इतनी अधिक भार रूप दिखलाई देगी जिस प्रकार प्राइमरी स्कूल के किसी बच्चे को डिग्री कालेज की शिक्षायें व्यर्थ भार रूप दिखलाई दिया करती हैं। इसलिये साधन भी साधक के अनुरूप होना चाहिये अन्यथा साधक जहाँ का तहां रह जायेगा व अपनी प्रगति को ऊँची नहीं बढ़ा सकेगा। भगवान व्यासदेव जी के दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय तैयार करने के लिये और उसके सद्य परिपचन के लिये पाँच प्रमुख उपायों का वर्णन किया है। उनमें से पहला साधन— मन्त्र का जप, अर्थात् तीव्र लगन के साथ स्वाध्याय में संलग्न हो जाना। श्री व्यास देव जी ने स्वाध्याय के दो रूप बतलाये हैं।

प्रणवादि पवित्रानां जप: स्वाध्याय मोक्ष शास्त्राणांमध्ययनं वा स्वाध्याय:

अर्थात् परमात्मा के पवित्र नाम ओंकारादियों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है या मोक्ष फलप्रद श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद, शिव सहस्त्रनाम, विष्णुसहस्रनाम आदि आदि स्त्रोतों का पाठ करना भी स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय का फल भगवान् श्री पतंजलिदेव जी अपने योग दर्शन में इस प्रकार बतलाते हैं।

स्वाध्यायायाष्दिट देवता सम्प्रयोग:।।44।।

अर्थात् अनवरत् स्वाध्याय करने से मनुष्य अवश्य ही इष्टदेव की कृपा का लाभ प्राप्त करता है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भी व्यास देव जी भी इस सिद्धान्त का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण करते हैं।

देवा, ऋषय:, सिद्धाश्च स्वाध्याय शीलस्य दर्शन गच्छति,

अर्थात् देवता, ऋषि और सिद्ध महापुरुष स्वाध्याय-शील व्यक्ति की आँखों के सामने जाया करते हैं और उनके कार्य कर दिया करते हैं। स्वाध्याय के साथ तप का समिश्रण और कर लिया जाये तो सोने पर सुहागे वाली बात बन जाया करती है। तप और स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति बहुत जल्दी ही नि:श्रयस भागी बन जाता है।

तप की साधना :-

भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग सूत्र में द्वन्द्व सहनम् तप: कह करके तप का लक्षण किया। द्वन्द्व सहन का अर्थ है सर्दी गर्मी भूख-प्यास आदि के जोड़े को सहन करना द्वन्द्वों को प्राप्त हो कर के धीर पुरुष विचलित नहीं होते। तप का अन्तिम फल भगवान पतंजलिदेव ने इस सूत्र में इस प्रकार लिखा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।43।।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के नाश हो जाने पर कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि उपलब्ध होती हैं। श्री व्यासदेव जी के शब्दों में :-

निर्वर्त्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्धया-
वरणमलं तदावरणमलापगमात् काय-
सिद्धिः = अणिमाद्या, तथैन्द्रियसिद्धि
दूराच्छावणदर्शनाद्योति।।

अर्थात् उतरोत्तर बढ़ाया हुआ तप अशुद्धि के आवरण रूप मल को नष्ट कर देता है और आवरण भंग हो जाने पर कायिक सिद्धि, अणिमादिक और ऐन्द्रिय सिद्धि, दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि मनुष्य को स्वभाव से ही प्राप्त होती है। आजकल कलिकाल के जमाने में भी तपस्वियों के इस प्रकार के परिणाम बिल्कुल बिल्कुल देखने में आते हैं। मुझे इस संदर्भ में कायस्थ जाति के अन्दर जन्म लेने वाले एक तपस्वी बालक की सच्ची घटना का स्मरण आया। सन् 1941 में आगरा शहर के आगरा कॉलेज में ओमप्रकाश नाम का एक कायस्थ बालक शिक्षा प्राप्त करता था। श्री कृष्ण चरित्रों को सुन कर के उसके मन में श्री कृष्ण दर्शन की लगन तीव्रता से जग उठी और वह कॉलेज की शिक्षा छोड़ कर श्री कृष्ण दर्शनार्थ श्री धाम वृन्दावन को चला गया। वृन्दाबन में जा करके उसने गुरुकुल भूमि के पीछे श्री यमुना जी के तट पर एक कदम वृक्ष के नीचे बैठ कर अपनी भूख प्यास को सहन कर तीव्रतम तपश्चर्या आरम्भ की। वह बालक अड़सठ दिन तक जीवित रहा। श्री वृन्दावन के गोस्वामियों ने उसकी जीवनी पर एक पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने स्पष्ट वर्णन किया है। साठ दिन की तीव्र तपश्चर्या के बाद उसको स्वभाव से ही दूर दर्शन और दूर श्रवण की योग्यता प्राप्त हो गई थी और अपने तीव्रतम स्वाध्याय के फलस्वरूप उसको स्थानीय सिद्धों के दर्शन भी प्राप्त हुए। महाराजा उत्तानपाद के बालक ध्रुव ने घनघोर जंगल में जाकर नारदमुनि से मंत्रोपदेश पाकर के तीव्रतम तपश्चर्या और स्वाध्याय आरम्भ किया जिसके परिणाम स्वरूप उसको इष्ट देवता सम्प्रयोग हुआ। वह अपने इष्टदेव भगवान नारायण के दर्शन प्राप्त करके कृत कृत्य हो गया। जिस समय उसकी तपश्चर्या और स्वाध्याय से प्रसन्न होकर भगवान नारायण ने उसको वरदान देने की इच्छा प्रकट की तो उसने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि प्रभोः-

स्थानाभिलाषी तपर्सिस्थितो हिम,
त्वाम् प्राप्तवान देव मुनीन्द्र गुह्यम्
काचं विचिन वन नाप दिव्य रत्नम्,
स्वामिन कृतार्थोस्मि वरन न याचे।

अर्थात् हे प्रभो ? मैं राज्य पाने की इच्छा से तपश्चर्या में लगा था और अकस्मात् मैं आपको पा गया। काँच को ढूँढ़न वाला मैं दिव्य रत्न स्वरूप आपको पा गया। हे स्वामी अब मैं कृत्तार्थ हो गया हूँ। मुझे अब वरदान की आवश्यकता नहीं है। यह ध्रुव के तीव्रतम तप और स्वाध्याय का उत्कृष्ट परिणाम था। श्री व्यासदेव जी ने दृष्टजन्म संवेदनीय कर्माशय को तैयार करने का तीसरा साधन समाधि बतलाया है।

समाधि :

समाधि में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वृत्तियों का उदय हुआ करता है सर्वार्थता का नाश होता है और एकाग्रता का उदय होता है। मनुष्य के चित का यही समाधि परिणाम है। इसका स्पष्टीकरण श्री पतंजलिदेव जी ने इस प्रकार किया है:-

सर्वार्थतकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः।।11।।

अर्थात् सर्वार्थता का नाश होता है और एकाग्रता का उदय होता है, यही चित्त का समाधि परिणाम है। समाधि में साधक का चित्त क्योंकि विवेकख्याति की ओर हुआ करता है और वह उत्तरोत्तर समझता चला जाता है इसलिये सम्प्रज्ञात योग के अभ्यासी उन योगों का पुण्य भी उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है और उसका फल यह निकलता है कि प्रति दिन उसके क्लेश क्षय हो जाते हैं। और दृष्ट जन्म संवेदनीय उसका एक उज्ज्वल कर्माशय तैयार हो जाता है जो उस योगी को अपना उत्कृष्ट परिणाम तत्काल दिखा दिया करता है।

भारतवर्ष के इतिहास में इस प्रकार के योगियों के उदाहरण काफी मात्रा में मिलते हैं। गोपीचन्द भृतृहरी का अमृत लाभ करना समाधि जनित दृष्टि जन्म संवेदनीय पुण्यकर्माशय का ही उज्ज्वल परिणाम था। उनके समान ही और भी भारतवर्ष के योगी हैं जो समाधि के बल से अपने पुण्य प्रारब्ध का भुगतान करके अजरत्व एवं अमरत्व लाभ कर चुके हैं। योगी अपनी साधना के बल से जब कूटस्थ स्थिति में जाया करता है तो वह संसार के विकारों से बिल्कुल-बिल्कुल परे हो जाता है। उसके कर्म अकर्म के रूप में बदल जाया करते हैं। वह करता हुआ भी नहीं करता, खाता हुआ भी नहीं खाता, पीता हुआ भी नहीं पीता, सोता हुआ भी नहीं सोता यही उसकी कूटस्थ स्थिति है जो बिल्कुल विकार रहित हुआ करती है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए अखिल लोक पावन जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता के तीसरे अध्याय में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानव:।
आत्मन्येव च संतुष्ट: तस्प कार्य न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्व भूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय:।।

जो मनुष्य आत्म सन्तुष्ट है और अपने आप में ही सन्तुष्ट है उसका संसार में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। वह कोई कार्य करे या न करे इसका प्राणी मात्र में कोई अर्थ व्यापार नहीं रहता ऐसे कूटस्थ योगी पर कोई भी कर्म फल लागू नहीं होता।

हमारे शास्त्रों में चार प्रकार का कर्म-कलाप कहा गया है उनमें से कुछ कर्म तो इस प्रकार के होते हैं जिनको हम पाप के कर्म कह सकते हैं कुछ पुण्य कर्म कहे जाते हैं। कुछ कर्म इस प्रकार के है जिनको पाप और पुण्य के मिल-जुले कह सकते हैं। और कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जो क्रिया मात्र से ही किए जाते है उनका सम्बन्ध न पाप से ही है और न कर्म से ही है। जिस प्रकार एक व्यक्ति बगीचे में सैर करता हुआ अपने हाथ पैरों को हिलाता है स्वाभाविक ही उस के मन में कई प्रकार के विचार आते रहते हैं और जाते रहते हैं। किन्तु यह सारा क्रियाकलाप जो उसकी बिना इच्छा के स्वाभाविक हो रहा है कुशला-कुशला निकर्माण के सिद्धान्तानुसार कर्म के जाल में अन्तर्हित नहीं किया जा सकता इसलिये भगवान पतंजलिदेव ने योग दर्शन में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया :-

कर्माशुक्लाकृष्ण योगिना स्त्रिर्विधर्मितरेषाम्

इस सूत्र का अर्थ यह है कि किये जाने वाले कर्म-चार विभागों में विभक्त हैं पाप के, पुण्य के, पाप के और पुण्य के मिश्रित और चौथे न पाप के और न पुण्य के केवल क्रिया रुप कर्म कलाप के इस विभाजन में पुण्य के, पाप के, और पाप और पुण्य मिश्रित कर्म आम संसार के जीवों से हुआ करते हैं। किन्तु योगियों के कर्म न पाप के होते हैं न पुण्य के होते हैं। योगी पुरुष कर्म करते हुए नहीं करते, खाते हुए नहीं खाते, पीते हुए नहीं पीते, सोते हुए नहीं सोते। उनका सब कर्म-कलाप केवल क्रिया मात्र ही हुआ करता है।

यह तो हुई उन उत्कृष्ट योगियों के सिद्धान्त की चीज जो योगी अपनी साधना के बल से कूटस्थ स्थिति में पहुँच चुके हैं। किन्तु जो अभी सम्प्रज्ञात योग के अभ्यासी हैं वे अपने समाधि जनित पुण्य के प्रभाव दृष्टि जन्म संवेदनीय कर्माशय तैयार करते हैं। और उसके फलस्वरूप अपने निकृष्ट प्रारब्ध की यत्किंचित भुगतान से लेकर उज्जल व प्रारब्ध के रूप में परिवर्तित कर लिया करते हैं। जिस प्रकार गंगा के पवित्र प्रवाह में पड़ कर क्षुद्र जल प्रवाह के छोटे छोटे नाले अपने आप को गंगा के रूप में परिवर्तित कर लेते हैं, इसी प्रकार से समाधि जनित उत्कृष्ट पुण्य के प्रभाव में क्लिष्ट कर्माशय का क्षुद्र भोग थोड़े समय में निबट कर उज्जल पुण्य कर्माशय के फलस्वरूप में परिवर्तित हो जाया करता है। एक स्थान पर एक अच्छे योगाभ्यासी महात्मा ने निवास किया उन्होंने अपने ध्यानाभ्यास में देखा आगामी प्रारब्ध भोग में उनको एक सर्प काट खाएगा। प्रारब्ध भोग के संस्कारों को देखकर वह यह जान ही गए थे कि उनको सर्प ने अवश्य काटना है तो इसके अनुसार उसको बचाने के लिये उन्होंने भरसक प्रयत्न किया किन्तु वह अपने आपको बचा नहीं सके। ठीक समय पर उनको सर्प ने काट ही लिया। किन्तु क्योंकि वह विवेकख्याति की ओर थे इस लिये वह सब प्रभाव उनके सूक्ष्म शरीर पर होकर निबट गये। और वे पूर्ववत् अपनी यथार्थ स्थिति में आ गये। यह था उनके दृष्टि जन्म संवेदनीय

कर्माशय तैयार करने का उज्जवल उदाहरण समाधि के पुण्य प्रभाव से सर्प काटाने का फल थोड़े समय के भीतर ही भुगत गया और समाधि में ही श्री गुरुदेव के द्वारा जो दिव्य उपचार किया गया उसके फलस्वरूप वह तत्काल ठीक हो गये। उनके शरीर में सर्प विष का आभास भी नहीं रहा।

इसी प्रकार एक और योगाभ्यासी महात्मा का मुझे उदाहरण याद आता है। वह महात्मा योगाभ्यासी थे विवेकख्याति की ओर तीव्रता से बढ़ चुके थे। उन्होंने अपने ध्यानाभ्यास में एक दिन अनुभव किया कि 2 दिन बाद उनका आकस्मिक मृत्यु का संयोग बना जा रहा है। उन्होंने ध्यान योग में अपने गुरुदेव से पूछा प्रभो! मेरा यह मृत्यु संस्कार किसी प्रकार पूर्ण हो सकता है। श्री गुरुदेव जी ने उत्तर दिया बेटा इसके दूर करने में तो कोई कठिनाई नहीं है केवल मात्र कल तुम चावल नहीं खाना तो ये दु:ख दूर हो जायेगा। यदि तुम चावल खाओं तो दही न खाना, दही खाओ तो कढ़ी मत खाना किन्तु इन सब वस्तुओं से तुम्हारा संस्कार है तुम अवश्य ही खाओगे। किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं तुम विवेक ज्ञान की ओर बढ़ रहे हो इसलिये वह परम् सदगुरु तुम्हारी रक्षा अवश्य करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। जब उनके प्राणान्त का समय आया उन सर्व शक्तिमान ने उनके प्राणों के रक्षा की और उसके बाद दृष्टजन्म संवेदनीय पुण्य से कर्माशय उपार्जित पुण्य से दिव्य प्रारब्ध का भोग आरम्भ हुआ। इसलिये जो मनुष्य हर समय भाग्य ही भाग्य पुकारा करते हैं वह अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ खो जाया करते हैं। नीति शास्त्र का वचन है-

अर्थात् उद्योगी पुरुष को लक्ष्मी प्राप्त होती है भाग्य भाग्य कायर पुरुष कहा करते हैं। मनुष्य को अपने आत्म बल के आधार पर पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। पुरुषार्थ करने पर भी यदि विफलता मिले तो समझ लेना चाहिये कि तुम्हारा पुरुषार्थ तुम्हारा इस समय के कर्म विपाक को दबाने में दुर्बल रहा। उसके लिये फिर बार-बार प्रयत्न करना चाहिये।

तप और स्वाध्याय के बल पर सभी कुछ करने की सामर्थ्य वाला बन सकता है। अत: मनुष्य को सदा सर्वदा प्रयत्न शील रहना चाहिये जिससे वह इसी जन्म में परम्श्रेय भागी बन सके।

उद्योगिन पुरुष सिंह मुपैति लक्ष्मी,
दैवंहि दैवमिति कापुरुषा वदंति।
दैवं निहत्य पुरुषौषमान्य शक्तया,
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोत्र दोषा:।

योग साधन का स्थान

आनंदकंद भगवान कृष्णचन्द ने श्रीमद् भगवद् गीता में :-

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य

कह के यह बतलाया है कि योग की साधना के लिए स्थान अत्यन्त पवित्र और सुरम्य होना आवश्यक है। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर ने इस की विस्तार से व्याख्या करते हुए अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है:-

योगाभ्यास करने के लिए सबसे पहले एक उपयुक्त स्थान देखना चाहिए। वह ऐसा हो कि यदि विश्राम करने की इच्छा से आदमी वहाँ जाकर बैठे, तो फिर वहाँ से उठने को उसका जी ही न चाहे। वह स्थान ऐसा हो कि वहाँ के दृश्य से ही वैराग्य दूना हो जाये। वहाँ यदि सन्त जनों का निवास हो तो उससे सन्तोष की पुष्टि होती है और मन को धैर्य का सहारा मिलता है। जहाँ योगाभ्यास अपने आप होता है, जहाँ की रमणीयता के कारण हृदय को आत्मज्ञान का अनुभव हो, जहाँ विषय सुखों के लिए रहने वाले को भी यह अनुभव हो कि मैं संसार का वैभव त्याग कर यहीं शान्ति पूर्वक पड़ा रहूँ- ऐसा स्थान योग की साधना के लिए उत्तम होता है। उस स्थान में एक विशेष गुण यह भी होना चाहिए कि वहाँ योगाभ्यास करने वाले साधकों की ही बस्ती हो। मार्ग-दर्शन के लिए पहुँचे हुए सद्गुरु वहाँ रहते हों। जहां महान फलदार वृक्ष हों और जहां सुन्दर जलाशय हो और जहाँ हर समय मधुर जल सुलभ हो बहुत गर्मी न हो तथा जहां सांसारिक शोरगुल न होता हो जो शान्त और एकान्त हो ऐसा स्थान ही योग साधन के लिए श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

ब्रह्मचर्य व्रत

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने गीता में 'युक्ताहार विहारस्य' इन शब्दों के साथ, युक्ताहार विहार' पर भी विचार किया है। विहार शब्द का अर्थ है ऐश–आराम, रमण इसलिये योगाभ्यासी के लिए यह भी एक आवश्यकीय कर्त्तव्य है कि वह जगदात्मा के शब्दों का पालन करने के लिये और अपने ऊँचे अभ्युत्थान के लिये अपने आपको विहार में न डालें। युक्ताहार विहारस्य का अर्थ है ठीक समय पर खाना और संयम से रहना। हमारे शास्त्रों में स्थान–स्थान पर ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा वर्णन मिलता है, ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है :–

ब्रह्माणि चरतुं शीलम–
स्यास्तीति ब्रह्मचारी।

अर्थात् ब्रह्म के अन्दर विचरने वाली जिसकी आदत पड़ गई है, वह ब्रह्मचारी कहलाता है और दूसरे– शास्त्रों में वीर्य को ब्रह्म माना है। भगवान शिव ने शिव संहिता में :–

अहं बिंदु रजः शक्तिः

आपने आपको बिन्दु स्वीकार किया है और रज को शक्ति माना है, इसके अतिरिक्त और भी स्थान स्थान पर वीर्य को ब्रह्म रूप से वर्णन किया है अत: जब तक ब्रह्म रूप वीर्य शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा तब तक मनुष्य योगाभ्यास का अधिकारी बनता ही नहीं। उसमें भी वह हठाभ्यास: से कोसों दूर रहता है। यदि कोई विलासी व्यक्ति अपने आपको हठयोगी बनाना चाहता है तो उसका वह प्रयास इसी प्रकार का प्रयास है जैसे कोई बालक हाथ से चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है। अत: योगासन करने वाले व्यक्ति के लिये यदि वह आसनों के उच्चतम परिणाम को देखना चाहता है तो उसके लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना भी बहुत ही अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य किसको कहते हैं इसके विषय में हमारे आचार्य लिखते हैं:–

कर्मणा मनसा वाचा
सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो।
ब्रह्मचर्य प्रचक्षते।।

अर्थात् सब अवस्थाओ में मन वाणी और कर्म से सर्वथा मैथुन त्याग ही ब्रह्मचर्य है। मूत्राशय और मलाशय के ऊपर मणिपूरक में वीर्य का कोष रहता है। शरीर व्यापक वीर्य इधर–उधर की कामुक तरंगों से द्रवित होकर वह शरीर में पुन: व्यापक नहीं हो पाता और कामोत्तेजना से वह स्खलित हो जाता है। इस प्रकार के विचारों से वीर्य का कोष बार बार खाली होता रहता है। अत: **'ब्रह्मचर्य व्रत'** धारण करने वालों के लिये परमावश्यक है, कि वह वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिए कोई न कोई व्यायाम को अवश्य करते रहें किन्तु अन्य व्यायामों की अपेक्षा जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं यौगिक व्यायाम ही परमोत्कृष्ट है जिसके करने से शरीर की हर नाड़ी ठीक प्रकार से रस रक्त के वहन करने वाली बनती है। योगासनों के करने से सभी स्नायु सबल हो जाते हैं, छोटी–छोटी शिरायें भी अपने कार्य को ठीक करती हैं यथोचित मात्रा में स्थान–स्थान पर रस रक्त को पहुँचाती हैं। अत: योगासनों के द्वारा बहुत जल्दी वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। कुछ आसन तो इस प्रकार के हैं जिनसे वीर्य वीर्यकोष की ओर न जाकर उर्ध्व गमन करता है, ऐसे ब्रह्मचारी कुछ दिन में ही उध्वरेतस बन जाते हैं। भगवान शिव ने शिव संहिता में स्पष्ट कह दिया है:–

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने
किन्न सिद्धयन्ति भूतले।
उर्ध्वरिता भवेद्यस्मात
तावत् काल भयं कुतः।

अर्थात् प्रयत्न करके जो लोग बिन्दु जय करते हैं वह संसार में सभी काम कर सकते हैं जिन्होंने अपने आपको उर्ध्व रेतस बना लिया है, उनको कालभय उपस्थित नहीं होता। इसलिये योगासनों के अभ्यासी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना भी उसका कर्त्तव्य है। बहुत जगह पर इस प्रकार की घटनायें देखने में आती हैं, जिन्होंने अनायास अपनी मृत्यु को बुला लिया। ब्रह्मचर्य रहित विलासी व्यक्ति यदि योगासन का अभ्यास करते हैं तो '**अकर्णात् कर्णम् श्रेय:**' के नियमानुसार कुछ न कुछ तो ठीक होगा ही किन्तु उष्कृष्ट फल की प्राप्ति उसी हालत में हो सकती है कि वे सावधानी के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। ब्रह्मचारी के शरीर में व्यापक हुआ वीर्य उसको अतुल बल देता है। योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव ने स्पष्ट सीधे शब्दों में लिख दिया है:-

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ:।

और इसका अर्थ करते हुय व्यास जी महाराज ने और भी ऊँचे शब्दों में ब्रह्मचारी की इन शब्दों में प्रशंसा लिखी:-

यस्य लाभद प्रतिघान
गुणानुत्कर्षयति।
सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमा-
धातुसमर्थो भवतीति।।

अर्थात् ब्रह्मचारी अलौकिक गुणों की धारणा करता है एवं सिद्ध हो जाने पर अपने शिष्यों में शक्तिपात करने की ताकत वाला हो जाता है। अत: जो लोग योग आसन करते हुये और पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे उनके शरीर में अलौकिक गुणों का प्रकाश होना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य व्रत का यह अर्थ नहीं कि जंगलों में घूमने वाले साधु जटा-जूटधारी, जीवन भर शादी न करें तो वही ब्रह्मचारी कहलाने के अधिकारी हैं। यदि कोई जटो-जूटधारी व्यक्ति ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता है तो गृहस्थियों से बदतर हो सकता है। और जो गृहस्थी अपने गृहस्थ धर्म को निभाता हुआ ऋतुकालानुगामी है और केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिए वीर्यधान करता है वह अवश्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। इसलिये यह नहीं समझना कि ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग घर बार त्यागी साधुओं के लिए ही किया गया है प्रत्युत गृहस्थी भी स्वदार निरत होकर सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थ उपभोग करते हुये अवश्य ब्रह्मचारी ही है और उस प्रकार के ब्रह्मचर्य व्रत का फल उनका शरीर उनको बतलाता ही रहेगा।

ब्रह्मचर्य में सहायक प्राणायाम

प्रथम विधि : योगासन करने वाले साधक त्रिकोण आसन को भली प्रकार जानते हैं। पहले साधारण रूप से सीधा खड़े हो जायें फिर सहसा अपने प्राणों को नासिका-रन्ध्रों से एक दम बाहर निकाल दें और निकाल देने पर नाभि के नीचे के भाग को जहाँ पर मल मूत्र विसर्जनी नाड़ियाँ रहती हैं उस भाग को अपने दाहिने हाथ से बायीं ओर से दाहिनी ओर मल करके प्राण को बाहर रोके हुए ही बायीं ओर को घुटना झुका कर त्रिकोण आसन की विधि से घुटना झुका कर त्रिकोण आसन करले और उसके बाद धीरे-धीरे प्राण को भीतर ले आये किन्तु भीतर से रोकने को आवश्यकता नहीं है, फिर प्राणों को समान गति से चलने दें इसी प्रकार से फिर दूसरी बार पूरे प्राण कोष को बाहर निकाल कर नाभि के भाग, फिर दाहिने हाथ से ऊपर की ओर मलकर प्राण को बाहर रोके हुये दाहिनी ओर का घुटना झुका करके त्रिकोण आसन की विधि से आसन करें। जब तक प्राण बाहर रहे तब तक उस आसन को कायम रखें और ज्योंहि घबराहट शुरू हो और प्राण भीतर जाने लगे तो आसन भी छोड़ दें। साथ-साथ यह धारणा करते रहें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ। ऐसा करने से मूत्राशय और मलाशय के ऊपर रहने वाला वीर्य कोष भी अवश्य ऊपर की ओर आकर्षित हो जायेगा और इस क्रिया को करने वाला व्यक्ति उर्ध्वरेतस हो जायेगा।

उर्ध्वरेतस प्राणायाम की दूसरी विधि

सिद्धासन से बैठ जाइये, सिद्धासन करने की विधि आगे आसनों में बताई जायेगी, वैसे साधारण रूप से अपने बायें पैर की एडी को गुदा द्वार के आगे लिंग नाल के नीचे दृढ़ता से जमा कर रखें और दूसरे पैर की एडी को लिंग नाल के ऊपर रखें, वो एडियाँ इस प्रकार रखी हुई हों जिनकी ग्रन्थी भाग (टाकनी) बिल्कुल समसूत्र रूप से मिल हुये से हों इस प्रकार जमायें। नीचे की एडी को थोड़ा दृढ़ करके रखें, जहाँ यह एडी रखी जाती है वहीं से वीर्य वाहिनी नाड़ी जाती है, इसके दबाव से वो नाड़ी दब जाती है और इस नाड़ी के दब जाने से मन के वासनिक आकर्षक कम हो जाते हैं। इस प्रकार अपने पैरों को जमाकर और दोनों हाथों को घुटनों पर जमा कर

समकाय शिरोग्रवि की विधि के अनुसार शरीर को सम सूत्रता में रखकर सीधा बैठ जाए। ढोड़ी को थोड़ा झुकाकर छाती में लगाये पेट भीतर की ओर खिंचा हुआ हो इसको सिंहासन कहा है। इस आसन से बैठकर ऊपर बतलाई विधि के अनुसार अपने सारे शरीर के प्राण को एक दम बाहर निकाल दें और उड्डयान बन्ध लगा लें। उड्डयान बन्ध के साथ-साथ मूल द्वार का आकर्षण भी ऊपर की ओर स्वाभाविक हो जायेगा। प्राणों को बाहर की ओर रोके रखे जिस समय प्राण बाहर रुका हुआ हो और उड्डयान बन्ध लगाकर मूल द्वार का उर्ध्वाकर्षण किया हुआ हो उस समय अपने मन में धारणा करें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ फिर उसके बाद जब घबराहट हो तो प्राण को अन्दर ले आयें किन्तु अन्दर रोके नहीं। इस प्रकार के तीन प्राणायाम रोज करने से वीर्य विकारों में बड़ा अनुपम लाभ होता है। और इसके साथ-साथ उपयुक्त खान-पान मिलता हो तो इन्हीं प्राणायामों को 20-21 तक भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु हर साधक को अधिक मात्रा में प्राणायाम नहीं करना चाहिये केवल मात्र वीर्य विकार वाले रोगियों को रोग निवृत्ति के लिए दो या तीन प्राणायाम कर लेने चाहिये ऐसा करने से उनको अवश्य अनुपम लाभ होगा।

सत्य और वाक्-सिद्धि

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सत्य के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये योगदर्शन में भगवान् व्यासदेव ने निम्नाङ्कित पंक्तियाँ लिखी हैं:–

सत्यं यथाऽर्थे वाङ्गमनसे, यथा द्रष्टं यथाऽनुमिते यथा श्रुतं तथा वाङ्मश्चेति, परत्र स्वबोध सङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्तावा प्रति पत्ति बन्ध्या वा भवे दिति एषा सर्व भूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघात परै व स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्, तेन पुण्याभासेन पुण्य प्रतिरुपकेण कष्टतम प्राप्नुयात।।

अर्थात् यथार्थ वाणी जैसी देखी, सुनी व अनुमान की हुई, दूसरों को अपना अर्थ समझाने के लिये न वचना से युक्त, न भ्रान्ति–युक्त व न अस्पष्टार्थ कही हुई, जो प्राणिमात्र के परोपकार के लिये मनसा–वाचा–कर्मणा सत्य प्रत्युक्त होती है वही वाणी सत्य कहलाती है। इसी के द्वारा प्राणिमात्र का भला होता है। इसलिये सत्यवादन अहिंसा की निर्मलता के लिये और इसी प्रकार अस्तेय आदि जो है वे भी अहिंसा की निर्मलता के लिये, अन्य सब प्रकार के व्रताचरण अहिंसा धर्म को ही परिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा किसी जाति, किसी देश और किसी काल व समय से युक्त नहीं और सार्वभौमिक अहिंसा हो तो महाव्रत कहलाती है। यथा भगवान् पतंजलि के शब्दों में :–

जाति देश काल समया–
नवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।
(योगसूत्र 2/31)

सत्य के लिये उपनिषदों में बड़े–बड़े शब्द मिलते हैं।

सत्यं ज्ञानमनंतम् ब्रह्म।
(तैति. 2/1/1/)

सत्य प्रभ का रूप है व वाणी का तप है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा–
सम्यगज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अंत: शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो
य पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:।।
सत्यमेव जयते नानृत सत्येन
पन्था विततो देवयान।।

अर्थात् जो सत्य, ज्ञान, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही अंत: शरीर में शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा को देखता है, जिसको दोषों को क्षीणकर यति लोग मुश्किल से देख पाते हैं। हमेशा सत्य की ही जय होती है। देवों का मार्ग सत्य से विस्तृत है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने श्री मद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में सत शब्द ब्रह्म का नाम बतलाया है। यथा :–

ॐ तत्सदिति निर्देशो
ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च
यज्ञाश्च विहिता: पुरा।।

अर्थात् ॐ तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही नाम है। व इसी के द्वारा वेद, यज्ञ व ब्राह्मणों का विधान हुआ। इसी प्रकार का संकेत उपनिषदों में स्थान–स्थान पर भरा है। सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति. 3–2–1–1) सत्य ब्रह्म–वृहदारण्यक उपनिषद् 5–5–1 अर्थात् सत्य ही ब्रह्म है।

श्री विष्णु सहस्र नाम में भगवान को :–

सत्यं: सत्यं पराक्रम कहकर स्तुति की गयी है। श्री मद्भागवत पुराण के दशम स्कंध के दूसरे अध्याय में गर्भ–स्तुति के वर्णन में श्री भगवान् कृष्णचन्द्र को परम सत्य व सत्यात्मक शब्दों से सम्बोधित करके स्तुति की है। यथा :–

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रित्सत्यं

सत्यस्ययोनि निहितं च सत्ये।

सत्यस्यसत्यामृत सत्यनेत्रं

सत्यात्मकं त्वां शरण प्रपन्ना:।।

अर्थात् हे प्रभो! आप सत्य व्रत सत्यपरायण व तीनों कालों में परम सत्य हैं। सत्य ही आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है। क्योंकि आप सत्यात्मक हैं।

उन सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दघन प्रभु का स्वरूप सत्य है। वे स्वयं सत्य हैं, सत्य स्वयं परब्रह्म है। सत्य की महाशक्ति का वर्णन करते हुये हमारे पूर्वजों ने बड़े ऊँचे स्वर से कह दिया कि :-

सत्येन वायुरवाति सत्ये-

नादित्यो रोचते दिवि सत्यं वाच:।

प्रतिष्ठा सत्ये सर्व प्रतिष्ठितं

तस्मात्सत्यं पर बदन्ति।

— नारायणोपनिषद् 76

सत्य ही जय का मुख्य साधन है।

सत्यमेव जयते नानृतं,

सत्येन पंथा विततो देवयान:।

येना क्रमन्त्यृषयो हयप्त कामा:

यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानं।।

— मुण्डकोपनिषद् 3-1-6

अर्थात् सदा-सर्वदा सत्य की ही जय होती है। इस सत्य का अवलम्ब लेकर ऋषिजन आप्तकाम हो गये व उस सत्य के परम प्रतिष्ठारूप प्रभु को सरलता से प्राप्त कर लिया। भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के वनवास हो जाने के बाद उनको लौटाने के विचार से गये हुये वशिष्ठ वामदेव आदि गुरुजनों के प्रति सत्य की महिमा को हृदय में धारण करते हुये श्री रामचन्द्रजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा :-

सत्यंमेवानृशसं च

राजवृत्त सनातनम्।

तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं

सत्यो लोके प्रतिष्ठित:।

ऋषलश्चैव देवाश्च

सत्यमेव हि मेनिरे।

सत्यवादी ही लोकेस्मिन

परं गच्छति चाव्ययम्।

उद्बिजन्ते यथा सर्पा-

न्नरादनृतबादिन:।

धर्म सत्य परो लोके

मूलं सर्वस्य चोच्यते।

सत्यमेवेश्वरो लोके

सत्ये धर्म: सदाश्रित:।

सत्य मूलानि सर्वाणि,

सत्यान्नास्ति परमपदम्।

दत्तमिष्टं हुतं चैव

तप्तानि च तपांसि च।

वेदा: सत्य प्रतिष्ठाना

स्तस्मात्सत्यपरो भवेत्।

— वालमीकीय रामायण

(अयोध्याकाण्ड सर्ग 1 10 14)

अर्थात् सत्य ही सनातन राजवृत्त है। राज्य की व लोक की सत्य ही में प्रतिष्ठा है। ऋषि-मुनि व देवता सभी ने सत्य को माना है। यही सनातन धर्म है। सत्यवादी ही इस लोक में अव्यय पद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार मनुष्य सर्प से डरते हैं इसी प्रकार अनृतवादी से डरना चाहिए। क्योंकि इस संसार में सत्य ही परम तत्त्व है व सभी शुभों का मूल है।

इस लोक व परलोक में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदा सत्य के आश्रित है। सत्य विश्व का मूल है। सत्य के बढ़ कर कोई तत्व नहीं है। सत्य ही परम तत्व है। सभी दान, अनुष्ठान, यज्ञ व तप सत्य से आधारित हैं। इसी प्रकार चारों वेद सत्य द्वारा ही प्रतिष्ठा पाने वाले हैं। अत: कल्याण चाहने वालों को सत्यपरायण होना चाहिये। इस प्रकार सत्य की महान् महिमा को बतलाकर भगवान् श्री रामचन्द्र जी अपने व अपने पिता जी के सत्य वचन के पालनार्थ अयोध्या नहीं लौटे।

ठीक इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने अपनी रामायण में स्पष्ट लिखा है:-

सत्य मूल सब सुकुत सुहाये,
वेद-पुरान विदित मनु गाये।
धर्म न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुरान बखाना।
नहिं असत्य सम पातक पुंजा,
गिरि सम होई कि कोटिक गुंजा।

इसी प्रकार अन्य सन्तों की वाणियों में भी सत्य की महान् महिमा का वर्णन कूट-कूट भरा पड़ा है।

जाके हृदय साँच है, वाके हृदय आप।

अर्थात् जिसके हृदय में सत्य है, वहीं प्रभु का भी वास है। ठीक यही भाव महा— भारत में व अन्यान्य आर्षग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

अश्वमेघ सहस्त्रं च,
सत्यं च तुलया घृतम्।
अश्वमेघ सहस्त्रेभ्य:
सत्यमेव विशिष्यते।
सर्ववेदाधिगमनं,
सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च बचनं राजन्,
समं वा स्यान्नैवासमम्।
नास्ति सत्य समो धर्मो,
न सत्याद्धिशिष्यते परम्।
न तीब्रतरं किंचिद-
नृतादिह विद्यते।

— महाभारत आदिपर्व 74-10-105

अर्थात् सहस्रों अश्वमेघ यज्ञ की तुलना करें तो सत्य ही उत्कृष्ट है। इसी प्रकार सारे वेदों का पढ़ना, तीर्थ-स्नान, सत्य की तुलना में नहीं आ सकते। सत्य के समान कोई धर्मं नहीं है व असत्य के समान घोर पातक नहीं है।

महाभारत के शांतिपर्व के 162 वें अध्याय में श्री भीष्म पितामह ने बड़े ऊँचे शब्दों में सत्य का व्याख्यान किया और अन्त में यहाँ तक कह दिया कि—

नान्तो शब्दों गुणानां च
वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अत: सत्यं प्रशंसन्ति
विप्रा सपितृ देवता।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में-

सत्येन सूर्यस्तपति
सत्येनाग्नि प्रदीप्यते।
सत्येन मारुतो वान्ति
सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
सत्येन देवा प्रीयन्ते
पितरो ब्राह्मणास्तथा।
तस्मादाहु परो धर्म-
स्तस्मात्सत्यन्नलंघयेत।
मुनय: सत्य निरता:
मुनय: सत्य विक्रमा:।
मुनय: सत्य शपथा
स्तस्मात्सत्यं विशिष्यते।

अर्थात् सत्य की महिमा का वर्णन कहाँ तक करें। सब ऋषि-मुनि देवता स्थान स्थान पर सत्य की ही महिमा गाते हैं। सत्य से सूर्य तपता है। सत्य से वायु बहती है, अग्नि तपती है। सत्य से ही सब प्रतिष्ठित हैं। देव लोग, मुनि, ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं। अत: कभी भी सत्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। सब ऋषि-मुनियों का बल सत्य ही है। इसी प्रकार के भावों से वेद-शास्त्र व पुराण भरे पड़ें हैं।

श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति के अध्याय आठ के 96 वें श्लोक में निशङ्क सत्यवादी को बड़ा ऊँचा महत्व दिया है। यथा–

यस्य विद्वान हि बदत:
क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते।
तस्माान्न देवा श्रेयांसो
लोके अन्यं पुरुषं विदु:।

– मनुस्मृति अध्याय 8 श्लोक 96

अर्थात् निशङ्क सत्यवादी का देवता लोग भी परम आदर करते हैं और उसको बड़ा मानते हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति के चौथे अध्याय में प्रिय एवं सत्य बोलने को ही सत्य सनातन धर्म बतलाया है।

एक महात्मा का दृष्टान्त:

एक स्थान पर एक महात्मा निवास करते थे। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था कि वे मनसा वाचा कर्मणा सत्यवादी रहेंगे और अपने नियमानुसार उन्होंने सत्यव्रत का पूर्णरूपेण पालन किया। वह महात्मा यह अनुभव करते थे कि जो वाणी मुख से निकालेंगे वह सत्य ही होगी वे महात्मा अपने मुख से जो भी शब्द कह दिया करते, प्रभु की पूर्ण कृपा से वे शब्द यथार्थ हो जाते थे। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफला श्रयत्वम' पतंजलि योग दर्शन का यह सिद्धान्त उनके जीवन में पूरा घटित हो गया था। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ है जो व्यक्ति सत्य प्रतिष्ठ होता है अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा जो सत्य का पालन करता है, उसकी वाणी-क्रिया फलवती हो जाती है अर्थात् वाणी से जो कुछ वह कहा करता है प्रकृति उसको स्वीकार कर लेती है। वह परिणाम स्वरूप सत्य तत्काल दिखाई देने लगता है। इसी सिद्धान्तानुसार वे महात्मा अपने मुख से जो कुछ भी कहते वह तत्काल हो जाया करता था। महात्मा का जन्म पवित्र ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे पूर्ण सत्यप्रतिष्ठ एवं सदाचारी थे।

एक बार वे योग-प्रचार करते हुये रोहतक प्रान्तान्तर्गत किसी गाँव में गये। वहाँ पर एक ब्राह्मण बालक को भूतोन्माद की बीमारी लगी हुई थी। उसका इलाज उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति से किया और उसे आराम हो गया जिसके फलस्वरूप उनके सत्संग का उस गाँव में काफी प्रचार हो गया। उस गाँव में यह महात्मा लगभग पन्द्रह-बीस दिन रहे। इसके बाद दूसरे गाँव में जाने के लिये उन्होंने अपनी तारीख निर्धारित कर दी। माघ का महीना था, सर्दी काफी पड़ रही थी। महात्मा को सुबह चार बजे उठकर उस गाँव से लगभग चार या छः मील पर एक बस स्टेशन पर पहुँचना था, जहाँ से बस में बैठकर उन्हें पानीपत जाना था और पानीपत निर्धारित समयानुसार यदि वे प्रातः 9 बजे तक पहुँच जाते तो निश्चित स्थान पर जाने वाली रेलगाड़ी पकड़ी जा सकती थी विलम्ब हो जाने पर वह गाड़ी नहीं पकड़ी जा सकती थी। हुआ भी ऐसा ही। अपने निर्धारित समयानुसार उस ग्राम से प्रातः चार बजे चलना था। पर अकस्मात् उस दिन वर्षा आरंभ हो गयी और वर्षा के साथ ओले भी गिरने शुरू हो गये। माघ का महीना अत्यंत शीत प्रधान था ही उसमें साथ-साथ ओले गिरने से बड़ा ही भयंकर समय उपस्थित हो गया। ऐसी स्थिति में वहाँ से चलना किस प्रकार संभव हो सकता था। किन्तु महात्मा सत्यवादी थे अपने वचन की रक्षा के लिये ऐसी स्थिति में भी चलने को तैयार हो गये। गाँव वालों ने उनको बहुत मना किया। सवारी भी कोई जा नहीं सकती थी।

महात्मा ने गाँववालों से कहा कि हमारा बिस्तर और शेष सामान तुम बाद में पहुँचा देना। स्वयं अपने वचन का पालन करने के लिये ठीक चार बजे वहाँ से एक छाता लेकर निकल पड़े। गाँव वालों ने बहुत आश्चर्य से देखा कि महात्माजी आधा फलांग भी जा नहीं पाये थे कि अचानक ही वर्षा बन्द हो गयी- ओले भी गिरने बन्द हो गये। बादल फट गये। चाँद खिल उठा। गाँव के लोग महात्माजी का बिस्तर लेकर चल पड़े, किन्तु रास्ता पानी का था, इसलिये बस स्टैन्ड पहुँचते-पहुँचते लगभग दस बज गये। उनके पहुंचने के पहले दो-तीन बसें निकल चुकी थी। किसी तरीके से भी-वह गाड़ी पकड़ लेना संभव नहीं था, जिसमें उन्हें पानीपत होकर जाना था। किन्तु अपने वचन का प्रमाण रखते हुये महात्मा वहाँ से एक बस में सवार हो गये। उनके साथ ही दो-एक सत्संगी भी चले। जिस समय वे पानीपत से रेलवे-लाइन को पार करने लगे लोगों ने आश्चर्य से देखा कि जिस गाड़ी में उन्हें सवार होना था वह खड़ी है और चलने के लिये सीटी दे रही है। महात्माजी से सत्संगी कहने लगे कि गुरुजी! यह गाड़ी दो घंटे लेट हो गयी, मिलेगी भी नहीं आपको। किन्तु महात्माजी ने अपने साहस को नहीं छोड़ा। वे स्टेशन पर चले गये और फुर्ती से जाकर गाड़ी में बैठ गये। उनके एक सत्संगी ने टिकट खरीद कर उनको दे दिया। ज्योंही टिकट महात्माजी के हाथों में आया, त्योंही गाड़ी चल पड़ी और अपने वचननुसार वे गम्य स्थान पर ठीक समय पर पहुँच गये। यह महात्माजी की सत्य संकल्पता- का ही शुभ परिणाम था।

इससे भी अधिक सत्य प्रतिष्ठिता और भी ऊँची होती है। महात्मा के सत्य में थोड़ा-सा अभाव हो गया था, इसलिये बीच में थोड़ा सा अन्तरायरूप वर्षा-ओले इत्यादि

आ गये अन्यथा सत्यवादी का सत्य तो इतना उत्कृष्ट है कि वचन कह देने पर उसके रास्ते में कोई अन्तराय हों ही – नहीं सकता थी।

सत्य को साधना की पराकाष्ठा सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी भूमिका में जाकर होती है। सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरा भूमिका का नाम है– अस्मितानुगतसमाधि। जिस समय योगी योगाभ्यास करना आरंभ करता है, तो वह सम्प्रज्ञात योग की पहली भूमिका में अपना कदम बढ़ाता है। सम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हुये भगवान पतंजलिदेव ने एक सूत्र का उल्लेख किया है और वह है इस प्रकार–

वितर्क विचारानन्दास्मिता नुगमात संप्रज्ञात:।

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के चार अंग हैं। जिसमें 'वितर्कश्च चित्तस्य आलम्बने स्थूला भोग:' अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में योगी अपने चित्त को स्थूल विषयों में धारणा करके एकाग्र करता है। यह समाधि सिद्ध हो जाने के बाद दूसरी समाधि की भूमिका अपने आप प्रारम्भ हो जाती है। जिसको शास्त्रीय परिभाषा में विचारनुगम योग या विचारानुगत समाधि कहते हैं। यह संप्रज्ञात योग की दूसरी भूमिका है। पहली भूमिका में स्थूल विषयों का साक्षात्कार करता हुआ योगी भूमण्डलान्तर्गत दृश्यों को अधिक मात्रा में देखता है। इसलिए इस समाधि का नाम वितर्कानुगत योग या वितर्कानुगत समाधि कहा गया है। यह समाधि सिद्ध हो जाने के बाद योगी को दूसरी श्रेणी की भूमिका अपने आप आरंभ हो जाया करती है। उस समाधि का नाम विचारानुगत समाधि है। विचारानुगत समाधि प्रथम श्रेणी की समाधि वितर्कानुगत योग की अपेक्षा सूक्ष्म है और इस समाधि का अभ्यास करता हुआ योगी लोक–लोकान्तरों के दृश्यों को अधिक मात्रा में अनुभव करता है इसलिए इसका नाम विचारानुगत योग है। जब योगी इस समाधि की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो उसके आगे आनन्दानुगत समाधि की तीसरी भूमिका स्वत: ही आरंभ हो जाया करती है। आनन्दानुगत समाधि का अर्थ है–

'आनन्दोऽह्लाद:'

अर्थात्— इस समाधि में मनुष्य को परम आह्लाद होता है। वह अखण्ड मण्डलाकार व्यापक स्वरूप में परम आह्लाद के साथ विचरण किया करता है। जब यह समाधि पराकाष्ठा पर पहुँचती है तो उस समय सम्प्रज्ञात योग की चौथी भूमिका अस्मितानुगत योग स्वत: ही आरम्भ हो जाता है। और उस अस्मितानुगत योग में योगी को दो प्रकार की ताकतें अनायास ही प्राप्त हो जाया करती हैं। पहली शक्ति चित्त निर्माण की योग्यता अर्थात् इस समाधि में चित्त निर्माण की पूरी–पूरी योग्यता योगी को प्राप्त हो जाया करती है। वह योगी चाहे तो अपने हजारों चित्र बनाकर एक साथ हजार व्यक्तियों के साथ बातचीत कर सकता है। हजारों से मिल सकता है और हजारों पर अपना प्रभाव कायम कर सकता है। इस अस्मितानुगत समाधि में दूसरी शक्ति ऋतम्भरा प्रज्ञा की है। भगवान पतंजलिदेव कहते हैं– **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ है– **'ऋतं सत्यं विभर्तिया सा ऋतम्भरा'।**

इस समाधि में योगी को इस प्रकार सिद्धि प्राप्त हो जाती है, जिसमें ऋत का वास हुआ करता है। वह योगी जो कुछ सोचता है सत्य सोचता है जो करता है सत्य करता है। यदि उसके मन में विचार आता है कि अमुक स्थान में वर्षा हो रही है तो वर्षा हो ही रही होती है अन्यथा यह विचार आयेगा ही नहीं। उसके सभी संकल्प सत्य होते हैं। उस योगी के मन में असत्य लवलेश मात्र को नहीं रह पाता। वह सत्य संकल्प बन जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि की साधना की पराकाष्ठा ऋतम्भरा प्रज्ञा में ही होती है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा वस्तुत: समाधि की साधना से साधक को प्राप्त हुआ करती है किन्तु जो मनुष्य मनसा–बाचा कर्मणा सत्यवादी है एवं सत्यवादिता का पूर्ण अभ्यास करता रहता है, उसे तीनमास के अभ्यास के बाद ही अपनी वाणी में बल मालूम पड़ता है और जो कुछ कह दिया करता है वह सत्य होने लगता है। सत्य–वादन के एक साल के अनवरत अभ्यास करने से योगी को वाक्–सिद्धि स्वत: ही प्राप्त हो जाती है। उसकी वह सत्यवादिता वरदान का काम करती है। तीन महीने के सत्य बोलने के अभ्यास हो जाने के बाद असत्य स्वाभाविक ही पीछे हट जाता है। यदि कोई असत्य बोलने का मौका उसके सामने आता है तो योगी के हृदय में एक विशेष प्रकार का कम्पन–सा आरम्भ हो जाता है और वह सोचने लगता है कि मेरी वाणी से कोई असत्य शब्द न निकल जाय, जो मेरे सत्य पर आघात पहुँचाने वाला हो।

गोस्वामी तुलसीदास जी के कथनानुसार सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। संसार का प्रत्येक कार्य सत्य पर आधारित रहता है। सत्यवादी के हृदय में स्वत: ही ईश्वर का वास हो जाया करता है। जाके हृदय साँच है वाके हृदय आप।

इसलिये परम श्रेयाभिलासी साधक को चाहये कि जहाँ वह अन्यान्य साधनाओं का अभ्यास करता है वहाँ उसका सत्य बोलने का अभ्यास भी पूर्णारूपेण होना ही चाहिये। ऐसा हो जाने के बाद उसके हृदय में स्वत: ही प्रकाश रहने लगता है और वह दिव्यानुभूतियों का पात्र बन जाता है। किन्तु एक बात का ध्यान अश्वय रखना चाहिये वह यह कि- मनुष्य को सत्य तो बोलना चाहिये किन्तु प्यारा सत्य बोलना चाहिये। कटु सत्य में अनेक प्रकार की हानियाँ निहित रहा करती हैं। किन्तु योगी अपने सत्य के बल के प्रभाव से बहुत बड़ी प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। अत: मनुष्य को चाहिये कि वह मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य बोलने का अभ्यास करें।

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि-सिद्धि

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग दर्शन के विभूति पाद में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का वर्णन किया गया है उनमें से समाधि प्राप्ति के लिए भगवान पतंजलि देव ने दो प्रकार के विशेष अधिकारियों का संकेत किया है। अधिकारी इस प्रकार के हुआ करते हैं जिनको जन्म से ही योग ध्यान की प्रतीति हो जाया करती है। वह योगी इस प्रकार के होते हैं उनके जन्म जन्मान्तर के संस्कार प्रबल रहते हैं। केवल बहाना मात्र प्राप्त होते ही योगस्थिति प्रगट हो जाया करती है ऐसे योगियों को भगवान पतंजलि देव ने विदेह और प्रकृतिलीन नामों से अभिव्यक्त किया है। सूत्र इस प्रकार है–

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।

सूत्र का मोटा अर्थ इस प्रकार है। विदेह एवं प्रकृति लीन-योगियों को ही जन्म से योग की प्रतीति हुआ करती है। इस पर भाष्य लिखते हुए विविध भाष्यकर्ताओं के भाव निम्नांकित पंक्तियों में निबद्ध किये जाते हैं।

श्री व्यासदेव जी का महाभाष्य।।

विदेहनां देवानां भव प्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कार-मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवा-नुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीय मतिवाह्यन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरात्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

अर्थात्- स्थूल और सूक्ष्म शरीर के भावों का अतिक्रमण करने वाले देव विदेह कहलाते हैं। यद्यपि वह लोग वैराग्य संयुक्त हैं किन्तु फिर भी स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्तः, स्वसंस्कारोगम चित्त के द्वारा वह अपने आप को केवली भाव में स्थित समझते हैं। फिर भी तथा जातीयकम् स्वसंस्कार विपाक अति वाह्यन्ति उस प्रकार के अपने संस्कार विपाक का उपयोग करते हैं। इसलिए इस प्रकार के जो देव देवत्व है, उनको जन्म धारण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है। और जो लोग साधिकार चेतसि प्रकृति लाने कैवल्य पद मिवानुभवन्ति, ते प्रकृति लया योगिनोभवन्ति। जिन योगियों का चित्त प्रकृति के लीन होने के साधिकार है। वह अवधि पर्यन्त अपने आपको कैवल्य स्थिति में अनुभव करते हैं। 'यावन्न पुनरात्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्' जब तक उनका चित्त अधिकार वश होने के कारण लौट नहीं आता। प्रायः यही भाव सभी भाष्यकारों के हैं। ऐसे योगियों का पुनः पुनरावर्तन संसार में होता रहा करता है जब तक ये अपने आपको शुद्ध पद में विलय नहीं कर लेते। किन्तु इनकी हानि कुछ नहीं क्योंकि ये लोग मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं ज्यों ही इनका पूर्व जन्मापेक्षित अभ्यास क्रमशः प्रारम्भ हो जाया करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने समत्व योग का उपदेश दिया। और वह अर्जुन ने सब प्रकार से स्वीकार किया, किन्तु अर्जुन के मन में थोड़ी सी भ्रान्ति हो गई और उस भ्रान्ति के कारण श्री कृष्ण जी से इस प्रकार का प्रश्न कर ही लिया—

अयतिः श्रद्धयोपेतो
योगाच्चलति मानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धिं
कां गतिं कृष्ण गच्छति।।
कश्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छि-
न्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो
विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि।।
एतन्मे संशयं कृष्ण
छेत्तुमर्हस्य शेषतः।

त्वदन्य: संशयस्यास्य

छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

अर्थात् हे श्रीकृष्ण जो श्रद्धा से युक्त हैं योग से जिनका मन विचलित हो गया है। वे लोग योग संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते हैं। कहीं उभयतो भ्रष्ट होकर ब्रह्ममार्ग में विमूढ़ हुए बीच में ही तो नष्ट नहीं हो जाते इसलिए हे कृष्ण तुम मेरे इस संशय का नाश करो। तुम से बढ़कर इस संशय का छेत्ता मुझे इस संसार में और कोई दिखलाई नहीं देता। भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में अर्जुन के इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र

विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याण कृत्कश्चि-

त्दुर्गतिं तात गच्छति।।

प्राप्य पुण्यकृता लोका-

नुषित्वा शाश्वती: समा:।

शुचीनां श्रीमतां गेहे

योग भ्रष्टोऽभिजायते।।

अथवा योगिना मेव

कुले भवति घीमताम्।

एतद्धि दुर्लभत्तरं लोके

जन्म यदीदृशम्।।

अर्थात् हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का यहाँ और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता वह पहले पुण्यवान लोकों को प्राप्त करके और लम्बे समय तक वहाँ रह करके पुन: मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानों धनवानों के यहाँ उसका जन्म हो जाया करता है। या योगियों के ही घर में उसका जन्म होता है। इस प्रकार का भी जन्म प्राप्त करना इस मनुष्य लोक में अति दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धि संयोगं

लभते पौर्व देहिकम्।

यतते च ततो भूय:

संसिद्धौ कुरुनन्दन।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव

ह्रियते ह्यवशोऽपि स:।

जिज्ञासुरपि योगस्य

शब्द ब्रह्माति वर्तते।।

प्रयत्ना द्यतमानस्तु

योगी संशुद्ध किल्विष:।

अनेक जन्म संसिद्धस्ततो

याति परां गतिम्।।

और वहां जन्म लेने पर उस साधक को पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग पुन: प्राप्त हो जाया करता है उस बुद्धि संयोग को पा करके वह योगी विवश होकर पुन:-पुन: योग संसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। उस योगी का वह प्रयत्न भी उत्कृष्टोत्कृष्ट ही है। क्योंकि योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से कहीं बहुत आगे निकल जाता है। इस प्रकार का प्रयत्न करने वाला योगी संशुद्ध किल्विष हो करके प्रयत्न करते हुए अनेक अनेक जन्मों के पुरुषार्थ से परम गति को पा ही जाता है। यह बात भव प्रत्यय वाले योगियों की हुई। दूसरे वह योगी हैं जिनको उपाय प्रत्यय से योग की प्रवृत्ति हुआ करती है उनके लिए भगवान पतंजलि देव ने सिद्धि प्रदान करने वाले कुछ आवश्यक हृदय में उत्पन्न होने वाले साधनों का संकेत किया है वे इस प्रकार हैं—

श्रद्धावीर्य्य स्मृति समाधि

प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।।

अर्थात् इतरेषाम् उपाय प्रत्यय शीलानां योगिनां श्रद्धादला साधन भूता भवन्ति। उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिए श्रद्धादिक हो प्रमुख साधन बताये गये हैं। इस सूत्र पर भगवान व्यास देव का भाष्य इस प्रकार है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा चेतस-सम्प्रसाद साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनी वीर्य मुजायते, समुपजात वीर्य्यस्य स्मृतिरुप-तिष्टते, स्मृयुपस्थाने च चित्त मनाकुलं समाधी यते, समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्त्तते, येन यथाबद्धस्तु जानाति, तदभ्यासात् तद्विषया च्च वैराग्याद संप्रज्ञात: समाधिर्भवति।।

अर्थात् अभ्यास करने वाले योगियों को उपाय प्रत्यय के द्वारा ही अपने अभ्यास की चर्मस्थिति प्राप्त होती है। ऐसे अभ्यासियों के लिए सबसे पहला साधन श्रद्धा है। श्रद्धा के विषय में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं। **'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः'** अर्थात् चित्त की आस्था का नाम ही श्रद्धा है। 'सा हि कल्याणि जननीव योगिनं पाति' श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है और ज्योंही योगी के हृदय में श्रद्धा पैदा हो जाती है त्योंही **'तस्य विवेकार्थिन सत धानस्य वीर्य्यमुपजायते'** विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा वाले उस श्रद्धावान् योगी को वीर्य पैदा हो जाता है। वीर्य ही योगी का बल है और वीर्य पैदा हो जाने के बाद **'समुपजातवीर्यस्ययोगिनः स्वतिस्मृतिरूप तिष्ठते'** स्मृति उत्तिष्ठित हो जाती है। और स्मृति उत्तिष्ठित हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाहित हो जाता है।

समाहित चित्तस्य च प्रज्ञाविवेकः

उपावर्तते येन यथा वत्वस्तु जनाति,

समाहित चित्त योगी को अपने आप ही प्रज्ञा विवेक प्राप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होने पर योगी वस्तुतः को यथार्थ जानता रहता है। यह बात योगियों के उपाय प्रत्यय की है। उपाय प्रत्यय ही हर व्यक्ति को समान रूप से फलीभूत नहीं हुआ करता। उनमें भी मृदुमध्याधि उपाय वाले योगियों में तीव्र संवेगानां मासन्नः समाधि लाभः फलं च भवति। मृदु, मध्य एवं अधि उपाय वाले योगी जब अपनी प्रगाढ़ लगन के साथ अभ्यास में लगते हैं उनमें से भी जो अधिमात्र उपाय वाले एवं तीव्र संवेग वाले होते हैं उनको शीघ्राति-शीघ्र समाधि फल की प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार भगवान पतंजलि देव ने समाधि प्राप्त उपायों का वर्णन किया है इसके बाद वहीं पर तत्काल किसी ने प्रश्न कर दिया :-

किमे तस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्ययोऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

अर्थात् क्या इससे भी जल्दी किसी प्रकार समाधि हो सकती है और उसके प्राप्त करने का क्या और कोई सरलतम उपाय भी है। इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने उत्तर दिया-

ईश्वर प्रणिधानाद्धा प्रणिधानात् भक्ति वि-शेषाद्आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृहृणात्यभिध्यानमात्रेण—

तद्भिध्यानादपि योगिन आसन्नतम समाधि-लाभः फलं च भवतीति।

सूत्र और व्यास भाष्य की पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है। **ईश्वर प्रणिधानात् भक्ति विशेषादावर्जिताः ईश्वरः अभिध्यान मात्रेण तमनुग्रहणाति। इदमस्याभिमतं अस्तुरिति** अर्थात् भक्ति विशेष से आवर्जित किया ईश्वर साधक पर अनुग्रह करता है ताकि इसकी प्यारी चीज इसको प्राप्त हो जाये।

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधि लाभः फलं च भवति।

ईश्वर के ईक्षण मात्र से भी मनुष्य को जल्दी-से-जल्दी समाधि-लाभ हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से किस प्रकार से समाधि लाभ हो जाता है इससे पहले मैं ईश्वर का लक्षण एवं तद् बोधक नाम प्रणव का यहाँ वर्णन कर देना बहुत ही आवश्यक समझता हूँ। ताकि आगे की पंक्तियों में प्रणिधान का स्वरूप भी भली प्रकार समझ में आ जाये। अभी तक योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि-आदि अन्यान्य उपायों को समाधि का उपाय बतलाया। किन्तु जब जिज्ञासु ने-

कि मेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

पूछा क्या इससे भी सरलतम समाधि लाभ का उपाय है तब श्री पतंजलि देव ने-

ईश्वरप्रणिधानाद्धा

कह करके ईश्वर प्रणिधान को ही समाधि प्राप्ति का सरलतम एवं सुसाध्य उपाय बतलाया। अभी तक योग-दर्शन में प्रकृति पुरुष का ही वर्णन आया था। प्रकृति पुरुष विवेक को ही प्रधानता दी गई थी। किन्तु अब अकस्मात्-

ईश्वरप्रणिधानाद्धा

कह कर के ईश्वर का वर्णन किया। इसको सुन करके श्रोता जिज्ञासु आश्चर्यचकित सा हो गया और उसने साहसपूर्वक कह दिया—

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः

कोऽयमीश्वरो नामेति।

अर्थात् प्रकृति पुरुष से अलहदा ईश्वर नाम की वस्तु यह क्या है? इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने कहा

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।।

अर्थात् क्लेश कर्म विपाकादिकों से रहित जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है उसी पुरुष-विशेष का नाम ईश्वर है इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ-

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशला कुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणावासना आशयः, ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापराभृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थात् अविद्यादि क्लेश और अच्छे-बुरे कर्म और उनका फल-विपाक तदनुगुणवासना ये सब-के-सब मन में रहते हुए पुरुष में कहे जाते हैं। और उसी को उनके फलों का भोक्ता मानते हैं। जैसे जय और पराजय योद्धाओं में हुआ करती है किन्तु उनके मालिकों की मानी जाया करती है। इसी प्रकार कर्मफल का भोक्ता पुरुष को माना जाता है। वस्तुतः वह सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है। जो सदा सर्वदा सभी प्रकार के भोगों से बिल्कुल ही अपरामृष्ट रहा है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। ईश्वर का लक्षण जब इस प्रकार से बतला दिया गया तब उसी समय जिज्ञासु के मन में पुनः प्रश्न पैदा हुआ-

कैवल्य प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः कैवलिनः।

अर्थात् सब प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट बहुत से कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हुए केवली जन हैं। क्या वे सभी ईश्वर हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा-

ते हि त्रीणि वन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावि स तदैव मुक्तः तदेव ईश्वरः।

अर्थात् अन्य जो केवली जन हैं वह तीनों बन्धनों को काट करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और ईश्वर के साथ उन तीन बंधनों का संबन्ध न कभी था न कभी होगा—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्

उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है अर्थात् उस ईश्वर से बढ़कर के सर्वज्ञ न अब तक कोई हुआ है न आगे होगा। ईश्वर सबसे बढ़कर सर्वज्ञ हैं। और वह ईश्वर-

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के शुरु में होने वाले हिरण्यगर्भादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल की हद से परे है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है।

भयादस्य अग्निस्तपति
भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च
मृत्युर्धावति पंचमः।।

गुरु का अर्थ व्यास देव की परिभाषा के अन्दर-

यत्रावच्छेदनार्थेन कालो न उपावर्तते

जिसकी सीमा का उल्लंघन करके अवच्छेदनार्थ काल उपस्थित नहीं होता उसी सत्ता का नाम गुरु है उसी के लिए भगवान पतंजलि देव ने 'पूर्वेषामपि गुरु कालेना नवच्छेदात्' कहकर के उस परम गुरु की परिभाषा लिख दी। इस सूत्र के अर्थ में श्री व्यास जी अपना भाष्य इस प्रकार कहते हैं।

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते, स एष पूर्वेषा मपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्त सर्गा-दिष्वपि प्रत्येतव्यः।।

ईश्वर अनादि काल से सिद्ध है इसलिए काल की सीमा से परे रहकर वह पूर्व गुरु जो काल के अवच्छेदन में आ चुके हैं उन सब का गुरु है। श्री पतंजलि देव जी ने ईश्वर की परिभाषा समझाने के लिए इतने सूत्रों में उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया। अब हम उस ईश्वर को आत्म-निवेदन किस प्रकार से करें जिससे वह हमारे अभिमुख हो सके, और हम सब उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने अभिहित पदार्थ समाधि को प्राप्त कर सकें। नाम और नामी का अभिन्न संबन्ध रहा करता है। और उसके लिए ईश्वर की प्राप्ति का साधन भूत उसका नाम है। उसका वर्णन करते हुए भगवान पतंजलि देव ने उसके बोधक नाम का संकेत किया—

तस्य वाचकः प्रणवः।।

उस ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है। प्रणव क्या है इसका बहुत बड़ा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सभी की सत्ता प्रणव के अन्दर विलीन हो जाती है। हमारे शास्त्रों का कथन है:-

कोटि कोट्ययुतानीशे
चाण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा
ब्रह्माणो हरयो भवा:।।
असङ्ख्याताश्च रुद्राद्या
असङ्ख्याता पितामहा:।
हरयश्चाप्यसङ्ख्याता
एक एव महेश्वरे।। इति।।

अर्थात् असंख्यात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव, एक ही प्रणव में विलीन हो जाते हैं। महेश्वर ही स्वयं प्रणव हैं।

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः
प्रणवात्प्रभवो हरि।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा
प्रणव एव अवशिष्यते।।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है और उनके बाद में प्रणव ही शेष बच जाते हैं। ऊँकार एक इस प्रकार की सत्ता है जो काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अंड ब्रह्माण्डों में व्याप्त है। इसलिए प्रणव का जप करते हुए उस परम तत्व का ध्यान करते हुए ही हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं। अत: भगवान पतंजलि देव ने आदेश दिया है:-

तज्जप: तदर्थ भावनम्।।

अर्थात् प्रणव का जप करना चाहिए। और प्रणवाविधेय पर पुरुष का ध्यान करना चाहिए। तभी उसका परिणाम सामने आयेगा। इसी लिए हमारे शास्त्रों का आदेश है:-

स्वाध्यायद्योगमासीत
योगात्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या
परमात्मा प्रकाशत।।

स्वाध्याय से योग प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करें, स्वाध्याय और योग दोनों की शक्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाता है। प्रणव के जप का आदेश देते हुए भगवान् पतंजलि देव ने 'तज्जप: तदर्थभावनम्, कह करके प्रणव जाप के साथ-साथ प्रणवाविधेय ईश्वर के ध्यान करने की भी विशेष रूप से आज्ञा प्रदान की है। बात जैसी की तैसी सार्थक है ऊपर के श्लोक में स्वाध्याय और योग की संपत्ति से परमात्मा का प्रकाशत्व होना वर्णित है। इधर प्रणव का जप करना और प्रणवाविधेय का फल भगवान् पतंजलि देव ने अपने शब्दो में स्पष्ट रूप से कह दिया कि-

तत: प्रत्यक् चेतनाधि-
गमोऽप्यन्तराया भावश्च।।

अर्थात् प्रणव का जप करने एवं प्रणवाविधेय ईश्वर का ध्यान करने से परिणाम स्वरूप प्रणवाविधेय प्रत्यक्चेतनाधिगम एव अन्तराय निवृत्ति का निर्देश किया। और इसी प्रकार का संकेत करते हुए श्री मद्भगवद्गीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने भी बिल्कुल सीधे और स्पष्ट शब्दों में कह दिया-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरनृ।
य: प्रयाति त्यजन्देहं
स याति परमां गतिम्।।

अर्थात् ॐ इस एक अक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरा ध्यान करता हुआ, जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि प्रणव का जाप करने से एवं प्रणवाविधेय का ध्यान करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह प्रमाणित हुआ कि मनुष्य को स्वाध्याय और योग ही ईश्वर की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव का जाप करता है वह अपने अभ्यास बल से अल्प समय में ही ईश्वर को अभिमुख कर लेता है। और ईश्वराभिमुख के परिणाम-स्वरूप समाधि को पा जाता है। तभी उसकी सब प्रकार की अन्तराय निवृत्ति एवं पाप नाश हो जाया करता है। शास्त्रीय प्रवचन है कि-

योगग्निर्दहति अशेषं पाप पंजरम्।

यही ध्यानयोग का निर्मल तेज है जिससे सब प्रकार का पंजर नष्ट हो जाया करता है। ध्यान विन्दोपनिषद् का वचन है यदि–

शैले समं पापं
विस्तीर्णं बहु योजनम्।
भिद्यते ध्यान योगेन
नान्यो भेद: कदाचन।।

यदि पापों का पहाड़ का पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है। रामायण आदि में इस प्रकार के बहुत से प्रकरण मिलते हैं, जिनमें भगवान् श्रीराम ने अपने मुख से स्पष्ट यह कह दिया है कि जीव के सन्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों के पापों को तत्काल नष्ट कर दिया करते हैं। जैसे कि लंका काण्ड में जिस समय विभीषण श्रीराम की शरण में आया, और उसके राक्षस होने पर शरण होने में कुछ शंकायें उपस्थित की गई वहाँ पर भगवान् श्रीराम ने विभीषण को निर्भीकता प्रदान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

कोटि विप्र बध लागेहि जेही।
आये शरण तजहुँ नहिं तेही।।
सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं।
कोटि जन्म अध नासहिं तबहीं।।

अर्थात् ईश्वर के सन्मुख होते ही उसके अनन्त करोड़ों पापों का नष्ट हो जाना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद अन्धकार का नाश हो जाना स्वाभाविक हुआ करता है। वैसे तो जीव ईश्वर के सन्मुख हर समय रहता ही है। किन्तु अभिमुखीकरण का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि वह ईश्वरीय तेज का स्पष्ट अनुभव करले और अनवरत करता ही चला जाये तो अवश्य ही वह जीव ईश्वरीय तेज को पाकर तन्मय हो जायेगा, एवं सिन्धु में बिन्दु की तरह से अपनी आत्म–सत्ता को परमात्म सत्ता में सदा सर्वदा के लिए विलीन कर देगा। 'समाधि शब्द का अर्थ भी 'समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मन:' अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की एकावस्था का ही नाम समाधि है। जब मनुष्य परमगुरु ईश्वर को सर्व कर्मार्पण करके अपने आप को न्यौछावर कर डालता है तभी ईश्वर का यह संकल्प होना कि 'इदमस्याभितमस्तु' यह स्वाभाविक ही है इसीलिए भगवान पतंजलि देव ने ईश्वरप्रणिधान को अन्य श्रद्धा–वीर्य स्मृति समाधि आदि साधनों की अपेक्षा सरलतम साधन माना है इसीलिए :–

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्

ईश्वर प्रणिधान को ही अदीनतापूर्वक सुलभ साधन बतलाया, ईश्वर प्रणिधान में साधक को कोई किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रेमपूर्वक उनका अनन्यचिन्तन एवं सर्व कर्मार्पणता ही उसकी सफलता का सफल साधन बन जाता है। ईश्वर प्रेमी किसी से बात नहीं करना चाहता, किसी से विवाद नहीं करना चाहता, उसकी वृत्ति रहती है:–

सुनत न काहू कौ कही।
कहत न अपनी बात।।
नारायण वा रूप में।
मगन रहत दिन रात।।

ऐसा साधक ही प्रणवाविधेय को प्राप्त करके निहाल एवं कृतार्थ हो जाया करता है।

योग का अधिकारी कौन?

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगदर्शन में भगवान् पतंजलि देव ने समाधि प्राप्ति के दो प्रमुख साधनों का वर्णन किया है और उन दोनों को भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय नाम से व्यवहृत किया है। 'भव प्रत्यय' और 'उपाय प्रत्यय वाले योगियों का वर्णन गतवर्ष हम किसी अंक में ईश्वर प्रणिधान और समाधि सिद्धि नामक लेख में कर चुके हैं। जिसमें उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिये 'श्रद्धा वीर्यस्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्'' कह करके उपाय प्रत्यय योगियों के उत्कृष्ट साधनों का वर्णन किया है। किन्तु फिर भी संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो प्रयत्न करने पर भी अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पाते। वैसे योग विद्या की तो इतनी महत्ता है कि उसमें मंद से भी मंद साधक अपने अधिकारानुसार साधन करने से अपने चरम लक्ष्य को पा ही जाता है। उन्नति से रुक जाने का कारण केवल अनधिकार चेष्टा है। इसलिये हमारे शास्त्रों में स्थान-स्थान पर यह आदेश दिये गये हैं कि-

गोपनीय गोपनीयं, गोपनीयं च प्रयत्नतः।
दत्ते च सिद्धि हानिस्यात्तस्माद्यत्नेन गोपयेत्।।

अर्थात् विद्या को छिपा कर रखना चाहिये। यदि विद्या किसी अनाधिकारी को प्राप्त हो जाती है तो वह इस प्रकार नष्ट हो जाया करती है जैसे ऊसर भूमि में बोया बीज नष्ट हो जाया करता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि हम उत्तम शास्त्रीय उपदेश को किसी से कहें ही नहीं। अपने ही अन्दर उसे छिपाये हुये ले जायें। ऐसा करने से तो संसार की बहुत हानि होगी। प्रत्युत जो उस विद्या के अधिकारी हैं, वे उसको पाकर अपने को कृतार्थ कर सकते हैं। उनको वे रहस्य अवश्य बतलाने चाहिये।

जगदात्मा अखिललोक-पावन श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को गीता के ज्ञान का परमोपदेश देकर उसको सब प्रकार से कृतार्थ कर दिया और पूर्ण विश्वास दिलाते हुये यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि-

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

अर्थात् हे अर्जुन तुम सब धर्म और पुण्यों के झमेलों को छोड़कर मेरी एक की शरण हो जा, मैं तुझे सब प्रकार के पापों से छुड़ा दूँगा। इस प्रकार सारी गीता सुना देने एवं पाप-मोचन के लिये अपना पूरा-पूरा उत्तरदायित्व ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी अधिकार एवं अनाधिकार की मीमांसा को समझाने के लिये ये शब्द तो कह ही दिये—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।

य इमं परमं गुंह्य मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृवा मामेवेष्यत्यसंशयः।।

अर्थात्, हे अर्जुन! मेरा बतलाया हुआ यह गीता-ज्ञान जो तपस्वी और सेवक नहीं है, अभक्त है और जो मुझसे द्वेष करते हैं उनको कभी नहीं बतलाना चाहिये। किन्तु कहाँ बतलाना उचित है, यह भी जगदात्मा अपने श्री मुख से कहकर बतला रहे हैं कि जो मेरे बतलाये हुये इस ज्ञान एवं गुह्य विद्या को मेरे भक्तों में बतलायेगा, वह व्यक्ति मेरी पराभक्ति को पाकर मुझको प्राप्त हो जायेगा। इसमें कोई भी शंका की बात नहीं है।

यह सब कह देने के पश्चात् और भी बल के साथ पुन: कह दिया कि—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम:।
भविता न च मे तस्मादन्य: प्रियतरो भुवि।।

अर्थात् जो मेरे इस संदेश को मेरे भक्तों में बतलायेगा, वह व्यक्ति मुझे अत्यन्त प्रिय है। उससे बढ़कर और प्रिय नहीं हो सकता। इन शब्दों को पढ़कर हर व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि जगदात्मा श्रीकृष्ण के हृदय में गीता-ज्ञान-प्रचार के लिये कितने ऊँचे और उत्कृष्ट भाव हैं। किन्तु अभक्त, निन्दक, द्वेष करने वाले एवं तपश्चर्या-रहित व्यक्तियों के लिये नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अधिकारी ही विद्या को प्राप्त कर सकता है। अधिकार शब्द का अर्थ है- कार्यारम्भन-सामर्थ्य, जिस व्यक्ति के अन्दर कार्य करने की सामर्थ्य है, वह उस विद्या का अधिकारी है। जिस प्रकार प्रथम कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी एम.ए. और आचार्य के कोर्स का अधिकारी नहीं होता। प्रत्युत वह प्रथम कक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त द्वितीय कक्षा के ही कोर्स को पढ़ने का अधिकारी हुआ करता है, न कि एम.ए. तथा आचार्य के कोर्स को। यदि उस छात्र के सामने कोई व्यक्ति बिना सोचे समझे एम.ए. और आचार्य की पुस्तकें लाकर रख देता है, तो वह उसकी महान अल्पज्ञता है। उन पुस्तकों से उस विद्यार्थी का किसी भी प्रकार का हित नहीं हो सकता। प्रत्युत, अपनी योग्यतानुसार पाठ्य पुस्तकों के पढ़ने से ही भला होगा। इसी प्रकार विद्या में भी अधिकारी उत्तमाधिकारी-मन्दयोधिकारी आदि आदि अधिकारियों के भेद हैं अपने अधिकारानुसार ही मनुष्य श्री गुरुदेव का आदेश प्राप्त करके अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त कर सकता है।

भगवान् आदिनाथ श्री महादेव जी ने 'शिव संहिता' में मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम कह करके चार प्रकार के योग-साधकों का वर्णन किया है।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है-

चतुर्धा साधकों ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रक:।
अधिमात्र तम: श्रेष्ठो भवाव्धौल्लंघन: क्षम:।।

अर्थात् योग साधन के अभ्यासी साधकों में मृदु, मध्य अधिमात्र एवं अधिमात्रतम चार प्रकार के साधक हैं। उनमें से संसार-सागर से पार करने के लिये सामर्थ्यवान अधिमात्रतम साधक उच्च श्रेणी का है। अधिमात्रतम साधक के लक्षण भगवान सदाशिव ने 'शिव संहिता में इस प्रकार कहे हैं:-

महा वीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञ: शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यास शीलश्च निर्मोहश्च निराकुल।।

नवयौवन सम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रिय:।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वं जनाश्रय:।।

अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थित: क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्त चेष्ट: प्रियंवद:।।

शास्त्र विश्वास सम्पन्नो देवता गुरु पूजक:।
जनसङ्ग विरक्तश्च महा व्याधि विवर्जित।।

अधिमात्र तरो ज्ञेय: सर्व योगस्य साधक:।
त्रिभिस्संवत्सरै: सिद्धिरेतस्य नात्र संशय।
सर्व योगाधिकारी स नात्र कार्याविचारणा।।

अर्थात् जो साधक महावीर्यवान् परमोत्साही शूरतासम्पन्न, भावनामात्र से मन की बात को समझने वाला, शास्त्र का ज्ञाता, अभ्यास शील, धैर्यवान, मोह ममता-रहित, नव युवक, अल्पाहारी एवं जितेन्द्रिय, सब प्रकार से निर्भय, परमशुद्ध, चतुर, प्राणीमात्र के श्रेय के लिये सभी का अवलम्बन भूत, दान, शील स्थिर बुद्धि वाला बुद्धिमान, यथेच्छावस्थित, सर्वाधिकारी एवं क्षमा शील, सुशील स्वभाव का धर्माचरण करने वाला, अपनी चेष्टाओं को गुप्त रखने वाला, मृदुभाषी, शास्त्र पर विश्वास रखने वाला, गुरु और देवता की पूजा करने वाला, महाव्याधि रहित एवं जन संसर्ग से विरक्त इस प्रकार का अधिमात्रतम कहा गया है। यह साधक सब प्रकार की योग-साधना का अधिकारी है। इस प्रकार के उत्साही साधक को तीन वर्ष के अभ्यास से ही सकल सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाया करती हैं।

दूसरे प्रकार के साधक को भगवान् शिव ने अधिमात्र साधक के नाम से कहा है। उसके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं।

स्थिर बुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि।।

शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्ज पूजकः।
योगाभ्यासरत श्चेव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः।।

एतस्य सिद्धिः षड् वर्षे भवेदभ्यास योगतः।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः।।

अर्थात् स्थितप्रज्ञ, लययोग के अभ्यास की इच्छावाला स्वाधीन एवं वीर्यवान उत्तम विचारों वाला, दयायुक्त, क्षमाशील एवं सत्यवादी, नवयुवक, शूरवीर, श्रद्धावान, श्री गुरुदेव के चरण कमलों की पूजा करने वाला, और योगाभ्यास में रत रहने वाला, इस प्रकार के साधक को अधिमात्र साधक जानना चाहिये। यह साधक हठयोग का अधिकारी है और छः वर्ष के अभ्यास से उसको अवश्य ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

तीसरे प्रकार का साधक मध्य साधक कहा गया है और उसके लक्षण भगवान् शिव ने इस प्रकार निर्देश किये हैं:-

सम बुद्धि क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियंवदः।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु, सामान्यः स्यासंशयः।
एतज्ज्ञात्वैव गुरु, भिर्दीयते मुक्तितो लयः।।

अर्थात् समबुद्धि, क्षमायुक्त, पुण्यकांक्षी, प्रिय बोलने वाला, सब कार्यों में मध्यस्थ रहने वाला, मध्यस्थ शब्द का अर्थ है- जो प्रसन्नता में अधिक हर्ष को प्राप्त न हो और किसी शोकप्रद समचार से एकाएक शोक निमग्न न हो जाये। सब प्रकार से सामान्यभाव से रहने वाला स्थिर बुद्धि युक्त साधक मध्य साधक कहा जाता है। यह साधक लययोग का अधिकारी है। योग के ये तीन प्रकार के साधक एक प्रकार से उत्कृष्ट ही हैं। सब प्रकार से सिद्धि-भाजन के अधिकारी हैं। इन तीनों के अतिरिक्त भगवान् शिव ने एक मृदु नाम के साधक का और वर्णन किया है। उसके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं:-

मन्दो साद्दी सुसंमूढ़ो व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः।।
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽति निष्ठुरः।
मंदा चारो मन्दार्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः।।
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धि रेतस्य यत्नतः परम।
मन्त्र योगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्।।

अर्थात् जो मन्दोत्साही हो, मूढ़ चित्त भ्रमित बुद्धिवाला, रोगी, गुरु-निन्दक, पापमति, लोभी, स्त्रियों का संगी और अधिक खाने वाला, चपल एवं कातर, अत्यन्त कठोर स्वभाव का पराधीन एवं रोगी हीन वीर्य और मन्दाचारी, इस प्रकार का मनुष्य मृदु साधक है अर्थात् सबसे निकृष्ट है। यह साधक केवल मात्र मंत्र-योग का अधिकारी है। इस को तीव्रतम अभ्यास से 12 वर्ष में सिद्धि प्राप्त होती है।

भगवान् शिव ने यह चार प्रकार के अधिकारी साधकों का वर्णन अपनी 'शिव संहिता' में किया, और इनके साथ ही साथ यह भी बतला दिया कि ये सभी साधक किस-किस योग के अधिकारी हैं। अधिमात्रतम साधक सब योगाधिकारों, अधिमात्र साधक हठयोगा-धिकारी, मध्य साधक लय योगाधिकारी एवं मृदु साधक को मंत्र-योग का अधिकारी बतलाया। इसी का नाम अधिकारी-भेद है। यदि हम मृदु साधक को सर्व योगाधिकारी बना दें या उसको हठ योग की शिक्षा देना आरंभ कर दें तो वह कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि बहशी, वनिताश्रयी गुरु-दूषकः आदि अवगुण उसके अन्दर पूर्ण रूपेण परिपूरित हैं और वह हीन वीर्य एवं मन्दोत्साही है। अतएव किसी भी प्रयत्न को चरम सीमा तक पहुँचा हीं नहीं सकता।

इसी प्रकार का निर्देश योग-दर्शन के उपदेष्टा भगवान् पतंजलिदेव ने भी अपने योग-दर्शन में स्पष्ट रूप से कर दिया है। जहाँ पर उन्होंने उपाय प्रत्यय एवं भवप्रत्यय के योगियों का वर्णन किया है, वहाँ पर **'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्'** यह सूत्र कहकर उपाय प्रत्यय वाले योगियों का अधिकार बतलाया और वहाँ पर यह भी स्पष्ट रूपेण कह दिया कि-

तत्राधि मात्रो पायानाम् एवं
तीव्र संवेगा नामासन्नः समाधि
लाभः समाधि फल च भवतीति।

अर्थात् जो साधक उत्तमाधिकारी हो, अधिमात्रतम हो उसको अतिशीघ्र ही समाधि सिद्धि की प्राप्ति होती है और समाधि सिद्धि को प्राप्त हो जाया करता है।

भगवान् पतंजलि देव स्पष्ट निर्देश करते हैं:-

मृदु मध्याधि मात्रत्वा त्ततोऽपि विशेषः।।

इस सूत्र पर भगवान व्यास का भाष्य इस इस प्रकार है:-

मदु तीव्रो मध्य तीव्रोऽधि मात्र तीव्र इति ततोऽपि विशेषः तद्विशेषान्मृदु तीव्र संवेगस्या सन्न ततोः, मध्य तीव्र संवेगस्य सन्नतरः, तस्मादधि मात्र तीव्र संवेग स्याधिमात्रो पायस्याप्या सन्न तमः समाधिलाभः समाधि फलञ्चेति।।

अर्थात् मृदु साधक और तीव्र संवेग, मध्य साधक, तीव्र संवेग इस प्रकार से तीन भेद हो गये। इसी प्रकार से मध्य साधक और तीव्र संवेग, अधिमात्र साधक और तीव्र संवेग, अधिमात्रतम साधक और तीव्र संवेग, इस प्रकार से साधकों के यह तीन तीन प्रकार के भेद होते चले गये जो साधक जिस संवेग का है उसी प्रकार का उपाय उस को मिलना चाहिये तब वह अपने विषय में शीघ्र सिद्धि को प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार उक्त प्रकरण में भगवान् शिव ने अधिमात्रम साधक को सर्व योगाधिकारी, अधिमात्र साधक को हठयोगाधिकारी, मध्य साधक को लयाधिकारी और मृदु साधक को मंत्र योगाधिकारी बतलाया। ये लोग अपने अपने अधिकार के अनुसार ही प्रगति कर सकते हैं।

एक अत्यन्त वीर्यवान्, बलयुक्त एवं उत्साही युवक से यदि कोई व्यक्ति यह कह दे कि- जाओ, तुम दौड़कर दस मील से अमुक वस्तु ले आओ' तो वह ले आयेगा। परन्तु यही बात एक मन्दाधिकारी, हीन वीर्य, महा व्याधि ग्रस्त व्यक्ति से कह दीजिये, तो वह एक फर्लांग भी दौड़ नहीं सकेगा, प्रत्युत थोड़ी दूर दौड़ने की चेष्टा करने पर भी उसका प्राणान्त हो जायेगा।

इसी प्रकार जो साधक अल्प वीर्यं वासना भोगी और व्यधिग्रस्त है, ऐसे व्यक्ति को यदि हम हठ और लय की शिक्षा देंगे तो वे साधनाएँ उसके लिये हानिप्रद सिद्ध होंगी न कि श्रेयस्कारी। इस लिये जो मनुष्य जिस विद्या का जिस प्रकार अधिकारी है, गुरुदेव उसको उसकी हित-बुद्धि से उसी विद्या में प्रवेश कराते हैं। मुझे यह लेख लिखते हुये एक छोटा सा दृष्टान्त स्मरण हो आया, जो यहाँ पर पूर्ण रूपेण घटित होता है।

एक स्थान पर एक महात्मा अपने योग प्रचार का कार्यक्रम निभा रहे थे। उन्होंने व्याख्यान देते हुये अपने भाषण में कहा कि योग विद्या सार्वभौम विद्या है। इसको हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। हिन्दू मुसलमान, यहूदी-पारसी आदि किसी का भी भेद-भाव इसके अन्दर नहीं है। महात्मा सरल चित्त थे। उन्होंने योग विद्या को भू मण्डल के प्राणी मात्र के लिये बतला दिया। उनके कहने का यह अर्थ तो नहीं था कि उस विषय में वे मृदु मध्य अधिमात्रतम आदि भेदों को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे, किन्तु मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार, हर एक प्राणी के मस्तिष्क में न्यारी मतियाँ होती है। महात्मा के व्याख्यान को श्रवण करने के अनन्तर, उनको सरल चित्त समझकर, कुछ उच्छृखल स्वभाव के व्यक्तियों ने योग शिक्षा के लिये कुछ ऐसे व्यक्तियों को तैयार किया जो निम्न श्रेणी के थे। विद्या-हीन एवं वासना-भोगी थे। जिनका परम्परागत कार्य निकृष्टतम था। वे सभी लोग अपनी झाड़ू और टोकरियों को उठाकर महात्मा जी के पास पहुंचे और कहा कि महाराज जी! कल आपका व्याख्यान हमने सुना, और सुनकर बड़े प्रसन्न हुये, क्योंकि उन सब ने महात्मा द्वारा कथित योग विद्या पर प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार विषयक बात कह कर, स्वयं को योगाभ्यास का इच्छुक बताया। महात्मा जी ने उत्तर दिया-

ठीक है हमें बड़ी प्रसन्नता है। तुम लोग इस वट वृक्ष के नीचे बैठ जाओ एवं एकाग्रचित होकर

हरे राम हरे राम,
राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण,
कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।'

'**कलिसंतरणोपनिषद्**' में कहे गये इस महामंत्र का दो घंटे अनवरत जप करो। इस प्रकार करने पर तुम शनैः शनैः उच्चतम योग शिक्षा के अधिकारी बन जाओगे। किन्तु वे लोग वस्तुतः योग शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से तो आये ही नहीं थे। उन लोगों का लक्ष्य तो केवल मात्र इतना ही था कि देखें, हमें महात्मा जी योगोपदेश करेंगे भी या नहीं। जब उन लोगों को इस महामंत्र का उपदेश दिया गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह राम-राम का मंत्र तो हम पहले से ही जानते है और सारा संसार जानता है। हम तो उस योग का अभ्यास करेंगे, जिस योग का अभ्यास उच्च वर्णों में पैदा होने वाले आप के ब्रह्मचारी कर रहे हैं। महात्मा जी उनकी मनोवृत्तियों को पहचान गये और उन्होंने अपने दो-एक हठाभ्यासियों को बुलाकर और बद्ध पद्मासन लगवाकर उनके सामने बैठा दिया। और कह दिया कि भाई ठीक है, जो ये लोग अभ्यास कर रहे हैं वही अभ्यास तुम भी करो। अपने पद-तलों को उठा कर अपनी जंघा पर जमाओ और उस जमे हुये पैर पर अपने दूसरे पैर के पादतल को लाकर जंघाओं पर जमा दो। अपने दोनों हाथों को पीठ के पीछे से घुमाकर बायें हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को, इधर दाहिने हाथ से बाएँ पैर के अँगूठे को पकड़ लो, और मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठे रहो, इससे तुम्हारा यह आसन सिद्ध हो जायेगा, और तुम्हारा ध्यानाभ्यास बनने लगेगा।

जब उन लोगों ने वह आसन करने की चेष्टा की तो सभी निष्फल रहे। और अपने ही मुख से कह उठे कि महाराज जी! यह तो हमारे मतलब की चीज नहीं हैं। जो वस्तु हमारे योग्य है उसी का हमें उपदेश देने की कृपा करें। अंततः वे स्वयं ही इस निर्णय पर आ गये कि उनके लिये यही श्रेष्ठ है कि वे लोग बैठकर कुछ समय तक—

हरे राम हरे राम,
राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण,
कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

इस षोडशाक्षर महामंत्र का जाप किया करें और ऐसा ही कुछ, अन्य सरल व्यक्तियों ने करना आरम्भ किया। थोड़े दिन पश्चात् शनैः शनैः उनके मनों के अन्दर एकाग्रता आयी और वे लोग अभ्यासी बन गये।

यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने अधिकार-भेद की बात बहुत ही उत्तम और प्रमाणिकता के साथ समझायी है। जो व्यक्ति जिस विद्या का अधिकारी है, वह उसमें प्रगति कर सकता है। यदि अपने अधिकृत विषय को छोड़कर वह इधर-उधर भटकेगा तो अवश्य ही अपने लक्ष्य-पथ से पतित हो जायेगा और वहाँ तक नहीं पहुँच सकेगा।

अतः हर व्यक्ति को गुरुदेव की शरण में जाकर, गुरु-उपदेशानुसार अपनी उच्चतम प्रगति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिससे शीघ्रातिशीघ्र परमानन्द एवं शाश्वत शान्ति की प्राप्ति हो।

दीक्षा तत्व

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे इतिहास के प्राचीन धर्मग्रथों में 'दीक्षा' शब्द का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में होता है। 'दीक्षा' शब्द के अन्दर दीयते और क्षीयते दो क्रियाओं का प्रयोग स्पष्ट रूप में आभाषित होता है। यदि हम दीक्षा का अर्थ संस्कृत व्याकरण के माध्यम से ठीक ठीक करें तो '**दीयते ज्ञानम् क्षीयते तदावर्णम् च**'' स्पष्ट रूपेण प्रस्फुटित होता है।

अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा ज्ञान, धर्म, सत्य, शक्ति को प्रदान किया जाय और उनके बीच की रुकावट को खत्म किया जाय उसका नाम शास्त्रीय परिभाषा में दीक्षा कहा गया है। वस्तुत: विचार कर देखा जाये तो '**दीयते और क्षीयते**' का प्रयोग मनुष्य की हर हरकत के द्वारा प्रतिक्षण होता रहता है। मनुष्य अपनी वाणी के द्वारा सत्य का उपदेश करता है और सत्योपदेश के विपरीत विरोधी तत्वों को नष्ट करता है। यहाँ पर ठीक दीयते और क्षीयते दोनों क्रियाओं का प्रयोग सहज में ही दिखलाई दे रहा है। अपनी वाक् शक्ति के द्वारा मनुष्य जैसे सत्य ज्ञान प्रदान करता है।

और उसके विपरीत भावों का क्षय करता है। इसी प्रकार वह अपनी आँखों से सत्य–सुगम मार्ग का दर्शन करता है और कंटकाकीर्ण अहितकर कुमार्ग का निवारण करता है। यहाँ पर नेत्र दृष्टि के द्वारा भी यही उपरोक्त दोनों क्रियायें स्पष्टरूपेण आभाषित होती हैं। कहीं किसी स्थान पर एक बच्चा अपनी मां की स्मृति में रुदन कर रहा है और उसकी मां जल्दी से आकर उसको उठाकर कंठ से लगा लेती है। मां के प्यार के स्पर्श को पाकर बच्चा दीयते और क्षीयते दोनों क्रियाओं का अपने मन में अनुभव करता है। बच्चे को माँ के प्यार के स्पर्श ने एक विशेष आनन्द को दिया और रोदन का कष्ट जो उस बालक के मन में हो रहा था तत्काल क्षय भी हो गया। उसका समूलोन्मूलन भी तत्काल ही हो गया। इसी प्रकार मनुष्य का मन भी हर समय इन्हीं दोनों क्रियाओं के अनुसार ही क्रियान्वित रहा करता है। जहाँ पर मनुष्य का मन किसी के प्रति शुभ विचार को धारण करता है वहां एक प्रकार से शुभ भावों का प्रदान ही है। और ठीक इसके विपरीत उन शुभ भावों के आते ही दुर्भावों का निष्कासन भी साथ ही हो जाना बिल्कुल अनिवार्य है। वैसे तो यह क्रिया हर समय प्राणीमात्र में होती रहती है। इसी के आधार पर हमारे शास्त्रों में एक निर्णयात्मक सिद्धान्त का आदेश दिया कि '**मातृवान, पितृवान आचार्यवान पुरुषोवेद**' अर्थात् माँ वाला व्यक्ति परमात्मा को पा जाता है। सत्य सिद्धान्त यह रहा कि मातृवान् पुरुषोवेद। मां जन्म देने के बाद अपने बच्चे के मन को इतना अधिक खुश कर देती है कि उसके मन से मिथ्या भ्रमों का नाश पहले से ही हुआ चला आता है। माता अपनी वाणी से बच्चे को कहती है 'शुद्धो सी बुद्धो सी, निर्जनोसी, संसार माया परिवर्जितोसी' अर्थात् हे– बेटा तू शुद्ध–बुद्ध निरंजन है और संसार की माया कोच से बिल्कुल बचा हुआ है। माता का यह उपदेश उन बच्चों को अमरत्व का दाता बन जाता है। उसके अन्दर नीच कुत्सित भावों का लवलेश भी नहीं रहता।

माता के उपदेश अहं ब्रह्म अस्मि के भावों को पूर्ण रूपेण पुष्ट कर डाला इस शिक्षा के बाद '**पितृवान पुरुषा वेद**' पिता वाला परमात्मा को जानता है माता की शिक्षा के बाद पिता अपने बच्चे के नित्य नैमित्यिक कर्मों का उपदेश करता है। और माता के दिये उपदेश को क्रियात्मक रूप में परिणित करा देता है, पिता के उपदेशों के द्वारा और उसके कराये हुये क्रियात्मक जीवन के द्वारा ब्रह्मचारी आचार्य चरणों की सेवा के लायक बन गया। और उसने आचार्यवान पुरुषोवेद क्रिया को पूर्णरूपेण प्रकट कर लेने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह एक प्रकार से स्पष्ट रूपेण सत्याधान ही है। कौन मनुष्य कितना शक्तिपात कर सकता है यह कुछ कहा नहीं जा सकता। ''**स्वयं शक्तोर्वानपिसु शक्तिमा धातम् समर्थो भवति।**'' अर्थात् जो स्वयं सामर्थ्यवान है वही दूसरों को शक्ति दे सकता है।

स्वयं तीर्वा: परान तारयति

जो आप तैरना जानता है वही दूसरों को तैरा भी सकता है। जो आप तैरना नहीं जानता और दूसरों को तैराने की चेष्टा करता है उसके लिये वहीं सिद्धान्त लागू रहेगा।''

''यत्सव्यं निमग्न: परानअपि निमज्जयति''

जो स्वयं ही डूब रहा है वह दूसरों को क्या बचायेगा। प्रत्युत एक दो को साथ लेकर डूब ही जायेगा। इसलिये शक्तिपात करने का अधिकार दूसरे शब्दों में दीक्षा देने का अधिकार केवल मात्र सामर्थ्यवान गुरुदेव को ही है। तंत्र शास्त्रों में इस प्रकार का उपदेश भी है कि शिष्य के :-

मंत्र चैतन्य विज्ञाता गुररुक्त: स्वयं भुवा।

अर्थात् जो मंत्र चैतन्य को जानने वाला, मंत्र के अन्दर चैतनत्व प्रदान करने वाला गुरु ही गुरु कहा गया है। इस प्रकार के गुरु का स्पष्टीकरण करते हुये दूसरे स्थान पर और भी स्पष्ट कह दिया–

गुरोयस्यैव संस्वशक्ति परानन्दोऽमि जायते।
गुरुं तमेव घृणयात् नापरं मतिमान्नर:।।

अर्थात् जिसके स्पर्श मात्र से अपने शरीर में परमानन्द की अनुभूति हो। साधक को चाहिये उसको ही अपना गुरु बनाये अन्य सर्व साधारण को नहीं। गुरु की वाणी के अन्दर ताकत होती है। गुरु के शब्दों के अन्दर ताकत होती है। गुरु के स्पर्श के अन्दर ताकत होती है। गुरु के मन की ताकत शिष्यों का हर समय भला किया करती है जिस गुरु के अन्दर से इस प्रकार की शक्ति का बराबर निष्कासन होता रहता है वह गुरु स्वयं शिव रूप है। योग वासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ जी ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है:-

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्द्दात् कृपया शिष्य देहके।
जनयेद्य: समावेशं शांभवं सहि द्वाशिक:।।

अर्थात् जिसके दर्शन, स्पर्श एवं शब्द से शिष्य के शरीर में शक्ति संचारित हो वह गुरु स्वयं शिव का स्वरूप है और शक्तिपात का अधिकारी है। गुरुदेव अपने शिष्यों को योग दीक्षा देते हुए स्पर्श दृष्टि, मनन एवं वाणी के द्वारा दीक्षा देकर शिष्यों के संताप को दूर किया करते हैं। आज कलि–काल के समय में शिष्य संताप हरने वाले गुरु की प्राप्ति बड़ी कठिनता से हो पाती है। इस प्रकार के गुरुओं की कमी नहीं वही जो अपने स्वार्थों की दृष्टिमय रखकर शिष्य संताप हर बने रहते हैं। किन्तु अपने शिष्यों के कल्याण का उनका कोई ख्याल नहीं रहता। गुरुदेव की दी हुई दीक्षाओं का प्रकाश तंत्र शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से वर्णित है।

स्पर्श-दीक्षा

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनै:।
स्पर्श दीक्षोपदेशश्च तादृश: कथित: प्रिये।।

अर्थात् जैसे पक्षी अपने पंखों के द्वारा स्पर्श करके अपने अण्डों का संवर्धन किया करता है और समय आने पर उनको प्रकट कर देता है। इसी प्रकार से गुरु देव स्पर्श के द्वारा अपने शिष्यों का सम्वर्द्धन करते हैं। और उत्तरोत्तर वह स्पर्श दीक्षा से प्राप्त हुई शक्ति उनको यथार्थ शुद्ध स्थिति में लाकर रखती है।

दृग दीक्षा

स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणे नैवपोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृश: परमेश्वरि।

अर्थात् जिस प्रकार से मत्स्य अपनी दृष्टि के द्वारा अपने बच्चों का पोषण किया करती है इसी प्रकार से गुरुदेव अपने दृष्टि के द्वारा अपने शिष्यों का पोषण किया करते हैं।

मानस दीक्षा

यथा कूर्म: स्वतनयान्ध्यात्रेण पोषयेत्।
वेध दीक्षोपदेशश्च मानुषस्य तथा विध:।।

अर्थात् जिस प्रकार कछुआ चिन्तन मात्र से अपने बच्चों का रक्षण करता है इसी प्रकार से गुरुदेव अपने मानस शुभ संकल्प के द्वारा अपने शिष्यों का पोषण किया करते हैं पुराणों में बहुत प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन मिलता है।

शाम्भवी दीक्षा के विषय में तो बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है:-

गुरोरलोक मात्रेण स्पर्शात्सं भाषणादपि।
सद्य: संज्ञा भवेज्जन्तो दीक्षा सा शाम्भवी मता।

अर्थात् जिसके देखने मात्र से, स्पर्श मात्र से या वाणी के उच्चारण मात्र से तत्काल शक्ति संचारित हो जाती है वही शाम्भवी दीक्षा कहलाती है। जिसके द्वारा शक्ति पात नहीं होता वस्तुत: वह गुरु शब्द का अधिकारी नहीं। जब तक शिष्य के शरीर में शक्ति-संचार नहीं होता तब तक उस शिष्य की सभी क्रियायें उसके प्रयास मात्र ही हैं। उनका फल केवल मात्र इतना ही होता है जिससे पुण्य वृद्धि होती रहे और मनुष्य शक्तिपात का अधिकारी बन जाये। वस्तुत: ता:-

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतित तत्र सिद्धिनं जायते।।

अर्थात् जब तक मनुष्य अपनी विशेष प्रकार की साधनायें करता हुआ शक्तिपात का अधिकारी नहीं बनता तब तक उसकी सब साधनायें पुण्य वृद्धि कर हैं। साधना करने के फलस्वरूप चाहे वह व्यक्ति ज्ञान धारण प्रधान क्यों न हो जब तक सिद्धि संगति को प्राप्त नहीं करता और उनका अनुग्रह भाजन नहीं बन जाता तब तक वह संसार-सागर, से पार, नहीं हो सकता। योग शिखोनपषिद् में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है-

देहान्ते ज्ञानिभि:
पुण्यात्पापाश्च फल-माप्यते।
ईदृशं तु भवेत्तत्द्भुक्ता
ज्ञानी पुनर्भवेत्
पश्चात् पुण्येन लभते
सिद्धेन सह सङ्गतिम्।
तत: सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा।।
ततो नश्यति संसारो
नान्यथा शिवभाषितम्।

अर्थात् जो लोग केवल ज्ञान धारणाओं की वाणी से पुष्टि करने वाले हैं उनको भी पुण्य पाप के फल भोगने ही पड़ते हैं। जब तक पुण्य वृद्धि होकर वे लोग सिद्धि संगति के अधिकारी नहीं बन जाते हैं। ज्यों-ज्यों उनका उत्कृष्ट पुण्य बढ़ता रहता है त्यों-त्यों वे लोग सिद्धि संगति के निकट पहुंचते चले जाते हैं। और पुण्य विशेष के फलस्वरूप ज्यों ही उनको सिद्ध संगति मिलती है त्यों ही वे लोग सिद्धानुग्रह को पाकर संसार सागर से तैरने वाले बन जाया करते हैं। सूक्ष्म से इस लेख के अन्दर दीक्षा तत्व का थोड़ा सा विवेचन किया वस्तुत: तो जब तक मनुष्य किसी सामर्थ्यवान गुरु से दीक्षा प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह मोक्ष का अधिकारी बन ही नहीं पाता।

प्रावाहिक दीक्षायें

प्रवाहान्तरगत होने वाली दीक्षाओं को साम्प्रदायिक दीक्षायें भी कहा जा सकता है। मुन्डे मुन्डे मतिर्भिन्न: के नियमानुसार महापुरुष लोग अपनी अपनी विचार धाराओं को संसार के सामने रखते हैं। किन्तु शक्ति प्रवाह का उनका मूल स्त्रोत एक ही स्थान से चलता है। जब मनुष्य उनके प्रभाव से प्रभावित होकर के उस मार्ग का अनुगामी बनता है तो उनके आदि सिद्ध उस आचार्य की शक्ति को प्राप्त करती है जिसको पाकर के भी कोई-कोई सुकृत लोग अपने परम लक्ष्य की और बढ़ जाते हैं। अत: परम करुणार्णव श्रीगुरुदेव के प्यारे चरण कमलों को प्राप्त करके उस नित्य चेतन से अपना पावन सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना चाहिये। ताकि वो प्रयत्न करता हुआ परम श्रेय का भाजन हो जाय और स्वयं तीर्ण: परान्तारयति का, अधिकारी बन सकें।

योग और सिद्धियाँ

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

आजकल भारत वर्ष में अपनी मति के अनुसार प्रचार करने वाले व्यक्तियों ने 'सिद्धि' शब्द का बहुत दुरुपयोग किया है। योग-साधन के बिना सिद्धियाँ प्राप्त करना उतना ही असम्भव है, जितना कि बिना बेल के आकाश में पुष्प का लगना। किन्तु फिर भी बहुत से कथा प्रसंगों में हमने लोगों को सिद्धियों की निन्दा करते हुये सुना। सिद्धियों को परमार्थ में उपसर्ग भूत मानते हैं, और वे लोग बड़े उत्साह के साथ अपने विषय की पूर्णता को दिखलाने के लिये योग-दर्शन के विभूतिपाद में:-

ते समाधावुपसर्गाव्युत्थानेसिद्धय:।।

इस सूत्र को प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया करते हैं। भगवान व्यासदेव जी इस सूत्र के भाष्य में लोगों के उन भावों की थोड़ी सी पुष्टि करते हैं। व्यासदेव जी इस सूत्र का भाष्य लिखते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं:-

ते प्रातिभादय: समाहित चित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गा: तद्दर्शनप्र यनीकत्वाद्, व्युत्थित चित्त-स्योत्पद्यमाना: सिद्धय:।

अर्थात् वे प्रतिभादय श्रावन देवना-दर्शन आदि सिद्धियाँ योगी के समाहित चित्त में उपसर्ग रूप रहती हैं अर्थात् विघ्न पैदा करने वाली होती हैं और वे ही सब सिद्धियाँ उत्थानावस्था में लोक और परलोक के कार्यों को सिद्ध करने वाली सिद्धियाँ हुआ करती हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है कि जो व्यक्ति समाहित चित्त है उसके रास्ते में अणिमादिक ऐश्वर्य अवश्य ही रुकावट पैदा करने वाला है। उसका कारण केवल मात्र इतना ही है कि मनुष्य का मन जन्म-जन्मान्तरों से मान-सम्मान का आदी बना हुआ चला आता है।

जब तक यह मन समाधि के द्वारा निर्भूत मन नहीं हो जाता तब तक जन्म-जन्मान्तरों का अभ्यासी होने के कारण अवश्य ही मान-सम्मान के झमेले में पड़ सकता है और अपने मोक्ष प्राप्ति रूप यथार्थ विषय को भूल सकता है। इसलिये ऐसे उत्कृष्ट मुमुक्षु के मार्ग में यह सब सिद्धियाँ उपसर्गभूत हैं ही। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि हम अपने मन में यह विचार करलें कि सिद्धियों का कोई अस्तित्व है ही नहीं। यह विचार करने वाले की अल्पज्ञता है। सिद्धि मनुष्य का अपना बल है। सिद्धि के बिना मनुष्य मुर्दे के सदृश और चेतना रहित होता है। बड़े उत्कृष्ट मन भी उसको रिझा नहीं सकते जहाँ सिद्धियों को उपसर्ग भूत बताया है वहाँ हमारे शास्त्रों में यह भी तो कहा है कि:-

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:'

अर्थात् बल-हीन पुरुष को कभी भी आत्म-पद की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये सिद्धि को उपसर्ग भूत मान करके उसकी उपेक्षा करना यह लक्ष्य-च्युत व्यक्तियों का कार्य है। मनुष्य वह है जो सारी शक्तियों को पाकर भी उनका व्यर्थ उपयोग नहीं करता। 'योग-दर्शन' के कैवल्य पाद के आरम्भ में सिद्धियों के पाँच विशेष प्रकार माने हैं। एक सूत्र में उनका स्पष्टीकरण है।

जन्मौषधि मन्त्र तप:

समाधिजा: सिद्धय:

अर्थात् सिद्धियाँ पाँच प्रकार की हैं।

1. जन्मजा सिद्धियाँ :–

दूसरे शब्दों में इसको सहजा सिद्धि भी कहा जा सकता है। जन्मजा सिद्धि जो प्राणी को जन्म के साथ ही सहज रूप से प्राप्त हो जाये। जिस प्रकार से पक्षियों को खेचरत्व जन्म जात सिद्ध है। यदि कोई मनुष्य खेचरत्व प्राप्त करना चाहे तो वह खेचरत्व उसको समाधिजा सिद्धि के रूप में प्राप्त होगा। मनुष्य को खेचरत्व प्राप्त करने के लिय संयम करना पड़ेगा और संयम के फलस्वरूप उसको आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होगी। जैसे कि भगवान् पतंजलि देव ने विभूति-पाद के 42 वें सूत्र में बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है:-

'कायाकाशयो: संबन्धसंयमाल्लघु-तूल समा-पत्तेश्चकाशगमनम्।'

अर्थात् काया और आकाश के सम्बन्ध में यदि योगी संयम करेगा तो उसको समाधि के बल से रुई के सदृश हल्कापन प्राप्त हो जायेगा और वह योगी आकाश में उड़ने लगेगा। मनुष्य के लिये यह सिद्धि समाधिजा सिद्धि है। किन्तु चिड़िया, कबूतर, कौआ, कोयल, चील, गिद्ध आदि पक्षियों के लिये यह आकाश गमन की सिद्धि सहजा सिद्धि है और उनको यह जन्म ग्रहण करने मात्र से ही प्राप्त हो जाया करती है। उनके रास्ते में यह सिद्धि किसी भी प्रकार से अन्तराय नहीं है। वे लोग स्वाभाविक ही आकाश गमन करते हैं। उनके मन में कोई अभिलाषा नहीं होती कि वे आकाश गमन की इस सिद्धि का प्रदर्शन विशेष करके लोक में ख्याति प्राप्त करेंगे। केवल मात्र खेचरत्व प्राप्त होना यह उनका स्वाभाविक कर्म ही है।

इसी को जन्मजा सिद्धि कहते हैं।

2. औषधिजा सिद्धि:–

जन्मजा सिद्धि सहजा होती है। इसके अतिरिक्त कुछ सिद्धियाँ इस प्रकार की हुआ करती हैं जो मनुष्य को औषधियों के बल से प्राप्त हुआ करती हैं। औषधियों के प्रत्यक्ष चमत्कार को आज इस घोर कलि-काल के समय में भी सहज रूप से देखने सुनने में आते हैं। रोगी चिल्ला रहा हो, रहा हो, बुरी तरह से तड़प रहा हो डॉक्टर आता है। रोगी को एक गोली खिलाता है रोने वाला रोगी थोड़ी देर में हँसने लगता है और उसके उस कष्ट का कहीं भी पता नहीं चलता कि वह कहाँ गया। यह कष्ट को हरने वाली शक्ति कुछ औषधियों के अन्दर विद्यमान है। इस प्रकार के लौकिक प्रमाण हमें अधिक मात्रा में देखने में आते हैं। इसके अतिरिक्त वनीय दिव्य औषधियाँ बहुत अधिक रूप में आत्मविकास करने वाली हुआ करती हैं।

जंगल में रहने वाले तपस्वी साधु प्राय: इन्हीं दिव्य औषधियों को तलाश में रहा करते है। उदाहरण स्वरूप:-

(क) चान्द्रायण बूटी :-

यह वनौषधि चन्द्रमा की कला के साथ दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही रहती है। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा की एक-एक कला बढ़ती है त्यों-त्यों इसमें पत्ते निकलते रहते हैं और ज्यों-ज्यों कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कलायें क्षीण होती हैं त्यों-त्यों इसके पत्ते भी क्षीण होते रहते हैं। इस औषधि में बड़ी दिव्य गन्ध है। कोई भाग्यवान् पुण्यात्मा जीव यदि इसको कहीं से प्राप्त कर लें तो उसका शरीर दिव्य देह के रूप में परिवर्तित हो जाया करता है। इससे दिव्य गुणों का विकास स्वाभाविक होने लगता है। दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि की ताकतें अनायास ही उसे प्राप्त होने लगती है और वह अपने आपको चिन्मय स्वरूप में विलीन देखने लगता है। जो साधु इस दिव्य औषधि का सेवन करता है। उसके शरीर में दिव्य गुणों का प्रकाश हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है।

(ख) विद्युल्लता:–

विद्युल्लता नाम की एक दिव्य औषधि है। इस बूटी को तलाश करने वाला व्यक्ति जंगल में घूमता-फिरता है। किन्तु उसको प्राप्त नहीं होती। विद्युल्लता की एक ही पहचान है कि वह रात में बिजली के सदृश चमका करती है किन्तु प्रभात होने पर वह एक साधारण जंगली औषधि के समान रह जाया करती है। जो व्यक्ति इसको ध्यान व पहचान के साथ प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यदि उसका पुण्य-प्रारब्ध है, तो रात्रि के समय में कहीं चमकती हुई दिखलाई दे जाये तो उसके प्रकाश को देखकर उसके पास पहुँच जाये और उखाड़ ले। इस दिव्य औषधि के सेवन करने से बहुत ही सफलता को देने वाली अद्‌भुत मस्तिष्क शक्ति केन्द्रित रूप में उसके अन्दर पैदा हो जाती है। दक्षिण के रहने वाले मेरे छोटे गुरु-भाई योगी श्री नृसिंहमूर्ति जी एक आँखों देखी घटना सुनाया करते हैं वे बताते हैं कि उनके दक्षिण प्रान्त में एक पंडित बड़े विद्वान थे। उन्होंने अपने पुत्रों को पढ़ा-लिखाकर विद्वान् बनाया किन्तु प्रारब्ध वश युवावस्था प्राप्त होते ही वे मर गये। इससे पंडित के मन में बड़ा भारी दु:ख था कि युवा अवस्था प्राप्त होते ही उनके विद्वान लड़के मर जाते हैं। लौकिक रीति-रिवाजों में पड़ कर उन्होंने अपने छोटे बच्चे को मूर्ख रख दिया। भावना थी कि विद्वान होकर लड़के मर जाते हैं। सम्भव है यह मूर्ख रहकर जीवित रह जाये। किन्तु होनहार कुछ और ही प्रकार की थी। पंडित के घर में कोई महात्मा आकर ठहरे। उन महात्मा को पंडित के लड़के को देखकर बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने उस मूर्ख लड़के को विद्युल्लता का सेवन कराया और कह दिया

कि अब तेरे पिता जिस समय विद्यार्थियों को पढ़ाने लग जाया करें उस समय तू उनके पास जाकर बैठ जाया करना और पाठ सुनते रहना। महात्मा के कहने पर उसने उसी प्रकार का आचरण किया, परिणाम स्वरूप वह लड़का अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने वाले पाठ को सुनकर थोड़े ही समय के अन्दर पूर्ण विद्वान हो गया। जिस समय पंडित जी को यह पता चला कि मेरा लड़का विद्वान है तो उनको भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह लड़का इतना जल्दी विद्वान कैसे बन गया! जब उनको कारण का ज्ञान हुआ कि इसने किसी महात्मा से विद्युल्लता का सेवन किया है तो पंडितजी को विद्युल्लता की दिव्य शक्ति पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। इस प्रकार की सिद्धियाँ औषधिजा सिद्धियाँ कहलाती हैं।

3. मन्त्रजा सिद्धियाँ:-

हमारे शास्त्रों में मंत्र शक्ति का बहुत बड़ा उल्लेख मिलता है। मंत्र का शब्दार्थ मनन से ही त्राण करने वाला है इसीलिए मंत्र कहलाता है। बहुत से साधु-संन्यासी लोग स्वाध्याय को बढ़ाने के लिये मंत्रों का अनवरत जप किया करते हैं, और मंत्र का जप करने से शनै:-शनै: उनके शरीर में सिद्धियों का निवास होता जाता है। योग दर्शन बतलाता है-

'स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोग:'

मंत्र का जप करना या गीता-रामायण आदि का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति जिस मंत्र का जितना अधिक-से-अधिक स्वाध्याय करते हैं उतनी ही उनको मंत्र शक्ति आरम्भ हो जाया करती है और शनै: शनै: अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर इष्टदेव का सम्प्रयोग भी होने लगता है। यही सब शक्तियाँ मन्त्रजा शक्तियाँ कहलाती हैं। जो हर व्यक्ति को प्रयत्न करने पर उपलब्ध हो ही सकती हैं।

द्वन्द्वसहनं तप:-

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि सहन करना तप कहलाता है। योगी के लिये तप आवश्यक कर्त्तव्यों में से एक है। हमारे शास्त्र कहते हैं:-

'तपसाचीयते ब्रह्म'

अर्थात् तप के द्वारा ब्रह्मा की पहचान की जाती है। मनुष्य ज्यों-ज्यों अपनी तपस्या को बढ़ाता है त्यों-त्यों उसके इन्द्रिय-मल क्षीण होने लगते हैं और योगियो के समाज में प्राणायाम से बढ़कर किसी दूसरी तपश्चर्या का कोई विशेष महत्व नहीं है। प्राणायाम ही सबसे ऊँचा और बड़ा तप माना गया है।

मनुस्मृति में मनुजी महाराज ने अपने मुखारबिन्द से कहा है:-

दैह्यन्तेहि ध्यायमानानां धातुनां यथा मला:
तथेद्रियाणां दैह्यन्ते मला: प्राणस्य निग्रहात्।

जिस प्रकार सोना-चाँदी और धातुओं को पकाने से उनके मल जल जाया करते हैं इसी प्रकार से प्राणायाम के करने से इन्द्रियों के मल जल जाया करते हैं। प्राणायाम ही योगियों का महान जप है। इन्द्रियों के मल जल जाने के बाद दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि सिद्धियाँ योगियों को सहज में ही प्राप्त हो जाया करती हैं। इसी बात का अनुमोदन करते हुये योग-दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव तप के फल का निर्देशन करते हैं:-

'कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपस:।।''

अर्थात् तप के फलस्वरूप योगी को कायिक और इन्द्रिय सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। कायिक सिद्धि का अर्थ है शरीर का वज्रकाय आदि के रूप में परिवर्तित होना। इन्द्रिय सिद्धियों का अर्थ दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि योगी को स्वाभाविक होने लगता है। ये सब तप से होने वाली सिद्धियों का परिणाम है। तपस्वी मनुष्य का अन्त:करण बिल्कुल निर्मल हो जाता है। अत: उसके संकल्प में शक्ति का वास रहा करता है। तप परायण व्यक्ति जो-जो मन में सोचता है उसकी सत्य-संकल्पता से सब कुछ बन जाता है सत्य-संकल्पता तप से साध्य है इन्हीं सिद्धियों का नाम तपोजा सिद्धियाँ हैं।

4. समाधिजा सिद्धियाँ:-

समाधिजा सिद्धियों का अर्थ है जो सिद्धियाँ हमें संयम के बल से प्राप्त होती हैं। पहले लेखों में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों अष्टाङ्ग-योग में इन तीन अगों का विशद वर्णन भली प्रकार से किया जा चुका है। मनुष्य अपने अभ्यास बल से जब **'त्रैयमेकत्र संयम:'** वाली सिद्धि को उपलब्ध करता है तब वह जहां-जहां भी संयम करता है वहां-वहां उसको सिद्धियां उपलब्ध होने लगती हैं। योगी अपने संयम को परिपक्वता में परिवर्तित करले तो उसके बाद उसके लिये

सिद्धियों का द्वार खुल जाता है। वह 'कर्तु-मकर्तुमन्यथा कर्तुम' की ताकत वाला बन जाता है। संसार में जो भी व्यक्ति दीप्तिमान एवं शक्तिमान दिखलाई देता है वह सभी का पूज्य बन जाता है। क्योंकि उसके अन्दर शक्ति है। शक्तिहीन मनुष्य की कोई गणना नहीं है। शक्तिवाला सब जगह मान व पूजा का अधिकारी बनता है। जिन देवताओं की हम आराधना करते हैं, वे सब हमारे पूज्य इसलिये हैं क्योंकि वे लोग शक्ति के केन्द्र हैं उन्होंने अपनी शक्ति को जमा करके अपने अधिकार में रख लिया है। इसलिये मनुष्य को सब प्रकार से अपने आपको सशक्त बनाना चाहिये उसी से वह परम श्रेय का भागी बन सकता है।

इस सूत्र में कहीं गई पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन इस छोटे से लेख में दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

इन के अतिरिक्त जो मनुष्य सिद्धि-भाजन होना चाहता है वह अपने आपको साधना के मार्ग पर न्यौछावर कर दे। शास्त्र का सिद्धान्त है:-

देह वा पाते यं कार्य वा साधे यं

अर्थात् साधक अपने मन में कटिबद्ध होकर यह निश्चय करें कि या तो मैं कटिबद्धता के साथ लगकर अपने लक्ष्य को पूर्ण रूपेण पा जाऊँगा और यदि ऐसा न कर सका तो अपने शरीर का परित्याग कर दूँगा, जो मन में इस प्रकार की धारणा करके दृढ़ निश्चय के साथ लग जाते हैं वे अवश्य ही सिद्धि-भाजन हो जाया करते हैं।

अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रगट चन्दन ते होई।।

जो अतिशय रगड़ करता है। वह चन्दन में से अग्नि प्रकट कर लेता है।

'करत-करत अभ्यास के,
जड़मति होत सुजान।'

इसलिये हर साधक को चाहिये कि वह अपनी नियमानुवर्तिता का पालन करता हुआ, अपने आपको सशक्त बनाये। संसार वाले यह देख लें कि यह वही अमुक व्यक्ति हैं जिसने भारी प्रयत्न के बाद अपना इतना बड़ा उत्थान किया है- ऐसी है तप की महिमा:-

'तपसा ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमुपाध्नत्।'

अर्थात् तप और ब्रह्मचर्य के द्वारा देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया है।

समाधि की सिद्धियाँ

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैं अपने पिछले लेखों में कई बार बतला चुका हूँ कि योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होती हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने योग के जिन आठ अङ्गों का वर्णन किया वे इस प्रकार से हैं:–

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अङ्गों मे से यदि एक भी विहीन हो जाता है तो योग का पूरा शरीर नहीं बनता वरन् वह अङ्गहीन कहलाता है। बहुत से लोगों के मन का यह सिद्धान्त रहता है कि इस अष्टाङ्ग योग को सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं। सोपान–क्रम का अर्थ यह है जिस प्रकार मनुष्य सीढ़ी के एक डण्डे पर पैर रखकर उसके बाद उसके दूसरे डंडे पर पैर रखता है और उसके बाद तीसरे और चौथे पर। इस प्रकार क्रमश: पैर रखते रखते वह मनुष्य अपने चरम लक्ष्य भूत–भवन की छत पर जा पहुँचता है। इसी प्रकार कोई–कोई व्यक्ति अष्टाङ्ग योग का भी सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं। वे लोग यह कहते हुए देखे गये हैं। क्योंकि जो पहले यम, नियमों का पालन नहीं करते और उसके बाद आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का पालन नहीं करते वे लोग पहले से ही आठवीं सीढ़ी समाधि पर कैसे आरूढ़ हो जायेंगे। मेरे विचार में अष्टाङ्ग योग को सोपान क्रम में सन्निहित करना विद्वान एवं बुद्धिमान मनुष्यों का कार्य नहीं है। हमारे शरीर में हाथ, पैर, मुख, नासिका, कान और आँखें आदि भिन्न–भिन्न अङ्ग और प्रत्यअङ्ग हैं इनका हम सोपान क्रम से पालन करने का विचार करेंगे तो पहले हमें अपने पैरों की ही पालना करनी चाहिए। न कि मुख, कान, नासिका आदि की। क्योंकि मुख, कान, नासिका आदि सोपान क्रम के हिसाब से पैरों के पीछे पड़ते हैं, किन्तु यह बात सैद्धांन्तिक तो नहीं है प्रत्युत बिल्कुल गलत सिद्धान्त की बात है। जिस प्रकार से मनुष्य अपने मुख के द्वारा अन्न ग्रहण करता है और वह अन्न पक्वाशय में जाकर पक जाता है। जिसमें रस, रक्त आदि बन जाया करता है। वह अन्न पच करके एवं रस आदि बन करके सारे शरीर के अंगों और उपाङ्गों में व्यापक हो जाया करता है। उस रस के शरीर में व्याप्त हो जाने के बाद सारे शरीर को ही साङ्ग शरीर कहते हैं, इसी प्रकार से योग के अङ्गीभूत यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सभी अङ्गों के द्वारा योग शब्द की अभिव्यक्ति होती है और सभी अङ्गों का एक साथ पालन करना चाहिये। जो लोग योगाङ्गों को सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं वह भारी भूल पर हैं। इसलिए योग साधना के जिज्ञासुओं को सभी अङ्ग–प्रत्यंग का एक साथ पालन करना चाहिए तभी अष्टाङ्ग योग की पूरी पूरी साधना बन सकेगी। यह मैं अपने पहले लेखों में भली प्रकार से बतला चुका हूँ कि योग के इन आठ अङ्गों में पाँच बहिरङ्ग अङ्ग और तीन अंतरङ्ग अङ्ग माने जाते हैं। योग के पाँच अङ्गों की साधना बहिर्मुखी वृत्ति रखते हुए भी साधक कर सकता है। किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन अन्तरङ्गों का पालन साधक अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ही भली प्रकार कर सकता है इसलिए योग की वर्णाक्षरी धारणा से ही प्रारम्भ होती है। इससे पहले अङ्क में हम भगवान् पतंजलि देव के योग दर्शन के कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र का वर्णन कर चुके हैं और उसमें विभिन्न प्रकार की कुछ सिद्धियों का वर्णन कर चुके हैं। वह सूत्र इस प्रकार हैं:–

जन्मौषधिमन्त्रतप:
समाधिज्य: सिद्धय:।

इस सूत्र में जन्म से होने वाली सिद्धियों औषधियों से होने वाली सिद्धियों मन्त्र, तप और समाधि से होने वाली सिद्धियों का वर्णन है।

मनुष्य सिद्धियों को अनेक प्रकार से प्राप्त कर सकता है। किन्तु योग की परिभाषा में महत्त्व समाधिजा सिद्धियों का ही है। समाधिजा सिद्धियाँ मन की सिद्धियाँ हैं जो मनुष्य संसार में मन की शक्ति को बढ़ाना चाहता है उसको चाहिए योग के तीन अंतरङ्ग अङ्गों का दृढ़ता के साथ पालन करना आरम्भ करे तभी वह मनुष्य समाधि के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। उन तीनों अङ्गों में सबसे पहले अंग का नाम धारणा है।

धारणा की परिभाषा बतलाते हुए भगवान् पतंजलि देव जी ने अपने योग-दर्शन के विभूति पाद के पहले सूत्र में धारणा की परिभाषा स्पष्टता के साथ बतला दी। सूत्र इस प्रकार है:-

देशबन्धचित्तस्य धारणा।।

अर्थ- किसी एक लक्ष्य स्थान में अपने चित्त को एकाग्र करना धारणा की प्रमुख साधना है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज ने धारणा के अर्थ का सही स्पष्ट अर्थ करते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं:-

इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषय
चित्सिस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।
नाभिचक्र, हृदय पुण्डरीके, मूर्हिन
ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे जिह्वऽग्र इत्ये-
वमादिषु देशेषु, वाह्ये वा विषये 'चित्तस्य
वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।।

नाभि चक्र हृदय कमल, मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र आदि-आदि स्थानों में या किसी भी आध्यात्मिक विषय में चित्त का वृत्तीमाश्रेण संस्थान धारणा कहलाती है। मनुष्य अपने मन को तेजस बना करके विविध साधनाओं के द्वारा चित्त के राजस, तामस भावों को नष्ट करके उपरोक्त किसी विषय में चित्त को वृत्तीबन्ध से एकाग्र करना धारणा कहलाती है। यही धारणा दृढ़ता के साथ अभ्यास की हुई ध्यान के रूप में परिवर्तित हो जाया करती है। हमारे शास्त्रों में इस प्रकार का लेख है—

प्राणायामेन पवनं, प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्य्या च्चित्तस्थानं शुभाश्रये।।

अर्थात् प्राणायाम के द्वारा वायु पर जय प्राप्त करके और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके फिर उसके बाद शुभ लक्षण चित्त को धारणा से स्थापित करें। धारणा से पहले पवनाभ्यास एवं प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय जय की साधना इसलिए कही गई ताकि मनुष्य का मन चित्त के राजस, तामस भावों को छोड़कर अपने लक्षीभूत धारणा में बिलकुल अवस्थित हो जाये। अभ्यासी मनुष्य को कभी घबराना नहीं चाहिए। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह फल को ईश्वराधीन छोड़ करके अपने कर्त्तव्य पर बिलकुल आरूढ़ रहे। इसी प्रकार की साधना को श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग के रूप से वर्णन किया गया है। भगवान् कृष्णा ने अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं यह आदेश दिया है- कि हे अर्जुन!

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

श्लोक का अर्थ यह है कि हे अर्जुन! कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है फल में तुम्हारा बिल्कुल कोई अधिकार नहीं, कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और यह भी नहीं होना चाहिए कि कर्मफल की अभिलाषा नहीं है, तो मनुष्य निकम्मा बनकर बैठ जाये। इसलिये धारणा का अभ्यास करने वाले व्यक्तियों को मन को उत्साहित करके दृढ़ता से अपने अभ्यास में लगाये रखना चाहिए। उत्साह पूर्वक एवं लगातार किया हुआ अभ्यास बहुत जल्दी ही अपने परिणाम को दिखा दिया करता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य धारणा का अभ्यासी बनेगा त्यों-त्यों उससे ऊँची भूमिका का ज्ञान स्वतः ही उसके सामने प्रगट होने लग जायेगा। ध्यान की परिभाषा योग-दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव इस प्रकार बतलाते हैं-

ध्यान तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम्।।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता।
सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणा परामृष्टो ध्यानम्।।2।।

अर्थात् चित्त का ध्येय विषय में सब प्रकार के विषयों को छोड़ करके तेल धारावत् एकाग्र हो जाना ध्यान कहलाता है। इसी का नाम सदृश्य प्रवाह है। जब साधक अपने चित्त को इसी प्रकार से एकाग्र करता चला जाता है और पूर्व पुण्य प्रभाव से कोई भी किसी प्रकार की अन्तराय पैदा नहीं होती तब यही चित्त अपने ध्येय में तदाकारित होकर अर्थमात्रेण भाषित होने लगता है। जिस समय चित्त ध्येय विषय में अपने आपको ध्येयाकार वाला बना लेता है उसी को हमारे योगाचार्यों ने समाधि कह करके परिभाषित किया है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं:-

समाधि— तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्य मिव समाधिः।।3।।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य-

ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययात्मकेन

स्वरूपेण शून्यमिवयदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधि—

दित्युच्यते।।3।।

अर्थात् यह ध्यान ही ध्येयाकार रूप में परिवर्तित होकर उसी ध्येय रूप से भाषित होने लगता है इसी का नाम समाधि है। और यह समाधि ही सभी अन्तरायों से बचकर संयम के रूप में बदल जाया करती है। इस समाधि का अभ्यास करने वाला योगी समाधिजा सिद्धियों का अधिकारी बन जाया करता है। तब जहाँ-जहाँ यह योगी संयम करता है वहाँ-वहाँ की सिद्धियाँ इसको उपलब्ध होती रहती हैं। योग-दर्शन के विभूति पाद में इन्हीं सिद्धियों का विषदरूप से वर्णन है। संयम की परिभाषा करते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने

त्रयमेकत्र संयम:।।4।।

कहकर संयम की परिभाषा बताते हैं। अभ्यासी का अभ्यास इतना दृढ़ होना चाहिए कि उनको धारणा काल, ध्यान काल और समाधि काल तीनों समय में भी उसके मन को विक्षिप्त करने वाला कोई भी अन्तराय पैदा न हो सके तभी संयम की दृढ़ता समझनी चाहिए जब तक संयम सुदृढ़ नहीं हो जाता तब तक वह समाधिजा सिद्धियों का अधिकारी भी नहीं बन पाता। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। हमारा चित्त परिणामी है और उसमें विभिन्न प्रकार के परिणाम इन्द्रिय विषय संयोग से पल-पल में होते रहते हैं। आँख ने किसी रूप को देखा हमारा परिणामी चित्त आँख का बल पाकर चटपट रूप विषयक बन गया। उसी समय कान ने किसी गम्भीर शब्द को सुना चित्त ने रूप को तत्काल छोड़ दिया और वह चित्त कर्णेन्द्रिय के द्वारा सम्बद्ध होकर के शब्द विषयक बन गया। थोड़ी ही देर बाद पीछे आकर किसी ने शरीर का स्पर्श किया तो परिणामी चित्त चटपट अपने शब्द विषयक को छोड़कर स्पर्श की ओर भाग निकला और वह स्पर्श विषयक बन गया। इसी प्रकार से कहीं गन्ध को ग्रहण करता है। कहीं रस को भोगता हैं। क्षण-क्षण में इन्द्रियों के द्वारा आकर्षित हुआ चित्त विभिन्न परिणामों को प्राप्त होता रहता है इसलिए हमारा यह चित्त सर्वार्थक चित्त है। हमने अपने सर्वार्थक चित्त को एकाग्रता परिणाम की ओर बदलना है और उसका प्रमुख साधन हमारे पास धारणा है।

अनेक अर्थों को ग्रहण करने वाले चित्त को एकार्थक बनाना है और उसकी एकाग्रता परिणाम के अन्दर परिणित करना है। परिणाम स्वरूप योगी के अनवरत अभ्यास करने पर ऐसा होगा ही। भगवान् पतंजलि देव कहते हैं—

सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ

चित्तस्य समाधि परिणाम:।।11।।

अर्थात् सर्वार्थता के क्षय होने पर और एकाग्रता के उदय होने पर चित्त का एकाग्रता रूप समाधि परिणाम हुआ करता है। इस सूत्र पर भगवान व्यासदेवजी चित्त के धर्मों को स्पष्ट करते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं—

सर्वार्थता चित्त धर्म:,

एकाग्रता चित्त धर्म:,

सर्वार्थताया: क्षय:—

तिरोभाव इत्यर्थ:,

एकाग्रताया उदय:-

आविर्भाव इत्यर्थ:,

तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं तदिदं चित्तम-पायोप-जननयो: स्वात्मभूतयोर्धर्म-योरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधि परिणाम:।।11।।

अर्थात् धर्मी चित्त का सर्वार्थता भी धर्म है और एकाग्रता भी धर्म है। जब हम अपने चित्त को सर्वार्थता से छुड़ाकर एकाग्रता के रूप में बदलना चाहते हैं तो उसमें सर्वार्थता का क्षय हो जायेगा और एकाग्रता का उदय हो जायेगा। एकाग्रता के उदय हो जाने पर यह चित्त का समाधी परिणाम हो जायेगा। इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब चित्त धारणा, ध्यान व समाधि तीनों में एक विषयक रहता चला जायेगा तभी यह संयम पदारूढ़ हो सकेगा जिस समय हम सर्वार्थक चित्त को एकाग्रता में परिणित करना चाहते हैं उस समय इसके सर्वार्थता रूप धर्मी चित्त के जो धर्म परिणाम थे उनको बिलकुल छोड़ करके एकाग्रता रूप धर्म परिणाम को स्वीकार किया।

किन्तु इस धर्मी चित्त का यह एकाग्रता रूप धर्म परिणाम धारणा, ध्यान और समाधि तीनों में एक जैसा बना ही रहना चाहिए। यह नहीं होना चाहिए हमने जिस विषय को धारणा काल में लक्षीभूत बनाया है उस विषय में धारणा काल में तो हमारा चित्त एकाग्र होता चला जाये और बाद में ज्योंहि ध्यान का समय आये उसी समय चित्त अन्तरायों से अभिभूत

होकर किसी दूसरे लक्ष में अनुगत हो जाये। प्रत्युत धारणा काल में जिस लक्ष को चित्त के लिए ध्येय बनाया था ध्यान काल में भी उसी में बराबर एकाग्र रहना चाहिए और इसी प्रकार से ज्योंही चित्त समाधि के धर्मों में परिणित हो, उस समय भी चित्त के सामने जो विषय धारणा और ध्यान काल में ध्येय-भूत था। समाधि काल में भी उसी लक्ष्य में ही समाहित होना चाहिए। तभी संयम की परिभाषा को प्राप्त हो सकता है। भगवान् पतंजलिदेव ने त्रयमेकत्र संयम्: कह करके इसी विषय का पूरा-पूरा विवेचन कर दिया है। जिस समय संयम स्थिर पद हो जायेगा तभी साधक संयम पर जय पा सकता है। भगवान् व्यास देव भाष्य करते हुए इस प्रकार लिखते हैं-

तस्य संयमस्य जयात्समाधि प्रज्ञाया भवत्या लोक: यथा यथा संयम: स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।।5।।

अर्थात संयम के जप कर लेने पर समाधि प्रज्ञा का प्रकाश हो जाता है। ज्यों-ज्यों संयम स्थिरता को प्राप्त करता है त्यों-त्यों समाधि प्रज्ञा निर्मलता को प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों समाधि प्रज्ञा निर्मलता को प्राप्त होती जाये और संयम स्थिर पद हो जाये त्यों-त्यों उसका संयम की भूमिकाओं में विनियोग करना चाहिए। भगवान् पतंजलि देव आज्ञा देते हैं:-

तस्य भूमिषुविनियोग:।।6।।

अर्थात् :-

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोग:, न ह्यजिताधर-भूहिरनन्तरभूमिं विलङ्ध्य प्रान्तभूमिषु संयम लभते तद भावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञाऽऽलोक:, ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधर भूमिषु परचिन्तज्ञानादिषु संयमा युक्त:, कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वाद् भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्त योग एवोपाध्याय:, कथम्? एवमुक्तं।

अर्थात् संयम के जीत लेने पर उसके बाद वाली भूमिकाओं में संयम करना उपयुक्त है। पहली भूमिकाओं में जप प्राप्त किये बिना बीच की अन्तरा भूमिका को छोड़कर जो लोग प्राप्त भूमिकाओं में संयम करने का प्रयत्न करते हैं उन सब को स्फुट प्रज्ञालोक नहीं हो पाता और जिन विशेष भाग्यवान जीवों ने ईश्वर की कृपा से प्राप्त भूमिकाओं में संयम करने का प्रयत्न करते हैं, उन सब को स्फुट प्रज्ञालोक नहीं हो पाता। और जिन विशेष भाग्यवान जीवों ने ईश्वर की कृपा से प्राप्त भूमियों में संयम को सिद्ध कर लिया है उनको उससे नीचे की भूमिकाओं में संयम उपयुक्त नहीं है। क्योंकि जितोत्र भूमिक योगी को अधम भूमियों का ज्ञान साधारण रूपेण हो जायेगा। एक भूमि में जय प्राप्त कर लेने के बाद दूसरी भूमि का ज्ञान योगी को स्वत: ही होता रहता है। क्योंकि हमारे शास्त्रकारों ने बिलकुल स्पष्ट रूपेण कहा दिया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्।।

अर्थात् योग से ही योग को जानना चाहिए, योग से ही योग चलता है जो योगाभ्यास में प्रवृत्त है वही व्यक्ति देर तक योगलीन रहता है। इसलिए योगाभ्यास परायण व्यक्ति को अपने आपको योग-विलीन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यास करने वाला व्यक्ति अपने धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम को सिद्धि करके उसकी भूमियों में विनियोग करना चाहिए। तभी वह समाधिजा सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। इस लेख के आरम्भ में योग-दर्शन के कैवल्यपाद के एक सूत्र में निर्देशन किया था। वह सूत्र था—

''जन्म औषधि मंत्र तप: समाधिजा: सिद्धयाँ:।''

अर्थात् कुछ सिद्धियाँ प्राणियों को जन्म से ही सिद्ध हो जाती हैं। जैसे पक्षियों का आकाश-गमन आदि। और कुछ सिद्धियां औषधियों से प्राप्त होती हैं जैसे पारद की रसायन औषधियों से काया-कल्प और कुछ सिद्धियाँ मंत्रों के जप करने से प्राप्त हुआ करती हैं। अपरोक्ष दर्शन आदि और कुछ सिद्धियाँ तप के द्वारा होती हैं। कायक, वज्रकाय आदि और ऐन्द्रियक दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि। इसके बाद समाधिजा: सिद्धियों का वर्णन इस सूत्र में है। समाधिजा सिद्धियाँ किस प्रकार से उपलब्ध होती हैं इसका विषय वर्णन इस छोटे से निबन्ध में हमने करने का प्रयत्न किया है। इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अष्टाङ्ग योग में सभी अङ्गों का यथार्थता से पालन करते हुए योग के तीन अन्तरङ्ग अंग धारणा, ध्यान, समाधि को पूर्णरूपेण अभ्यास में ले आना चाहिए। तभी वह समाधिजा सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। संयम का कौन-सी-कौन-सी भूमियों में क्या उपयोग करना चाहिये और उसका परिणाम क्या रहेगा यह हम आगे के निबन्धों में समझाने का प्रयत्न करेंगे।

श्रीकृष्ण का शक्तिपात

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

गीता के प्रारम्भ में अर्जुन के प्रार्थना करने पर जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने उसके रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दिया। अर्जुन के मन में यह प्रबल इच्छा थी इस लड़ाई के घोर संग्राम में उसके साथ किन-किन लोगों से लड़ाई करनी है यह देखूं। जब उसने देखा कि उसके सामने भीष्म पितामह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण आदि-आदि महारथी हैं और वे सभी उसके अपने रिश्तेदार एवं कुटुम्बी हैं तो यह सब दृश्य देखकर उसको बड़ा मोह हुआ और मैं लड़ाई नहीं करूँगा। यह कहकर चुपचाप बैठ गया और उसने कह दिया:-

यदि माम प्रतीकारम-
शस्त्रं शस्त्रपाणय:।
धार्तराष्ट्रारणे हन्यु-
स्तन्मेक्षेमतरं भवेत्।।

अर्थात् यदि धृतराष्ट के पुत्र मुझे चुपचाप बैठे को मार डाले तो उसमें भी मेरा भला है किन्तु इस युद्ध के करने में मेरा भला नहीं है। अर्जुन के अधैर्यपूर्ण वचनों को सुनकर भगवान श्रीकृष्ण जी ने उसको उसका कर्त्तव्य समझाया और स्पष्टरूपेण कहा—

कुतस्त्वा कश्मल मिदं,
विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं-,
मकीर्तिकरमर्जुन।।
क्लैव्यं मा स्म गम: पार्थ,
नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं,
त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।

अर्थात् हे अर्जुन इस विषम समय में तुम में यह अपकीर्तिकार अनन्यों से सेवित पाप कहाँ से उपस्थित हो गया है। इस कायरता को छोड़ दे यह तेरे लिए उचित नहीं है। हृदय की दुर्बलता को छोड़ कर खड़ा हो जा और युद्ध कर— भगवान के इस आदेश को अर्जुन ने स्वीकार नहीं किया और उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

कथं भीष्म महं संख्ये,
द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभि: प्रतियोत्स्यामि,
पूजार्हावरिसूदन।।

अर्थात् हे मधुसूदन! मैं भीष्म और द्रोणाचार्य के साथ तीखे बाणों से कैसे लड़ाई करूँगा, जो हमेशा मेरे पूजा के योग्य हैं।

हे मधुसूदन—

गुरु न हत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।।

हे प्रभो! महानुभाव लोगों को मारकर रुधिर से सने हुए भोगों को भोगने की अपेक्षा भीख मांग कर खा लेना भी श्रेष्ठ है। इस लिए मैं अब युद्ध नहीं करूँगा। अर्जुन के ऐसा करने पर भगवान ने उसको अनेक प्रकार से क्षत्रिय धर्म का उपदेश किया एवं लड़ाई के लिये प्रेरित किया किन्तु अर्जुन किसी भी प्रकार से तैयार नहीं हुआ। भगवान श्रीकृष्ण ने उसको पूरी विवेचना के साथ आत्मधर्म समझाया और आत्म-धर्म को समझाते हुए स्पष्ट कह दिया:-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि,
नैनं दहति पावक:।
नैनं क्लेदयन्त्यापो,
न शोषयति मारुत:।।

अच्छेद मदाद्योऽयम–

क्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्य: सर्पगत: स्थणुर–

चलोऽयंसनातन:।।

अर्थात् यह समझ करके आत्म–स्वरूप का प्रति पादन करके उसको युद्ध के लिये तैयार करना चाहा किन्तु अर्जुन के मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। भगवान ने उसको सभी प्रकार से समझाया और अन्त में श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में अपनी बहुत बड़ी विभूतियों का वर्णन किया और उसे अक्षरश: समझा कर बतला दिया फिर भी अर्जुन के मन पर कुछ असर नहीं हुआ और उसने पुन: स्पष्ट कह दिया–

मदनुग्रहाय परमं,

गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन,

मोहोऽयं विगतोमम्।।

भवाप्ययौ हि भूतानां,

श्रुतौ विस्तरशो मया।

त्वत्त: कमलपत्राक्ष,

महात्म्यमपि चाव्ययम्।।

एवमेतद्यथात्थ त्व–,

मात्मानं परमेश्वर।

द्रष्टुमिच्छामिते रूप–

मेश्वरं पुरुषोत्तम।।

मन्य से यदि तच्छक्यं,

मया द्रष्टुमिति प्रभो।

योगेश्वर ततो मे त्वं,

दर्शयात्मानमव्ययम्।।

अर्जुन ने कहा हे प्रभो अध्यात्म संचित जो कुछ भी आपने मुझ पर अनुग्रह करके कहा उससे मेरा मोह सब प्रकार से दूर हो गया और संसार की उत्पत्ति और प्रलय का सब विवरण मैंने आपके मुख से सुन लिया। हे परमेश्वर यह सब कुछ ठीक है जो कुछ आप कह रहे हैं किन्तु मैं आपके ईश्वरीय रूप को देखना चाहता हूँ। हे योगश्वर यदि आप यह समझते हैं कि मैं देख सकूंगा तो कृपा करके अपना अव्यय रूप मुझे दिखला दीजिये। भगवान ने उसकी बात का उत्तर दिया:–

पश्य मे पार्थ रूपाणि,

शतशोऽथ सहस्त्रश:।।

नानाविधानि दिव्यानि,

नामावर्णाकृतीनि च।।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रा–

नश्विनौ मरुतस्तथा।

बहून्य दृष्ट पूर्वाणि,

पश्याश्चर्याणि भारत।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं,

पश्याद्य सचराचरम्।।

ममदेहे गुडाकेश,

यच्चान्यदद्रष्टु मिच्छसि।

भगवान ने उसका उत्तर दिया कि हे अर्जुन! नाना प्रकार के दिव्य वर्णों से युक्त सैकड़ों हजारों मेरे रूपों को आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी कुमार और मरुतों को देख जो अब तक तूने नहीं देखा हो वे सभी प्रकार के आश्चर्य मेरे शरीर के अन्दर देख ले किन्तु ठहर:–

न तु मां शक्य,

द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षु:

पश्य मे योगमैश्वरम्।।

मुझे तू अपनी इन आँखों से नहीं देख सकता है इसलिये मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ मेरे दिये हुए दिव्य चक्षुओं के द्वारा मेरे योग ऐश्वर्य को देख। यह कह कर जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन पर शक्ति संचार किया। इसके फलस्वरूप उसको दिव्य दृष्टि मिली। श्रीकृष्ण की कृपापूर्वक उस दिव्य दृष्टि को पाकर अर्जुन ने उनके विश्वरूप को देखा और विषय विकारों से मुक्त होकर हाथ जोड़ करके स्तुति की:–

पश्यामि देवांस्तव देव देहे

सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ–
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता
द्दीप्तानलार्कद्यु तिमप्रमेय।
त्वमक्षरं परमं वेदितव
त्वमस्य विश्वस्य परं
त्वमव्यय: शाश्वतधर्म
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य–
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वा:।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीता: प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा:
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभि: पुष्कलाभि:।।
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्ध संघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वालोका: प्रव्यथितास्तथाहम्।
नभ: स्पृशं दीप्तमकेनवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
न विन्दामि शमं च विष्णो।।
दंष्ट्राकयोऽय च ते मुखानि
दृष्टं का लानलसन्निभानि।
दिशो न जान लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।
अमी च त्वां घृतराष्ट्रस्य पुत्रा:
सर्वे सहैवावनिपालसंघै:।
भीष्मो द्रोण: सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै:।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालनि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै:।
यथा नदीनां बहवोम्बुवेगा:
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा:।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका–
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा:।।
लेलिह्यसे ग्रसमान: समन्ता–
ल्लोकान्समग्रान्वदनैज्वलद्भि:।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्रा: प्रतपन्ति विष्णो।।
आख्याहि मे को भवानुग्ररुपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्त माद्यं

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।

अर्थात् अर्जुन ने कहा– हे देव! मैं आपके शरीर में सब देवताओं और भूत–विशेषों के संग को देखता हूँ। कमलासनस्थ ब्रह्मा जी को देखता हूँ। बड़े–बड़े ऋषि, मुनि और रूपों को देखता हूँ। आपकी बहुत भुजायें हैं, बहुत मुख हैं, आप अनन्त रूप हैं, न आपका आदि है और न अन्त है। हे विश्वेश्वर! विश्वरूप आप अनन्त हैं। मैं आपको मुकुटधारी, जटाधारी, चक्रधारी चारों तरफ चमकते तेजधारी और ज्वलमान प्रदीप्त अग्नि की तरह से चारों ओर से देख रहा हूँ, आपका आदि, अन्त कुछ भी नजर नहीं आता। शशि, सूर्य आपके नेत्र मालूम पड़ते है, आपके मुख में जाज्वलमान अग्नि जल रही है। आप अपने तेज से सारे विश्व को जला रहे हैं। पृथ्वी और आकाश के बीच का अन्तर आपने व्याप्त कर दिया है। आपके इस उग्र रूप को देखकर मैं और सभी व्यथित हो गये हैं। ओह! कैसे आश्चर्य की बात है यह देवताओं के समूह आप में प्रवेश कर रहे हैं, कोई–कोई डरे हुए हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं। स्वस्ती–स्वस्ती कहकर महर्षि तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, मरुत, गन्धर्व, यक्ष और सुर–सिद्ध तुम्हें विश्वस्त आँखों से देख रहे हैं। तुम्हारा रूप बहुत बड़ा है, बहुत मुख और नेत्र हैं। बहुत–सी जंघायें और पादतल हैं। कराल तुम्हारी दाढ़ी है। तुम्हारे इस रूप को देख कर सारे व्यथित हो गये हैं। मैं भी भयभीत हो गया हूँ। तुम्हारा यह रूप आकाश को छुये हुए हैं। अनेक वर्णों वाला है, तुमने अपने मुख को विशालता के लिए खोला हुआ है। हे प्रभो! तुम्हें देखकर मेरी आत्मा डर गयी है और शान्ति को नहीं पा रहा हूँ। दावानल के समान फैले हुए तुम्हारे मुख को देख करके मुझे दिशाओं का ज्ञान भूल गया है।

हे जगन्निवास! आप किसी प्रकार मुझ पर खुश हो जायें। ओह! यह क्या आश्चर्य की बात है? धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तुम्हारे मुख में घुसे जा रहे हैं और भी राजे–महाराजे तुम्हारे मुख में घुसे जा रहे हैं। ओह! भीष्म, द्रोण और ये देखो सूत–पुत्र करण एवं हमारे भी योद्धा तुम्हारे मुख में घुसे जा रहे हैं। ये सब भाग–भाग कर तुम्हारे मुख में प्रवेश कर रहे हैं। तुम्हारी विकराल दाढ़ी दुनिया को भय दे रही है। कोई–कोई महारथी तुम्हारे दांतों में चिपके हुए मालूम पड़ते हैं। मालूम पड़ता है आप सबको चबा रहे हैं। जैसे बहुत–सी नदियां अपने वेग से समुद्र की ओर बड़े वेग से दौड़ती हैं उसी प्रकार से ये नर लोक के जीव आपकी ओर भाग करके आप में प्रवेश कर रहे हैं। जैसे धधकती अग्नि में अपने नाश के लिए पतंगे प्रवेश करते हैं उसी प्रकार ये मनुष्य–लोक के जीव आप में प्रवेश कर रहे हैं। आप सबको चबा रहे हैं। हे विष्णु! आप का बहुत विपुल तेज है। हे उग्ररूप! कृपा करके आप बतलायें आप कौन हैं? मैं आपके आदि–अन्त को जानता चाहता हूँ। अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया:–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।

तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।

दोणं च भीष्मं च जयद्रथं च

कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।

अर्थात् मैं काल हूँ संसार का नाश करने के लिये आया हूँ। देख जितने जो भी योद्धा बैठे हुए हैं तेरे बिना सब मारे जायेंगे इसलिये खड़ा हो– बड़ाई ले। शत्रुओं को जीतकर बड़ाई ले। मैंने ही सारे मार दिये हैं इसलिये तू बहाना बनकर सामने खड़ा हो जा। भीष्म, द्रोणाचार्य, जयद्रथ, कर्ण आदि योद्धाओं को मेरे मारे हुओं को तू मार— लड़ाई कर तू सब को जीतेगा अवश्य।

इस प्रकार विश्व–आत्मा भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दिव्य दृष्टि देकर के अर्जुन को अपना रूप समझाया। उनके विश्वरूप को देखकर वह भयभीत हो गया और उसने विविध प्रकार से उनकी स्तुतियाँ की।

अर्जुन ने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा कि—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घा।।
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्क
प्रजापतिस्त्वं प्रपिताहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रमाव।।
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीडयम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।
अदृष्टपर्वं हषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन न प्रव्यथितं मनो मे।
तदैव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।

अर्थात् हे हृषिकेश! तेरी कीर्ति से सारा संसार खुश हो रहा है। भयभीत हुए राक्षस लोग दिशा-प्रदिशाओं को भाग रहे हैं और सिद्धों के समूह तुम्हें नमस्कार कर रहे हैं। हे प्रभो! आप आदि-कर्त्ता ब्रह्मा से भी बड़े हैं और सत्-असत् से परे प्रणव-स्वरूप आप ही हैं तो ये लोग आपको नमस्कार क्यों नहीं कर रहे। तुम इस संसार के आदि कारण हो और पुराण-पुरुष हो। जानने योग्य परम तत्त्व के वेत्ता हो और अनन्त रूप हो। वायु, यम, अग्नि, वरुण और शशांक प्रजापति और प्रपितामह यह सब कुछ आप ही हैं इसलिए मैं हजारों बार और बार-बार नमस्कार करता हूँ। तुम्हारे सामने से नमस्कार है, तुम्हारे पीछे से नमस्कार है। मैं आपको चारों ओर से नमस्कार करता हूँ। हे अनन्त वीर्य विक्रम शाली! तुम सारे संसार को फलाते हो और अन्त में अपने में ही लीन कर लेते हो। हे प्रभो! मैंने आपको अपना सखा समझ करके हे कृष्ण! हे सखा! जो कुछ भी अनुचित कहा गया है वे सब कुछ आपकी इस महिमा को न जानते हुए कहा है और या प्रमाद व प्रणय-वश होकर कहा है और जो कुछ भी उपहास पूर्वक आपका विहार-शैयासन भोजनादि में एक बार, अनेक बार असत्कार किया है वह मैं अप्रमेह स्वरूप आप से क्षमा चाहता हूँ। तुम सारे संसार के पिता हो। एवं सारे संसार के पूज्य एवं गुरुओं के गुरु हो। तुम्हारे समान संसार में कोई नहीं है फिर अधिक तो कैसे हो सकता है।

इसलिये हे सर्वथा पूजन योग्य मैं अपने को झुका कर आपको खुश करता हूँ। हे प्रभो जिस प्रकार से पिता अपने पुत्र के अपराधों को क्षमा करता है। सखा अपने सखा के अपराध को क्षमा करता है पति अपनी पत्नी के अपराधों को क्षमा करता है इस प्रकार हे प्रभो आप मेरे अपराधों को क्षमा करें। हे जगन्निवास आपके अदृश्य इस रूप को देखकर मेरा मन अत्यन्त हर्षित हो गया है। और भय से मैं बहुत ही व्यथित हो गया हूँ इसलिये हे देवेश आप मुझ पर प्रसन्न होकर वही अपना सौम्य चतुर्भुज रूप दिखायें जिसमें गदा, पद्म, मुकुट, चक्र आदि धारण किये हुए हो।

अर्जुन को अत्यन्त व्यथित और डरा हुआ देखकर परम योगी भगवान श्रीकृष्ण ने अपना सौम्य मानुष रूप दिखाया इसको देखकर अर्जुन अपनी प्रकृति में स्थिति हुआ, जगदात्मा ने उसको आश्वासन दिया कि हे अर्जुन! मेरे इस दिव्यरूप को देवता भी दर्शनाकांक्षी हैं। किन्तु किसी प्रकार की तपस्यचर्या वेदपाठ यज्ञ दान आदि से मैं इस प्रकार नहीं देखा जा सकता हूँ। अनन्य प्रेम के द्वारा ही मेरे इस दिव्य-रूप को देखा जा सकता है। इसलिये हे अर्जुन तुम डरो मत मैंने कृपापूर्वक यह दिव्य-रूप तुम्हें दिखाया है। अर्जुन को आश्वासन देकर एवं अपना सौम्य मानवीय रूप दिखाकर सान्त्वना दी और उपसंहार में एक रहस्यमय उपदेश किया— वह दो श्लोकों के अन्दर जगदात्मा ने अपने भावों का स्पष्ट उपदेश करके समझाया है:-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य
अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन
प्रवेष्टुं च परंतप।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो
भद्भक्तः संगवर्जितः।।
निर्वैरः सर्वभूतेषु
यः स मामेति पाण्डव।।

भगवान ने कहा हे अर्जुन अनन्य भक्ति के द्वारा मैं इस प्रकार जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ, प्रवेश किया जा सकता हूँ। इसलिये तू मेरी भक्ति कर। संगरहित हो जा, सब कर्म मेरे लिये कर। प्राणीमात्र वैर रहित होकर ही मेरे को प्राप्त हो सकेगा।

जगदात्मा ने 11 वें अध्याय के उपसंहार के इस व्याख्यान में अर्जुन को अपने व्यविधान का पूरा रहस्य समझा दिया। जिससे बिल्कुल एकात्मभाव को प्राप्त हो जाय और समाधि-सिद्ध हो जाय। यह था उनका 'कर्त्तुम कर्तुमन्यथा कर्त्तुम' का सामर्थ्य इसी अनुग्रह को पाकर मनुष्य कृत्कृत्य हुआ करता है। जब तक मनुष्य इस प्रकार का अनुग्रह-भाजन नहीं बन जाता तब तक उसको प्रयत्न में लगा रहना चाहिये। जो लोग ईश्वर को सर्व व्यापक समझकर उसकी उपासना करते हैं और पूर्णरूपेण प्रयत्नशील रहते हैं वे अवश्य ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त हो जाया करते हैं।

वैराग्य (प्रथम)

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे शास्त्रों में मन की एकाग्रता के लिये दो प्रमुख साधनों का वर्णन किया गया है। उनका नाम है। 1. अभ्यास और 2. वैराग्य। मन को एकाग्र करने के लिये अभ्यास किये जाने वाले साधनों का बहुत बड़ा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। उनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि वेदान्त की साधनायें और यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग से सम्बन्ध रखने वाली साधनायें मन की एकाग्रता के लिए ही है। साधनाओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, चाहे हम महा वाक्यों का मनन करते हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अभ्यास करें चाहे समाधि प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर यम, नियम, आसन आदि के पालन में तत्पर होकर लगें। यह सब अभ्यास ही कहलाता है। अभ्यास एक इस प्रकार का साधन है, जिसको हर स्थिति का मनुष्य पालन करता हुआ अपने उच्चतम लक्ष्य को शनैः शनैः प्राप्त कर सकता है। किन्तु उन सब में वैराग्य को मोक्ष का निमित्त माना गया है। जो मनुष्य– प्राक्तन कर्म– विपाक पुण्य के प्रभाव से विषयों से वितृष्ण हो जाता है उसको किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में वितृष्ण होना ही वैराग्य कहलाता है। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से वितराग हो जाना ही वैराग्य का भाव है। संसार की सभी वस्तुएँ भयान्वित हैं। किन्तु एकमात्र वैराग्यवान व्यक्ति भयरहित हो करके निर्द्वन्द सोता है। श्री भर्तृहरि जी महाराज ने अपने वैराग्यशतक में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि:–

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्।
मौने दैन्य भयं बले रिपुभयं रूपे जरायां भयम्।।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयाचितं भुवि नृणां वैराग्य मेवाऽभयम्।।

अर्थात् 'भोगे रोग भयम्' जो मनुष्य भोगों को भोगता चला जाता है वह अवश्य ही रोगी बन जाता है। भोग भोगने की इच्छा तो प्रबल रहती है उस इच्छा को भोग करके ही मनुष्य क्षण मात्र के लिये हटा सकता है पर थोड़ी देर के बाद वही वासना और भी दुगुना चौगुना रूप धारण करके सामने आने लगती हैं। क्योंकि शास्त्रीय सिद्धान्त है:–

न जातु कामः कामानामुप भोगेन शाम्यति हविषा। कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।

अर्थात् पैदा हुई कामनायें कभी उनके भोग से शान्त नहीं होती, प्रत्युत अग्नि में घी डालने पर जिस प्रकार अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है उसी प्रकार कामनाओं का उपभोग करने से कामनायें भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती हैं। इसलिये भोग भोगने से इन्द्रिय लौल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही है। इस चपलता को मनुष्य या तो भोग के अनभ्यास से ही ठीक कर सकता है अन्यथा वीतराग होकर के ठीक कर सकता है उपर्युक्त श्लोक में श्री भर्तृहरि जी महाराज ने 'भोगे रोग भयं' कह करके भोग का अंतिम परिणाम दिखला दिया। भोग भोगने से इन्द्रियों की चपलता दिन प्रतिदिन बढ़ती है। जितनी चपलता बढ़ेगी उतना ही मनुष्य भोग का भोक्ता बन जायेगा। जितना वह भोक्ता बनेगा उतना ही उसके शरीर से शक्ति का दिन प्रति दिन क्षय होता चला जायेगा। ज्यों-ज्यों शक्ति कम होगी त्यों-त्यों शरीर में रोग बढ़ते चले जायेंगे और भोगे रोग भयं का परिणाम सामने आता चला जायेगा। यदि हम ईश्वर की परमानुकम्पा से इन्द्रियों में वीतराग हैं तो हमारे मन में भोग की इच्छा ही नहीं बनेगी। भोगेच्छा मन में न बनने पर भोग प्रवृत्ति स्वतः ही बन्द हो जायेगी। इसलिये यह बिल्कुल सत्य और यथार्थ कहा गया है कि भोगे रोग भयं पश्चात् कुले च्युति भयं। एक व्यक्ति का कुल शीलवान है, उसके कुल में उसके पूर्वज लोग ऊँचे ऊँचे आदर्शों को लेकर पैदा होते रहे हैं।

उनकी संस्कृति और शिक्षा बड़ी उच्च भावों की चलती रही है। कदाचित् कोई भ्रष्टात्मा जन्म ले ले और अपने रास्ते से भ्रष्ट हो जाय तो वह कुल-कलंक कहलाता है। इसलिये '**कुले च्युति भयं**' का यथार्थ प्रयोग है। तत्पश्चात् वित्ते नृपालाद्भय घर में यदि किसी प्रकार की सम्पत्ति इकट्ठी हो उसमें शासकों का भय बना रहता है। आज कल संसार में देखने में आता है जहाँ पर किसी प्रकार की बड़ी आय अथवा घर में सम्पत्ति दिखलाई देती है तो सरकार सम्पत्ति कर लगाकर धन अधिक मात्रा में ले लेती है। मनुष्य यदि मौन रहता है तो दीनता का भय बना रहता है। सुन्दर रूप है तो बुढ़ापे का भय बना रहता है। शास्त्रों का ज्ञाता है तो प्रति पक्षियों का भय बना रहता है। शरीर है तो काल का भय रहता ही है। सभी वस्तुएँ भयान्वित हैं। केवल मात्र वही मनुष्य निर्भय है जो इन सबके राग से परे निकल गया है, विरक्त हो गया है। इसलिये यह सब भर्तृहरि जी ने यथार्थ ही कहा है:-

सर्वं वस्तु भयान्वितं
भुवि नृणां वैरोग्य मेवाऽभयम्।

इन्हीं सब कारणों से वैराग्य को मोक्ष का नान्तरियत माना है। योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव जी ने पर और अपर वैराग्य को दो विभागों में बाँट दिया है। जो मनुष्य अपनी वासनाओं पर नियंत्रण करके अपने आपको संयमित रखने की चेष्टा करता है वह वशीकार संज्ञा वैराग्य का अधिकारी है। वशीकार संज्ञा वैराग्य का लक्षण योग दर्शन में भगवान् पतंजलि देव जी ने इस प्रकार बतलाया है:-

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।।

अर्थात् देखे और सुने हुए विषयों पर वशीकार होना वशीकार संज्ञा वैराग्य कहलाता है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुये भगवान व्यासदेव जी ने लिखा है:-

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्य्यमिति दृष्ट विषय वि-तृष्णस्य स्वर्ग वैदेह्य प्रकृतिलयत्व प्राप्तावानु श्रविक विषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य विषय सम्प्रयोगेऽपि चितस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसङ्ख्यानबलदना भोगा-त्मिका हेयोपादेय शून्या वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।।

अर्थात् रूपरस गंध स्त्री अन्न पान आदि दृष्ट विषय और स्वर्ग वैदेह्य प्रकृतिलयादि अदृष्ट विषय चाहे कितने ही दिव्यादिव्य विषय हों प्रसंख्यान बल से विषय दोषदर्शी चित्त ह्येयोपादेय शून्याअना भोगात्मिका स्थिति ही वशीकार संज्ञा वैराग्य वाली हुआ करती है। इस बात को यों समझ लेना चाहिये। विषय दो प्रकार के होते हैं:-

1. दृष्ट विषय।
2. आनुश्रविक विषय

दृष्ट विषय वे हैं जो इस लोक में रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श स्त्री, अन्नपान, ऐश्वर्य इत्यादि इन विषयों को मनुष्य सामान्य रूप से प्राप्त करता ही है।

अर्थात् मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले हर प्राणी के लिये अपने-अपने पुण्य कर्म विपाक के अनुसार साधारण रूप से यह सभी को उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त आनुश्रविक विषय हैं जिनको हम शास्त्रों से जानते और सुनते हैं उनमें भी दो प्रकार हैं:-

एक वह है जिसको हम शरीरान्तर वेद्य कह सकते हैं, अर्थात् जब हमारा कोई शरीर देवलोकादि में बनेगा तभी उन विषयों का ज्ञान हमें हो सकेगा। जैसे जो स्वर्ग आदि प्राप्त करते हैं या विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को प्राप्त होते हैं। इन विषयों को शरीरान्तर वेद्य कहा है और इसके अतिरिक्त दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं दिव्य शब्दों का अनुभव होना ये रूप विषय अवस्थान्तर वेद्य कहलाते हैं। इसी प्रकार से योग दर्शन के विभूतिपाद में कहीं हुई सभी सिद्धियाँ, जैसे '**बलेषु हस्ति बलादीनि**' आदि सब विषय अवस्थान्तर वेद्य हैं। इन दोनों प्रकार के दिव्य-अदिव्य विषयों की उपस्थिति में जब चित्त ज्ञान के बल से इनमें दोष देखता है, दोष देख करके इनको ग्रहण नहीं करता और न परे हटाने का ही प्रयत्न करता है। क्योंकि उस योगी के चित्त में इसके प्रति न राग है और न द्वेष है। राग हो तो ग्रहण करने की कोशिश करें और द्वेष हो तो इसे परे हटाने की कोशिश करें। ऐसी स्थिति में जो हेयोपदेश शून्या स्थिति है उसी को वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते हैं। वस्तुत:-

विकारहेतौ सति विक्रियत्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

अर्थात् जिनके चित्त विकार के हेतु स्त्री, अन्न-पान आदि के उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होते वही पुरुष धीर है। इस प्रकार उनका चित्त एकरस बना रहता है। चित्त की इसी प्रकार की स्थिति ही वशीकार संज्ञा कहलाती है। हमारे शास्त्रों में इस वशीकार वैराग्य को अपर वैराग्य माना है। पर वैराग्य इससे भी ऊँचा है। जिसका वर्णन आगे के निबन्ध में किया जायेगा। विषयों में राग का न होना ही वैराग्य का कारण नहीं है। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जो लोग तीव्र रोग आदि से पीड़ित हो जाते हैं उनका भी विषयों में राग नहीं रहता और विषयों से अरुचि हो जाती है। इसका नाम वैराग्य नहीं है और न ऐसे वैराग्य से योग सिद्ध होता है। कदाचित् किसी व्यक्ति को विषय उपलब्ध ही न हों और वह कह दे नहीं जी हम तो विरक्त हैं तो उनकी विरक्तता कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि उनको वह वस्तु उपलब्ध ही नहीं या वस्तु उपलब्ध होने पर जिनकी इन्द्रिय शक्ति क्षीण हो चुकी है, ऐसी स्थिति में कोई कहे कि हम विरक्त हैं तो यह भी उनका कहना गलत है क्योंकि उनके अन्दर विषय-भोग की सामर्थ्य नहीं है तो वे लोग क्या भोग भोगेंगे। वस्तुत: तो देखे और सुने हुये विषयों में राग का प्रसंख्यान बल से उत्पन्न ही न होना वशीकार संज्ञा वैराग्य है। हमारे शास्त्रकारों ने इस ऊपर वैराग्य को अलग-अलग चार विभागों में बाँट दिया हैं। जैसे-

1. यतमान संज्ञा वैराग्य।
2. व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य।
3. एकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य।
4. वशीकार संज्ञा वैराग्य।

इन चारों को इस प्रकार समझ लेना चाहिये। जैसे-

1. इन्द्रियों के विषय अपने अपने रागों में मनुष्य को प्रवृत्त करते हैं। ज्यों ही वासनिक भोग सामने उपस्थित हुए योगी उससे बचने की चेष्टा करता है। अपने चित्त पर नियंत्रण करता है। इसका नाम यतमान संज्ञा वैराग्य है।

2. ऐसा प्रयत्न करने पर जब योगी यह देखता है कि मैंने अमुक-अमुक विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है और इन-इन विषयों को प्राप्त करना शेष है ऐसे वैराग्य को व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य कहते हैं।

3. कदाचित् अभ्यास-बल से या अन्तरानुभूति के बल से जब-जब राग-द्वेष आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों में प्रवृत्त करने में तो असमर्थ हो जाते हैं किन्तु मन में सूक्ष्म रूप से टिके रहते हैं। इस प्रकार की संज्ञा का जो योगी है किसी विषय अवसर पर दिव्य विषय ज्यों ही उसे प्राप्त होते हैं तो उसका मन क्षुभित हो सकता है। ऐसे वैराग्य को एकन्द्रिय संज्ञा वैराग्य कहा गया है।

4. इससे भी उत्तम राग की सूक्ष्म रूप से निवृत्ति हो जाती है। और दिव्या-दिव्य विषय उपस्थित होने पर भी बराबर उपेक्षा वृत्ति बनी रहती है। यह वैराग्य की तीनों श्रेणियों से उत्कृष्ट है। पहली तीन अवस्थाओं का वैराग्य निरोध का कारण नहीं बनता। निरोध का कारण चतुर्थ भूमि वाला वशीकार संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिये इस वैराग्य का निरोध के साधनों में वर्णन किया गया है। किन्तु यह अवस्था योगी को वैराग्य की पहली तीन भूमियों को लाँघ करके ही प्राप्त होती है। सहसा प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मनुष्य का अपर वैराग्य सिद्ध-स्थिति में आता है त्यों-त्यों मनुष्य पर वैराग्य की ओर अपना कदम बढ़ाता चला जाता है। पर वैराग्य में ही मनुष्य की रस प्रवृत्ति पूर्णरूपेण हट पाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में कहा है:-

विषया विनिवर्तन्ते
निराहारस्य देहिन:।
रस वर्जं रसोऽप्यस्य
परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

श्लोक 2:59

अर्थात् निराहार व्यक्ति जब अपने रसादि विषयों से दूर रहता है तो उसकी वासनायें मन से हट जाती हैं। किन्तु रस की भावना नष्ट नहीं होती। उसकी रस की भावना पर-दर्शन के बाद ही हट पाती है। जब मनुष्य को पर-दर्शन होता है तो उसकी चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। एक प्रकार से वह अपनी स्वरूप-स्थिति को प्राप्त कर लेता है। और अपने स्वरूप का दृष्टा बन जाता है। निरोध स्थिति ही योगी की स्वरूप स्थिति है जिसके लिये योग-दर्शन मुँह खोलकर कहता है:-

''**तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्।।**''

अर्थात्-

तदा तस्मिन स्थितै द्रष्टु: जीवात्मन: स्वरूपेऽ-वस्थानम् तदानीम् स्वरूप प्रतिष्ठा तावत कीदृशी यथा चितिशक्तिर्भवति कैवल्ये।

अर्थात् जैसे चेतन शक्ति केवली भाव को प्राप्त होने पर हुआ करती है उस समय आत्मा बुद्धि बोध को छोड़कर के अपने स्वरूप में ठहर जाती है इसी को स्वरूप प्रतिष्ठा कहा गया है। एवं इसी को श्री पतंजलिदेव ने पर वैराग्य के रूप में वर्णित किया है यथा:-

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णयम्।'

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी महाराज इस प्रकार पंक्तियाँ लिखते हैं:-

दृष्टानुश्रविक विषय दोषदर्शी विरक्त: पुरुष दर्शनाभ्यासाच्चित्तशुद्धि प्रविवेकाप्यायित बुद्धिर्गुणे-भ्यो व्यक्ताव्यक्त धर्मकेभ्यो विरक्त इति तद्द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तद्ज्ञान प्रसादो मात्रं यस्योदये सत्तियोगी प्रत्युदित ख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणा क्षेतव्या: क्लेशा: छिन्न: श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।।

बुद्धि-बोध आत्मा पुरुष ज्यों-ज्यों प्रसंख्यान की ओर चलता है त्यों-त्यों उसका बुद्धि-विवेक और निर्मल होता चला जाता है और धीरे-धीरे पुरुष-दर्शन के अभ्यास से अपने स्वरूप में अवस्थित होकर वह जिज्ञासु व्यक्ताव्यक्त कर्म वाले गुणों से भी विरक्त हो जाया करता है। इस प्रकार से वैराग्य दो प्रकार का माना गया है। अपर वैराग्य का वर्णन पहले कर दिया गया है। जिसमें मनुष्य दृष्टानुश्रविक विषयों में दोषी बन जाता है उस वैराग्य का नाम वशीकार संज्ञा है। किन्तु ज्यों-ज्यों साधक अपने अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाता चला जाता है और उसकी विवेक-ख्याति प्लवन होकर निर्मल होती चली जाती है तो उसका मन व्यक्ताव्यक्त गुणों से विरक्त हो जाया करता है उसी वैराग्य को पर वैराग्य कहा गया है। यह वैराग्य पुरुष ख्याति मात्र है और सर्वोत्कृष्ट है। इस वैराग्य के पैदा हो जाने पर प्रत्युत्ख्याति योगी इस प्रकार मानता है- '**प्राप्तं प्राप्नियमं**' जो कुछ मुझे पाना था पा लिया। **क्षीणा: क्षीतव्या: क्लेशा:** नष्ट करने लायक क्लेश मैंने नष्ट कर दिये हैं क्षित: क्लिष्ट भव सक्रम: श्रृङ्खला से जुड़ा हुआ भव संसार चक्र मैंने नष्ट कर दिया है जिसके नष्ट होने पर बार-बार जन्मना और मरना पड़ता था। इसी वैराग्य को मोक्ष का नाम तरीयक माना गया है।

अर्थात् यह वैराग्य मोक्ष ही है इस स्थिति के अन्दर को प्राप्त हुआ योगी केवल मात्र बुद्धि बोध की अस्मि वृत्ति से ही अवशेष रहता है। ऐसे योगी की वृत्ति निर्माणोमुखी रहती है। इसी को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं।

ऋतं सत्यं विभर्त्ति या सा ऋतम्भरा:।

यह वृत्ति सत्य को धारण करती है। योगी अपने पूर्ण तेज के साथ **अस्मि अस्मि अहमेवा अस्मि।** यह सब कुछ मैं ही हूं ऐसा अनुभव करता है। यहीं पर वैराग्य का अन्तिम परिणाम है। योगाभ्यास करने वाले साधक को ज्यों-ज्यों अन्तर्मुखता प्राप्त होती है त्यों-त्यों वह वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त होता चला जाता है। और ज्यों-ज्यों विवेक ख्याति की ओर आगे बढ़ता है। त्यों-त्यों वह पर-वैराग्य को प्राप्त हो जाता है और संसार के जन्म मरण के चक्र से छूट कर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है इसी का नाम कैवल्य है। पुरुष का बुद्धि बोध को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही केवली भाव है। इसलिये योग के जिज्ञासु साधक को चाहिये कि वह अष्टांग योग के नियमों का पालन करता हुआ अपने आपको पूर्ण विवेकवान् बना दे जिससे परम शान्ति लाभ हो।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग्भवेत्।।

वैराग्य (द्वितीय)

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'सिद्धयोग' के गत अङ्क में हमने अपने लेख में मोक्ष के नान्तरीयक वैराग्य की साधना पर प्रकाश डाला था और उसमें भली प्रकार यह बतला दिया था कि पर–वैराग्य बिल्कुल मोक्ष का स्वरूप ही है। क्योंकि वह वैराग्य पुरुष ख्याति वैराग्यरूप है। इस वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर प्रत्युदित ख्याति योगी अपने आपको कृतार्थ बना लेता है। इस वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है और आत्मा विशुद्ध केवलीभाव को प्राप्त हो जाया करती है। उस समय प्रत्युदित ख्याति योगी विवेक ज्ञानरूप अपनी धारणा में दृढ़ हुआ इस प्रकार मानता है:–

प्राप्तं प्रापनीयं, क्षीणा: क्षेतव्या: क्लेशा: छिन्न: श्लिष्टपर्वा, भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं, एतस्येव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

अर्थात् प्राप्त करने लायक वस्तु प्राप्त कर ली, क्लेश क्षीण कर दिये, पोरी से पोरी की तरह जुड़ा हुआ संसार–चक्र मैंने काट दिया जिसके कारण जन्म और मरण होता था। अब मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अजर–अमर नित्य तत्त्व हूं। इस प्रकार पर–वैराग्य मोक्ष का नान्तरीयक सिद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में मन की चंचलता को स्वीकार करके अभ्यास और वैराग्य को मन की एकाग्रता का परम साधन माना है। गीता का वह प्रकरण इस प्रकार है। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न किया :–

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त: साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।
चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

गीता 6:33,34

अर्जुन ने कहा 'हे मधुसूदन! साम्यत्वेन जो योग आपने कहा है वह सर्वथा ठीक है। चंचलता से इन मन की स्थिरता मैं बिल्कुल नहीं देखता हूँ। हे कृष्ण! यह मन बहुत ही चंचल, बलवान एवं मचला डालने वाला है। जिस प्रकार वायु को नहीं रोका जा सकता उसी प्रकार इस मनको भी पकड़ा नहीं जाता।

अर्जुन के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया:–

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय
वैराग्येण च गृह्यते।।

गीता 6:35

असंयतात्मना योगो
दुष्प्राप इति मे मति:।
वश्यात्मना तु यतता
शक्योऽवाप्तुमुपायत:।।

गीता 6:36

हे महाबाहु अर्जुन! यह बात बिल्कुल सत्य है कि मन बहुत ही कठिनता से वश में आने वाला और बहुत ही चंचल है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयमात्मा है, हे अर्जुन! मेरा विचार है उनको योग कभी प्राप्त नहीं हो सकता। और जिन्होंने अपने आप पर नियंत्रण किया है वह प्रयत्न करते हुए अवश्य ही उपाय से प्राप्त कर सकते हैं। इसी सिद्धान्त को कठोपनिषद् में उपदेश करते हुए यमदेव ने इस प्रकार कहा है:–

यस्त्व विज्ञानवान्,
भवत्य युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाण्य वश्यानि

दुष्टाश्वा इव सारथेः।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति।

युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि

सदश्वा इव सारथेः।।

अर्थात् जो मनुष्य अविज्ञानवान होता है अर्थात् जिसको मन पर नियंत्रण नहीं होता उस व्यक्ति की इन्द्रियां वश में नहीं होती जिस प्रकार बिगड़ेल घोड़े सारथी के वश में नहीं हुआ करते।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानवान् है और युक्त मन वाला है, उसकी इन्द्रियां वश में हुआ करती हैं जैसे अच्छे घोड़े सारथी के वश में हुआ करते हैं।

अतः उपर्युक्त लेख से यह तो भली प्रकार सिद्ध हो गया कि अभ्यास परायण योगी अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण प्राप्त करके अपनी प्रगति को ऊँचा बढ़ा सकता है। और वह प्रेम से परम श्रेय भागी बन ही सकता है। कदाचित् भाग्यवश मनुष्य पर वैराग्य को प्राप्त हो जाये तो वह गुण धर्मों से छूट कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो ही जाया करता है। क्योंकि वैराग्य मोक्ष का नान्तरीयक माना गया है। हमारे शास्त्रों में जहाँ अभ्यास के भिन्न-भिन्न प्रकार मिलते हैं उसी प्रकार से सांकेतिक भाषा में वैराग्य का महत्त्वपूर्ण वर्णन भी मिलता है। वह इस प्रकार के छिपे हुए भाव हैं कि जिनको सहसा मनुष्य समझ ही नहीं सकता। वैराग्य शब्द का अर्थ है विगत राग हो जाना। ज्यों-ज्यों इन्द्रियाँ अपने विषयों में राग-परायण होती हैं त्यों-त्यों वे सब अपने विषयों को छोड़ने में असमर्थ हो जाया करती हैं। इस विषय में हमारे पूर्व आचार्यों का इतिहास और स्मृति के रचयिताओं का बिल्कुल एक मत है। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति में बिल्कुल साफ और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है:-

इन्द्रियाणां विचरतां,

विषयेष्व पहारिषु।

संयमे यत्नमातिष्ठे

विद्वान यन्तेव वाजिनाम्।।

इन्द्रियाणां प्रसंगेन

दोष मृच्छत्य संशयम्।

सनियम्य तु तान्येव

तत सिद्धिं नियच्छति।।

न जातु कामः कामा-

नामुपभोगेन् शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव

भूय एवाभिवर्द्धते।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च

नियमाश्च तपांसि च।

न विप्रदुष्ट भावस्य

सिद्धिं गच्छति कर्हिचित।।

वशे कृत्वेन्द्रिय ग्रामं,

संयम्य च मनस्तथा।

सर्वान् संसाधयेदर्या-

नाक्षिणवन् योगतस्ततुम्।।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च

भुक्त्वा घ्रात्वाचयो नरः।

न हृष्यति ग्लायति वा

स विज्ञेयो जितेन्द्रिय।।

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि चित्त का अपहरण करने वाली इन्द्रियों को इस प्रकार वश में रखें जिस प्रकार सुसारथी घोड़ों को रखा करता है। क्योंकि इन्द्रियों का अनुगामी होने से हजारों प्रकार के दोष पैदा हो जाया करते हैं और उनको संयम में ले आने पर जल्दी ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

उत्पन्न हुई कामनायें, कामनाओं के उपभोग से कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत और अधिक बढ़ती चली जाती है। जैसे अग्नि में घृत आदि हवि डालने से अग्नि और अधिकाधिक प्रज्वलित होती जाती है उसी प्रकार इन्द्रियों का उपभोग करने पर उनका लौल्य दिन-प्रति-दिन

बढ़ता ही चला जाता है। क्योंकि कभी भी अजितेन्द्रिय मनुष्य को वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप सिद्ध नहीं हुआ करते। अत: मनुष्य को चाहिए कि सारी इन्द्रियों के समूह और मन पर नियन्त्रण करके और योग के द्वारा अपने शरीर की रक्षा करते हुए कामनाओं को प्राप्त करे। जो मनुष्य सुन करके, स्पर्श करके, देख करके, भोग करके और गन्ध ग्रहण करके न प्रसन्न होता है न ग्लानि को प्राप्त होता है, उसको जितेन्द्रिय समझना चाहिए। इन सब शास्त्रीय सिद्धान्तों को पढ़कर और सुनकर मनुष्य एक ही निश्चय पर पहुँचता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों में राग होना ही वासनिक प्रवृत्ति का मुख्य कारण है। यदि सभी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में वितराग हो जायें तो उनकी प्रवत्ति कभी भी उनमें हो ही नहीं सकती। इस विषय को इस प्रकार समझ लीजिये- जैसे हमारी चक्षु इन्द्रिय की प्रवत्ति सुन्दर रूप देखने में रागान्वित है तो वह हमारे को सुन्दर रूप की ओर आकृष्ट कर देती है। यदि उसी चक्षु-इन्द्रिय के सामने किसी मल-मूत्रादि घृणित दृश्य को लाया जाये तो वह उसको कभी भी देखना पसन्द नहीं करेंगी। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय कभी भी उसका गंध ग्रहण करना स्पर्श करना नहीं चाहेगी क्योंकि यह उनमें विगतस्पृह है। अत: कदाचित् किसी भाग्यवान् साधक को वैराग्य प्राप्त हो जाय तो उसका उसकी इन्द्रियों पर स्वत: ही नियन्त्रण हो जाया करता है। हम सबको चाहिए कि हम जहाँ जिस-जिस अभ्यास में प्रयत्नशील रहते हैं, वहाँ उसी प्रकार वैराग्य के लिए भी प्रयत्नशील रहें।

वैराग्य साधना का अमर उपाय

वैसे तो वैराग्य साधन के लिए हमारे शास्त्रों में अनेकानेक उपाय वर्णित हैं किन्तु वह प्राय: साधकों के लिए विफल रहते हैं। उसका कारण मात्र यह है कि अधिकांश में सभी उपदेष्टा मनो नियंत्रण का उपदेश दिया करते हैं। नियंत्रण करना ठीक है किन्तु कभी कभी इस नियंत्रण का ऐसा परिणाम रहता है कि इन्द्रियों का वेग बलवान हो जाता है और वह नियंत्रण की मर्यादा को तोड़कर के अपनी वासना के लक्षीय भूत विषयों में बह निकलता है। इस बात को स्वयं जगदात्मा श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है:-

यततो ह्यपि कौन्तेय,

पुरुषस्य विपश्चित:।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि

हरन्ति प्रसभं मन:।।

गीता 2:60

अर्थात् विद्वान लोग इन्द्रियों के नियंत्रण का प्रयत्न करते रहते हैं फिर भी इन्द्रियों का वेग इतना बलवान है कि वह बहुत जल्दी मन को हर ले जाता है।

इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार तीव्र वेग वाली नदी के जल को बाँध लगाकर किसी जलाशय में रोक लेते हैं तो वह जल रुक तो जाता है और उस जलाशय के अन्दर इकट्ठा होता रहता है किन्तु जब वह जलाशय जल से परिपूरित हो जाता है और जल के वेग से कदाचित् बांधा हुआ बांध टूट जाये तो उस जल को रोकने की ताकत किसी में नहीं होती। टूटा हुआ वह बांध हजारों गांवों और शहरों को नष्ट करता हुआ समुद्र की ओर भाग निकलाता है। समुद्र में पहुंच करके ही वह विलय हो पाता है। इससे अच्छा उपाय यही था उस जल को इतने बड़े बांध से रोकने की चेष्टा नहीं की जाती प्रत्युत जहाँ-जहाँ जिन जिन क्षेत्रों में जल की भारी आवश्यकता थी उन-उन क्षेत्रों में उचित संविधान के साथ बाँट दिया जाता तो उस जल का वेग शान्त हो जाता और कृषि आदि कार्यों के सहयोग से भारी लाभ होता। इसी प्रकार से इन्द्रियों के वेग को बिना लक्ष्य के किसी प्रकार मनुष्य रोक भी दे तो जब तक वह वेग रुका रहेगा ठीक है- कदाचित वह नियन्त्रण की मर्यादाओं को तोड़कर बह निकला तो वह इतना बह जायेगा कि उस पर फिर नियन्त्रण करना काबू से बाहर हो जायेगा। इसलिए योगाभ्यासी को चाहिए कि वह अपने अभ्यास बल से उस प्रवाह को अन्तर-भूमिकाओं में परिवर्तित करता रहे। जिससे इन्द्रिय-ग्राम इतना सबल हो ही न पाये जिससे ऊँचे नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव में आए। इसी का निर्देश हमारे आचार्यों ने किया है। कठोपनिषद् में भगवान् यमराज ने नचिकेता को उपदेश देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि:-

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमै-क्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बाहर की ओर देखने वाला बनाया है इसलिए इनका वेग बाहर की ओर चलता रहता है। बाहर के जितने विषय हैं वह विषयों का मोटा रूप है, जैसे गन्ध तन्मात्र का स्थूल रूप पृथ्वी है और रस तन्मात्र का स्थूल रूप जल है, रूप तन्मात्र का स्थूल रूप अग्नि है, स्पर्श तन्मात्र का स्थूल रूप वायु है और शब्द तन्मात्र का स्थूल रूप आकाश है। हमारी इन्द्रियाँ पंच तन्मात्राओं के स्थूल रूप का ही दर्शन करती हैं, न कि सूक्ष्म का, यदि ये पंच भौतिक स्थूलाभोग को छोड़कर सूक्ष्म तन्मात्राओं का दर्शन व अनुभव करने लग जाये तो थोड़े ही दिन के बाद ये सब इन्द्रियां स्थूल विषयों में वितरागी हो जायेंगी। इसीलिए हमारे योगाचार्यों ने संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात नाम के दो योगों का वर्णन किया है। जो लोग संप्रज्ञात योग में प्रवेश कर जाते हैं, उनकी इन्द्रियां सूक्ष्म तत्त्वों का अनुभव करने लग जाया करती हैं और ज्यों-ज्यों सूक्ष्मतत्त्वों का अनुभव करती हैं त्यों-त्यों उनके स्थूलाभोग छूटते चले जाते हैं। इस अभ्यास के क्रमानुसार ज्यों-ज्यों योगाभ्यासी योगी उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाओं में प्रवेश करता है त्यों-त्यों निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में वह योगी विगतस्मृति हो जाता है। उत्तरोत्तर उन निम्न श्रेणियों से वह विगत स्पृह हो जाया करता है। उसका राग उच्च भूमिकाओं में बढ़ जाता है। इस तरह से योगी अपने चित्त के प्रवाह को, जो अभी स्थूल जगत की ओर तीव्रता से प्रवाहित हो रहा था उसको सूक्ष्म जगत की ओर प्रवाहित कर लेता है। प्रवाह चलता रहता है, चित्त की अपनी ताकत का सदुपयोग होता रहता है। इस प्रकार का वह चित्त उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं में प्रवेश करता हुआ हमारे परम कल्याण का कारण बन जाता है। कदाचित् हम अपने चित्त को कहीं भी प्रवाहित न करें कभी भी इकट्ठी की हुई वह हमारी चित्त-शक्ति परस्फुटित हो सकती है और इस प्रकार की बिखरी हुई चित्त-शक्ति परिणाम में दु:खद रहेगी। इसलिए योगी को चाहिए कि वह निम्न श्रेणी की भूमिकाओं से अपने आपको उत्तर भूमिकाओं की ओर बढ़ाता चला जाय।

जिससे स्वत: ही उसका मन निम्न श्रेणी से वितरागी हो जाये। भगवान पतंजलि देव ने अपने योग सूत्र में बताया है कि -

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सं-प्रज्ञात:।

इस सूत्र पर व्यास देव ने अपने भाष्य में ये पंक्तियाँ लिखी हैं:-

वितर्क: चित्तस्यालम्वने स्थूल आभोग:, सूक्ष्मो विचार:। आनन्दो: ह्लाद:। एकात्मिका। संविद् अस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत समाधि: स वितर्क:, द्वितीयो वितर्क विकल: सविचार:। तृतीयो विचार विकल: सानन्द चतुर्थंस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति, सर्व एते सालम्बना: समाधय:।

वितर्क विचार आनन्दानुगत समाधि सावलम्ब है। जिस समय योगी का अपने सार्वदेशिक मन को एकाग्र करके संप्रज्ञात योग की ओर बढ़ना आरम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों ऊपर की भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है। त्यों-त्यों नीचे की भूमिकाओं को छोड़ता चला जाता है। जिस प्रकार से गाँव का रहने वाला एक व्यक्ति गाँव के वातावरण को छोड़कर शहर में प्रवेश करता है तो वह ग्रामीण वातावरण को भूल जाता है और उसे फिर नगरीय जीवन ही पसंद आ जाता है। इसी प्रकार बाह्य-वासना दोषदर्शी व्यक्ति अन्तर्मुखता को प्राप्त करके बाह्य वासनिक भोगों को बिल्कुल छोड़ देता है। संप्रज्ञात योग की प्रथम श्रेणी में प्रवेश करने वाला साधक सार्वभौम चित्त को इकट्ठा करके अपने भीतर के दर्शन में लगाता है। वह सार्वभौम से निवृत्त होकर वितर्कानुगत योग में प्रवेश करता है। वितर्कानुगत योग में उसको तन्मात्राओं से संबन्ध रखने वाले बड़े-बड़े दिव्य अनुभव होने लग जाते हैं। और उन सब दृश्यों को देखता हुआ वह योगी शनै: शनै विचारानुगत योग का अधिकारी हो जाता है और उसके सामने देव लोक के दृश्य आने लगते हैं। विचारानुगत समाधि में ये सब दृश्य उसके सामने आने लगते हैं। और वह स्वर्गीय दृश्यों को देखा करता है। जिस समय वह योगी स्वर्गीय दृश्यों को देखा करता है तो मनुष्य लोक के दृश्यों से उसको वैराग्य हो जाता है। विचारानुगत समाधि से जिस समय आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो उसे स्वर्गीय दृश्यों से भी स्वाभाविकीय विरक्ति होने लगती है और शनै:-शनै: स्वर्गीय

दृश्यों से भी उसको वैराग्य हो जाता है। इसी प्रकार से आनन्दानुगत समाधि का योगी अस्मितानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो आनन्दानुगत के विषय को छोड़कर अस्मि प्रत्यय को आधार बनाकर उसी में विलीन रहता है। इस श्रेणी में आकर वह दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण होकर वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त करता है। और इससे आगे आत्मा का निजी स्वरूप है जिसके लिए महर्षि पतंजलि ने 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्, कह करके अभिव्यक्त किया है। अस्मितानुगत योग की अस्मि वृत्ति निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहलाती है यह वृत्ति अन्य सभी वृत्तियों का उपशमन करके स्वयं भी शान्त हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है यही पर-वैराग्य की स्थिति है। इसी को महर्षि पतंजलि ने 'तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' कहकर अभिव्यक्त किया है इसी वैराग्य को मोक्ष का नान्तरीयक वर्णन किया गया है। यही परास्थिति है, जिसके लिए मनुष्य जीवन भर प्रयत्नशील रहा करता है। किसी भाग्यवान जीव को जन्म से ही विरक्ति की भावनायें पैदा हो जाती हैं वह उसका पूर्वं जन्मकृत अभ्यास ही होता है। संसार में इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम ही देखने में आते हैं जिनके अन्दर जन्म से ही गुण वितृष्णता हो किन्तु जो लोग श्री गुरुदेव जी की कृपा को प्राप्त करके संप्रज्ञात योग के अभ्यासी बने रहते हैं वे लोग शनै: शनै: गुण वैतृष्णता को अवश्य ही पा जाया करते हैं। अत: हर साधक को यह चाहिए कि वह अपने आप को गुण वितृष्ण बनाने के लिए संप्रज्ञात योग का विद्यार्थी बनाये। तभी वह साधक 'तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' को प्राप्त हो सकेगा।

स्त्रियाँ और दीक्षा

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत आजकल के नारी-जागरण युग में विचार प्रकट करना कुछ विशेष आश्चर्य और कौतूहल की बात नहीं, किन्तु अब से सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व एक ऐसा भी समय था जब यहाँ 'स्त्री शूद्रोनाधीयताम्' जैसे रूढ़िवादी नारों का प्रचार था और तब लड़कियों को पढ़ाना लिखाना या उन्हें सुशिक्षित बनाना आश्चर्य एवं मां-बाप के कर्त्तव्य से बाहर की बात समझी जाती थी। स्त्री-शिक्षा के आन्दोलन का मुख्य श्रेय इधर आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती को देना उचित होगा। आर्यसमाज ने जगह-जगह कन्या गुरुकुल और कन्या पाठशालायें खोलकर स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में जो नव जागरण किया वह निस्संदेह एक महत्त्वपूर्ण कार्य ही था, महर्षि दयानंद ने शिक्षा और शास्त्रीय अध्ययन के लिए गुरुकुलों की स्थापना पर बल दिया और बतलाया कि कन्याओं और बालकों के गुरुकुल अलग-अलग होने चाहिये। इन दोनों के स्थानों में कम से कम 7 या 8 मील का अन्तर होना चाहिए। उन्होंने यह भी नियम रखा कि कन्याओं के गुरुकुओं अथवा शालाओं में अध्यापिकायें केवल नारी ही रहें और जो अन्य कर्मचारी रखे जावें वे भी स्त्रियों में से ही हों। महर्षि ने आर्य ग्रन्थों, के पठन-पाठन की जो प्रणाली निर्धारित की वह भी उपयोगी आकर्षक और आदर्श थी। जो कोई भी इस आदर्श शिक्षा-प्रणाली को अपना कर इन गुरुकुलों में पढ़ने का अवसर पा सकेगा उसका उत्कृष्ट विद्वान चरित्रवान और मेधावी व पुरुषार्थी होना एवं योग सिद्धान्तों के अनुसार परिपूर्ण होना बिल्कुल निश्चित ही होगा। लड़कियाँ भी जो इनमें पढ़ेंगी विदुषी चरित्रवती और पतिवृत धर्म की पालन करने वाली होंगी। यही विचार महर्षि का था जिसकी कुछ पूर्ति इन गुरुकुलों से अवश्य हुई है। 'स्त्री शूद्रो ना धीयताम्' का विचार दूर हो गया अवश्य है। लेकिन इसके साथ ही यह भी हुआ कि स्त्रियों अथवा बालिकाओं को बालकों के समान ही जहां ऊँची शिक्षा देने की इच्छा बलवती हुई वहाँ लोग यह भूल गये कि शिक्षा-विधि कैसी होनी चाहिए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ऋषि दयानंद के निर्देशित ढंग पर यत्र-तत्र चली पर अंग्रेजी ढंग की सह-शिक्षा ने उसे एक सीमित से स्थान में समेट कर रख दिया, जगह-जगह एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल, इण्टर-कॉलेज और कालेजों की धूम मच गई। लड़के लड़कियाँ सभी चाहे वे कोई भी हों इनमें वे रोक टोक पढ़ने लगे। आरम्भिक कक्षाओं से लेकर मैट्रिक तक तो बालक-बालिकाओं की पाठशालायें अलग-अलग रहीं किन्तु जैसे ही 16-17 वर्षं की आयु हुई कि उन्हें कालेजों में सह शिक्षा का सामना करना पड़ा। इस सह-शिक्षा के जो दुष्परिणाम होने थे वे भी उभर कर सामने आये। प्राचीन नारी मर्यादा और शील-सदाचार के बन्धनों को गहरी चोट पहुँची, फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्त्री-शिक्षा पुरुष-शिक्षा के समान व्यापक हुई और प्रत्येक क्षेत्र में सुयोग्य सुशिक्षित विदुषी महिलायें निकल कर आगे आईं वे वकील, बैरिस्टर, क्लर्क, न्यायाधीश और शासनाधीश, डॉक्टर, इंजीनियर आदि भी बनीं। कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जिसमें वे पुरुषों की स्पर्धा करने से पीछे रही हों। हमें यह जान कर आश्चर्य और दु:ख भी होता है कि नारी जाति की इस जागरण बेला में जब कि जागरण समानाधिकार प्राप्ति के नाम पर वह सभी धार्मिक मान्यताओं को चकनाचूर करके आगे बढ़ने को उतावली हैं कुछ रुढ़िवादी लोग इसी सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा नहीं होनी चाहिए। हमारी शिक्षा प्रणाली आर्य प्राचीन हो उसमें धार्मिकता को विशेष महत्व दिया जाये इसके हम पक्षपाती हैं लेकिन जब तक यह न हो तब तक स्त्रियों को शिक्षा व दीक्षा ग्रहण करने से रोका जाये इसके कतई समर्थक नहीं। हम यहाँ सिद्धान्त रीति से इस बात को समझा देना चाहते हैं कि शिक्षा और

दीक्षा के क्षेत्र में गुरु शब्द का क्या अर्थ है? और दीक्षा शब्द का क्या मतलब है? स्त्रियों की दीक्षा क्यों नहीं होनी चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में हम जानना चाहेंगी कि स्त्रियों के स्वरूप में छिपी हुई उनकी आत्मा क्या परमात्मा नहीं है?

गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है:-

ममैवांसो जीवलोके जीव भूत: सनातन:।

अर्थात् जीव-भूत यह मेरा सनातन अंश है। क्या यहां पर 'जीव' शब्द का प्रयोग पुरुषों के शरीर में अभिव्यक्त होने वाले आत्म-तत्त्व के ही लिए है या आत्मत्वेन स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि की सत्ता तक उनका अपना अंश है। यदि आत्मत्वेन पुरुष और स्त्रियों की आत्मा एक ही वस्तु है तो उनके परम श्रेय प्राप्ति के लिए एक को अधिकार है और दूसरे को कोई अधिकार नहीं, यह बात कहां तक न्याय संगत है? गुरु शब्द के अर्थ दो प्रकार के हैं। एक तो गुरु वह कहलाता है जो शब्दों का ग्रणन करता है।

ग्रणाति शब्दादीनुपदिशति य: स गुरु।

अर्थात् जो शताब्दियों का उपदेश करते हैं, सत् शिक्षा देते हैं वह सब-के-सब गुरु हैं। दूसरे गुरु शब्द की जो पुराणों में विवेचना की है वह इस प्रकार है:-

गुकारस्त्वन्धकार: स्यात्
रुकारस्तेजोच्यते।
अन्धकार निरोधित्वात्
गुरु रित्यभिधीयते।।

अर्थात् 'गु' नाम अन्धकार का है। 'रु' नाम तेज का है। अन्धकार निरोधन शक्ति जिसमें हो वही प्रकाशस्वरूप आत्मा गुरु है। जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है वहीं दूसरों को प्रकाश दे सकता है। और जो स्वयं ही अन्धकारमय है वह दूसरों को क्या प्रकाश देगा। इसलिए परम प्रकाश स्वरूप वही अव्यक्त सत्ता है। जिसके लिए शास्त्रों ने गद-गद कंठ से पुकार कर यह कह दिया है:-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं।
नेना विद्युतो भान्ति कुतोयमग्नि।।
तमेव भान्त मनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्व मिदं विभाति।।

अर्थात् वहाँ पर न सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा तारे ही कोई प्रकाश करते हैं। और अग्निदेव का तो कहना ही क्या है। ऐसी वह अव्यक्त सत्ता ही गुरु पद वाच्य है। योग-दर्शन में जहाँ पर भगवान पतंजलि ने योग की परिभाषा लिखी वहाँ पर श्री व्यासदेव ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिखा है:-

यत्रा वच्छेदनार्थेन
कालो नोपावर्तते स गुरु।

अर्थात् जिसकी सत्ता काल की सीमा से परे है वही ''सद्गुरू'' है। उसी सत्ता का वर्णन करते हुए उपनिषद कहते हैं कि:-

भयादस्यग्निस्तपति
भयात्तपति सूर्य:।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च
मृत्युर्धावति पंचम:।।

अर्थात् उसके भय से अग्नि तपती है, उसके भय से सूर्य तपता है, इन्द्र और वायु अपने कार्य में लगे रहते हैं और मृत्युदेव दौड़ा-दौड़ा फिरता है। यही वह परमतत्व है जिसके लिए हमारे शास्त्रों ने कहा है:-

नास्ति तत्वं गुरोपरम्

रही दूसरी बात यह कि यह सत्ता किन शरीरों का अधिष्ठान लेकर अपना काम करती है यह तो निश्चित सिद्धान्त की बात हो गई कि जहाँ से वह प्रकाश मिलता है वह नित्य चेतन सदा-सर्वदा सभी का बन्द्य है चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष हो यह कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

रहा '**दीक्षा**' शब्द का अर्थ '**दीक्षा**' शब्द में '**दीयते**' और '**क्षीयते**' दो क्रियाओं का प्रयोग होता है। दीक्षा शब्द का अर्थ बनता है:-

दीयते ज्ञानं क्षीयते तद्यावर्णं च

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान का प्रकाश दिया जाये और उसके ज्ञान की रुकावटें खत्म कर दी जायें वही '**दीक्षा शब्देनाभिव्यक्त**' है। वस्तुत: विचार करके देखा जाये तो दीयते और क्षीयते का प्रयोग संसार में प्रतिक्षण चलता रहता है। कोई क्षण इस प्रकार का नहीं जिसमें दीयते और क्षीयते इन दो क्रियाओं का प्रयोग न हो। हमारे शास्त्र का कथन है कि:-

मातृवान् पितृवान् आचार्यवान् पुरुषों वेद

अर्थात् माता वाला, पिता वाला और आचार्य वाला परमात्मा को जान पाता है। जो साधक मातृवान, पितृवान, आचार्यवान् नहीं है वस्तुत: उसको पुरुष बोध नहीं हो सकता। जिस समय व्यक्ति मातृवान् बनता है तब से ही मनुष्य के लिए 'दीयते' और 'क्षीयते' दोनों क्रियाओं का आरम्भ हो जाता है। माता अपने बच्चे को सद्‌शिक्षा देती है 'दीयते' क्रिया का प्रयोग हो गया। उसके अन्दर के दुर्गुणों को हटाती है। यहाँ पर 'क्षीयते' क्रिया का प्रयोग हो गया। एक प्रकार से यहाँ से ही 'दीक्षा' का कार्य प्रारंभ हो गया। इसी प्रकार से पिता अपने बच्चे को सत् शिक्षा देता है, दुराचारों से बचाता है उसके अन्दर से दुर्गुणों का क्षय करता है। यहां पर भी दीक्षा तत्त्व बराबर चल रहा है इसी प्रकार आचार्य गण अपने ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य व्रत पालन की शिक्षा देते हैं। ये भी उनका 'दीयते' और 'क्षीयते' की क्रियाओं का प्रयोग ही है। इस प्रकार संसार में रहने वाला प्राणी दीक्षा तत्त्व से बच नहीं सकता। चाहे वह पुरुष या स्त्री हो, लड़का या लड़की हो, सभी इस दीक्षा तत्त्व के अधिकारी हैं और सबको दीक्षायें प्राप्त होती रहती हैं रही उस दीक्षा की बात जिसको सामर्थ्यवान गुरु दिया करते हैं। उसमें उनका संकल्प प्रमुख कारण रहा करता है। इसमें कुछ दीक्षायें तो ऐसी होती हैं, जैसे गुरुदेव ने मन में संकल्प किया, वैसा ही शिष्य के मन में स्फुरण हो गया। इसका नाम संकल्प दीक्षा है। गुरुदेव ने अपनी आँखों से देखकर शक्तिपात किया इसका नाम दृग दीक्षा होता है। मन ही मन में जिसके लिए संकल्प किया वह मानस दीक्षा कहलाती है। ये सभी प्रकार की दीक्षायें स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़की सभी के लिए बराबर होती रहा करती हैं। किसी प्रकार से जब एक सामर्थ्यवान् गुरु संसार में अपने शक्तिपात के द्वारा लोक हित करता है तो क्या वह पुरुष समाज के ही लिए है, स्त्रियों के लिए नहीं? इन सभी युक्तियों से यह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार पुरुषों को सत् शिक्षा का अधिकार है उसी प्रकार से स्त्रियों को भी बराबर है। रही बात व्यभिचारादि की यह नियम सर्वत्र सामान्य रूप से लागू है। इसमें मनुष्य का पतन है। चाहे किसी साधारण से हो या असाधारण से यह कोई आवश्यक नहीं कि दीक्षा देने वाले गुरुओं में ही यह दोष मिले बाकी सब संसार दोषरहित हो। प्राचीन इतिहास में इस प्रकार की बहुत सी कथायें हैं जिनसे पूर्ण रुपेण प्रमाणित होता है कि किसी सामर्थ्यवान् गुरु से दीक्षा प्राप्त करने पर उनका सीमातीत उत्थान हुआ है। यहां तक कि उस तेज के हृदय में बढ़ जाने के बाद पाणिग्रहण कर्ता उसका पति भी उसको अपने सहवास में नहीं ले सका जब तक कि उसने भी स्वयं दीक्षा प्राप्त न कर ली हो और अपना भी उतना ही तेज न बढ़ा लिया हो। स्कन्धपुराण के अन्तर्गत आया हुआ काशीराज की एक कन्या का उदाहरण यहाँ ज्यों का त्यों उद्धत किया जाता है। पर इसके वर्णन से पहले मनुष्य को मंत्र सिद्धि के लिए क्या करना चाहिए यह समझाने के लिए पांच श्लोक उद्धत कर रहे हैं जो इस प्रकार हैं:-

अत: सद्‌गुरु माश्रित्य
ग्राह्योऽयं मंत्र नायक:।
पुण्य क्षत्रेषु जप्तव्य:
सद्य: सिद्धि प्रयच्छति।।
गुरवो निर्मला: शांता:
साधवो मितभाषिण:।
काम क्रोध विनिर्मुक्ता:
सदाचारा जितेन्द्रिया:।।
एतै: कारुण्यतो दत्तो
मंत्र: क्षिप्रं प्रसिद्धयति।
क्षेत्राणि जप योग्यानि
समासात्कथयाम्यहम्।।
प्रयागं पुष्करं रम्यं
केदारं सेतुवन्धनम्।
गोकर्ण नैभिषारण्यं
सद्य: सिद्धि करं नृणाम्।।

ऊपर से पंचाक्षरी महिमा का वर्णन चला आता है उसी के संकेत को लेकर कहा गया है कि सद्‌गुरु का आश्रय लेकर ही इस मंत्र को प्राप्त कर लेना चाहिए। पुण्य क्षेत्रों में जपने से यह मंत्र शीघ्र सिद्धि का दाता है। गुरु निर्मल स्वभाव के शान्त साधु, मितभाषी, काम, क्रोध रहित, सदाचार संपन्न एवं जितेन्द्रिय होते हैं। करुणा पूर्वक जब गुरू मंत्र को प्रदान करें तो शीघ्र सिद्धि का दाता होता हैं इस मंत्र के जपने योग्य जो

क्षेत्र है उनका नाम संकेत पूर्वक मैं तुमसे कहता हूँ। वह इस प्रकार हैं। 'प्रयाग, पुष्कर, रम्यक्षेत्र केदारनाथ, सेतुबन्ध रामेश्वर, गोकर्ण, नैमिषारण्य, इन सब तीर्थों में जप करने पर यह सद्य: सिद्धिप्रद है।

अत्रानुवर्ण्यते सद्भि–
रितिहास पुरातन्।
अहकृद्धा सकृद्धाऽपि
श्रृण्वतां मंगल प्रदः।।

इस विषय में श्रेष्ठ पुरुषों ने पुराने जमाने का एक इतिहास कहा है। उसका एक बार या अनेक बार सुनने से यह मंगल का दाता है। वह इस प्रकार है:–

मथुरायां यदुश्रेष्ठो,
दाशार्ह इति विश्रुतः।
बभूव राजा मतिमान्,
महोत्साहो महाबलः।।
शास्त्रज्ञो नयावाञ्छूरो,
धैर्यवान् मितद्युतिः।
अप्रधृष्यः सुगंभीरः,
संग्रामेष्वनिवर्तितः।।
महारथो महेश्वासो,
नाना शास्त्राथ कोविदः।
वादान्यो रूप संयुतः।।
स काशिराज तनया,
मुपयेमे वराननाम्।
कान्तां कलावतीं नाम,
रूप शील गुणान्विताम्।।

मथुरा नगरी में दशाहं नाम का एक विख्यात राजा था, वह बड़ा भारी बुद्धिमान, उत्साही, महा बलवान्, शास्त्र का ज्ञाता, नीतिवान्, शूरवीर, धैर्यवान्, बड़े भारी प्रभाव वाला, अजेय, गम्भीर, संग्राम में पीठ न देने वाला, नाना शास्त्रों का पारंगत, महारथी, धनुषधारी, वक्ता, रूप यौवन सम्पन्न, युवावस्था के लक्षणों से युक्त था। समय आने पर रूप यौवन सम्पन्ना काशिराज की पुत्री कलावती नाम की कन्या से उसने विवाह किया।

कृतोद्वाहः स राजेन्द्रः
संप्राप्य निज मंदिरम्।
रात्रौ तां शयनारूढ़ां
संगमाय समाह्वयत्।।
सा स्वभर्ता समाहूता
बहुशः प्रार्थिता सती।
न बबन्ध तस्मिन्न
चागच्छत्तदन्तिकम्।।
संगमाय यदाहूता
नागता निज बल्लभा।
बलादाहर्तुकामस्ता–
मुदति तिष्ठन्महीपति।।
राज्युवाच
मा मां स्पृश महाराज
कारण ज्ञां व्रते स्थिताम्।
धर्मा धर्मौ विज्ञानासि
माकार्षीः साहसं मयि।।
इत्युक्तोऽपि तथा साध्व्या
स राजा स्मरविह्वलः।
बलादाकृष्य तां हस्ते
परिरिभे रिरंसया।।
तां स्पृष्ट मात्रां सहसा
तप्तायः पिण्डसन्निभाम्।
निर्दहन्ती मिवात्मानं
तत्याज भय विह्वलः।।

इसका आशय यह है कि– विवाह के उपरान्त मथुरापति वह राजा अपनी पत्नी को अपने घर ले आया और रात्रि के समय उपभोग की कामना की किन्तु उस परम सती ने अपने पति को तत्काल मना कर दिया और स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि महाराज! आप मेरा स्पर्श न करें। मैं इस रहस्य को जानती हूं किन्तु कामातुर राजा ने अपनी प्रिया पत्नी को बलपूर्वक आलिंगन करना चाहा तो उसका शरीर तपे हुए जलते लोहे के समान अत्यन्त तप्त लगा। उस राजा को यह

मालूम हुआ कि यह थोड़ी देर में मुझे जला देगी। इसी भय से भयान्वित होकर उस राजा ने छोड़ दिया और विनम्रतापूर्वक बोला:-

राजोवाच

अहो समुहदाश्चर्य-
मिदं दृष्टं तवप्रिये।
कथमग्नि सम जातं
वपु: पल्लव कोमलम्।।
इत्थं सुविस्मितो राजा
भीत: सा राजवल्लभा।
प्रत्युवाच विहस्यैनं
विनयेन शुचिस्मिता।।

मुझे बड़ा आश्चर्य है कि पल्लव कोमल तेरा शरीर अग्नि के समान कैसे जल रहा है? राजा के इस प्रकार पूछने पर रानी प्रेमपूर्वक हंसकर विनयपूर्वक बोली कि-

राजन्मम पुरा वाल्ये
दुर्वासा मुनिपुंगव:।
शैवी पंचाक्षरीं विद्यां
कारुण्ये नोपदिष्टवान्।।
तेन मंत्रानुभावेन
ममांगं कलुषोज्झितम्।
स्प्रुष्टुं ना शक्यते पुभि:
स पापैर्देव वर्जितै:।।
त्वया राजन्प्रकृतिना
कुलटा गणिकादय:।
मदिरा स्वाद निरता
निषेव्यन्ते सदा स्त्रिय:।।
न स्नानं क्रियते नित्यं
न मत्रो जप्यते शुचि:।
नाराध्यते त्वयेशान:
कथं मां स्प्रष्टुमर्हसि।।

अर्थात् हे राजन्! बाल्यकाल में मुनियों में श्रेष्ठ दुर्वासा ऋषि ने करुणा करके मुझे शैवी पंचाक्षरी विद्या का उपदेश किया था। उस पंचाक्षरी के जाप से मेरा शरीर बिल्कुल पाप रहित हो गया है। इसलिए देववर्जित पापी पुरुषों से स्पर्श नहीं किया जा सकता। और हे राजन्! तुमने स्वाभाव से ही कुलटा स्त्रियों, गणिकादि का सेवन किया है, मदिरा आदि निषिद्ध पदार्थों का सेवन किया है और न तुम स्नान करते हो, न मन्त्र-जप करते हो, न शिवार्चन करते हो, ऐसी हालत में आप मुझे कैसे स्पर्श कर सकते हैं। अपनी रानी की ऐसी बात सुनकर उस राजा ने कहा- यदि ऐसी बात है तो तुम मुझे पंचाक्षरी विद्या का उपदेश दे दो जिससे मैं पाप-मुक्त होकर तेरे स्पर्श योग्य बन जाऊँ। रानी ने उत्तर दिया- महाराज! आप मेरे पति होने के नाते मेरे गुरु हैं। मैं आप को उपदेश कैसे दे सकती हूँ अत: आप मन्त्र वेत्ता गर्ग ऋषी के पास चलिए। वह ऋषि गर्गजी आपको पंचाक्षरी विद्या का उपदेश करेंगे। उसके जपने से आप अवश्य पाप निर्मुक्त हो जायेंगे। रानी के इस प्रकार समझाने पर वह राजा अपनी पत्नी को साथ लेकर गर्ग मुनि के आश्रम पर गया और साष्टांग दण्डवत् करके विनयपूर्वक इस प्रकार बोला:-

शैवी पंचाक्षरी विद्या-
मुपदेष्टुं त्वमर्हसि।
अनाज्ञातं यदाज्ञातं
यत्कुतं राज कर्मणा।।
तत्पापं येन शुद्धयेत
तन्मन्त्रं देहि मे गुरो।
एवमभ्यर्थितो राज्ञा
गर्गो ब्राह्मण पुंगव:।।
तौ निनाय महा पुण्यं
कालिंघास्तटमुत्तमम्।
तत्र पुण्य तरोर्मूले
निषण्णोऽथ गुरु स्वयम्।
पुण्य तीर्थ जले स्नानं
राजानं समुपोषितम्।
प्राङ् मुखं चोपवेश्याथ
नत्वा शिव पदांबुजम्।।
तन्मस्तके करं न्यस्य
ददौ मंत्रं शिवात्मकम्।।

अर्थात् हे प्रभो! आप मुझे शैवी विद्या का उपदेश करें। जिसके प्रभाव से मेरे ज्ञात व अज्ञात सभी पाप नष्ट हो जायें। राजा के इस प्रकार प्रार्थना करने पर ब्राह्मण श्रेष्ठ गर्ग जी ने उस राजा को परम पुण्यमयी कालिन्दी के तट पर ले जाकर के और उत्तम पुण्य वृक्ष पीपल के नीचे बिठाकर व स्वयं बैठकर व्रत किये। राजा को तीर्थ जल से स्नान करा कर पूर्वाभिमुख बिठाकर एवं भगवान शिव के चरणों में प्रणाम करा करके उस राजा के मस्तक पर अपना हाथ रखकर शिवात्मिका पंचाक्षरी विद्या का उपदेश दिया:-

तन्मंत्र धारणादेव
तद्गुरोर्हस्त संगमात्।
निर्ययुस्तस्य वपुषो
वायसा: शतकोटय:।।
ते दग्ध पक्षा: क्रोशंतो
निपतंतो महीतले।
भस्मी भूतास्तत: सर्वे
दृश्यन्ते स्म सहस्त्रश:।।
दृष्ट्वा तद्वायस कुलं
दह्यमानं सुविस्मितौ।
राजा च राज महिषी
तं गुरुं पर्य पृच्छताम्।।
भगवन्निदमाश्चर्यं
कथं जावं शरीरतं।
वायसानां कुल दृष्टं
किमेतत्साधु भण्यताम्।।

गर्ग जी के मंत्र उपदेश करने से और सिर पर हाथ रखकर शक्ति पात करने से उस राजा के शरीर से करोड़ों की संख्या में कौवे निकले और उनके पंख जल जाने के कारण वे सब जमीन पर गिर-गिर कर भस्म हो गये। इस दृश्य को देखकर राजा और रानी अति विस्मित हुए। और विनयपूर्वक गुरुदेव गर्ग जी से पूछा कि इतने कौवे मेरे शरीर से कैसे पैदा हुए और निकल-निकल कर भस्म कैसे हो गये हैं। इसके बाद श्री गर्ग मुनि जी बोले:-

राजन्भव सहस्त्रेषु
भवता परिधावता।
सन्चितानि दूरन्तानि
संति पापान्येकश:।।
तेषु जन्म सहस्त्रेषु
यानि पुण्यानि संति ते।
तेषामाधिक्यत: क्कापि
जायते पुण्य योनिषु।।
तया पापीयसी योनिं
क्कचित्पापेन गच्छति।
साम्ये पुण्यान्ययोश्चैव
मानुषीं योनि माप्तवान्।।
शैवी पंचाक्षरी विद्या
यदा ते हृदयं गता।
अधानां कोटयस्त्वत्त:
काक रूपेण निर्गता।।
कोटयो ब्रह्म हत्यानाम
गम्यागम्य कोटय:।
स्वर्णस्तेय सुरापानं
भ्रूण हत्यादि कोटय:।।
भव कोटि सहस्त्रेषु
येऽन्ये पातक राशय:।
क्षणाद्भस्मी भवंत्येव
शैवे पंचाक्षरे घृते।।
आसंस्तवाद्य राजेन्द्र
दग्धा पातक कोटय:।

गुरुदेव ने उत्तर दिया हे राजन्! हजारों जन्मों में घूमते हुए तेने जो हजारों पाप कमाये थे और उनमें से हजारों जन्मों में पुण्य इकट्ठे किए थे। उनके फल स्वरूप कभी तुम्हारा जन्म पुण्य योनि में हुआ और कभी पाप योनि में हुआ। अब पाप और पुण्य के बराबर हो जाने पर तुमने मनुष्य योनि प्राप्त की है और मनुष्य योनि प्राप्त कर लेने पर और शैवी पंचाक्षरी विद्या को हृदयंगम कर लेने पर करोड़ों पाप काकों के रूप में तेरे शरीर से निकल गये। करोड़ों ब्रह्म हत्यायें अगम्यागमन,

स्वर्णचोरी, शराब पीना और गर्भ-हत्याओं के करोड़ों प्रकार के पाप इसके अतिरिक्त अनेक जन्मों की पाप राशियें इस शैवीविद्या के प्रभाव से तेरे शरीर से निकल गये। और करोड़ों पातक जलकर भस्म हो गये।

दम्पति को गुरुदेव की आज्ञा

अन्या सह पूतात्मा,
विहरस्व यथङ्ग सुखम्।
इत्याभाष्य मुनि श्रेष्ठस्तं
मंत्र मुपदिश्य च।।
ताभ्यां विस्मित चिन्ताभ्यां
सहितः स्व ग्रहं ययौ।
गुरुवर्य मनुज्ञाप्य
मुदितौ तौ च दम्पति।।
तत स्वभवनं प्राप्त
रेजतुः स्म महाद्युति।
राजा दृढ़ं समाश्लिष्य-
पत्नी चन्दन शीतलाम्।।
संतोषं परमं लेभे
निःस्वः प्राप्य यथा धनम्।

अर्थात् हे राजन्! अब तुम पूतात्मा हो, अतः अब तुम इस अपनी सहधर्मिणी के साथ यथा सुख विहार करो यह कहकर वह मुनिश्रेष्ठ गर्ग उस विस्मित दम्पत्ति के साथ अपने आश्रम को चले गये और वह दोनों राजा व रानी श्री गुरुदेव से आज्ञा प्राप्त कर अपने राजमहल में आकर परमाह्लादित होकर बड़ी दिव्य आभा के साथ सुख युक्त हो गये। राजा दशार्हं ने घर आकर अपनी नवयुवती का दृढ़ आलिंगन किया तो वह अब चन्दन के समान शीतल लगी– उसको इस प्रकार की पाकर राजा को परम सुख हुआ जैसे कंगले को अपना खोया हुआ धन मिल गया हो।

इस कथा के अन्दर शक्तिपात दीक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व समझाया गया है। सद्गुरु के शक्तिपात से अथवा दीक्षा दे देने पर अवश्य ही शिष्यों के पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं। आज कल इस घोर कलिकाल के समय में भी जहाँ पर पूर्ण सामर्थ्यवान गुरु होते हैं और उनसे लोग शाम्भवी दीक्षा प्राप्त करते हैं तो उन लोगो के घरों मे सद्गुरु शक्ति के प्रभाव से अनेक चमत्कारिक घटनायें घटित होती रहती हैं।

शक्तिपात की एक आश्चर्यप्रद घटना

जिला आगरा के पवित्रतम सवांई ग्राम में एक क्षत्रिय-दम्पति निवास करते थे। वे दोनों पवित्र भक्तात्मा थे। उन्होंने अपने पवित्र आश्रम योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्ध गुफा से दीक्षा प्राप्त की थी। श्री गुरुदेवजी से दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद दोनों पति-पत्नी हर समय प्रभु-चिन्तन में मग्न रहने लगे। उनका पवित्र नाम ठा. मयासीराम व उनकी धर्मपत्नी का नाम भगवतीदेवी था। भगवतीदेवी अधिकाधिक समय ध्यानाभ्यास करने में देती थी और उसके पतिदेव भी ध्यानाभ्यास करते थे। भगवतीदेवी को अपने अभ्यास का समय अधिक मिलता था। पर उसके पतिदेव गृह कार्य में अधिक व्यस्त रहते थे। इसलिए पत्नी का अभ्यास उत्तरोत्तर बढ़ गया। वह देवी प्रभुजी के चिन्मय स्वरूप में हर समय लीन रहने लगी। श्री गुरुदेवजी ने उसको आज्ञा दी थी कि तुम नित्य अपने पतिदेव की परिक्रमा किया करो और चरणामृत लिया करो। श्री गुरुदेव की आज्ञानुसार उसने वैसा ही किया। किन्तु परिणाम दिनों दिन खराब होता गया। उसके पतिदेव बीमार हो गये। और किसी भी उपचार से कोई भी लाभ नहीं हुआ। अन्त में श्री गुरुदेव की चरण-शरण में जाकर के सौभाग्यवती भगवती देवी ने विनय पूर्वक पूछा कि महाराज जी इनकी जीवन रक्षा का कोई उपाय कृपा करके बताओ। भगवती देवी की विनय करने पर श्री गुरुदेव जी ने यथार्थता को समझ कर आज्ञा दी कि देवी अब कुछ समय के लिए तुम अपने पतिदेव का न चरणामृत लो न परिक्रमा करो न प्रणाम करो। हृदय में प्रेम रखो। विनययुक्त रहो आदर का भाव रखो किन्तु अभी कुछ समय चरणामृत आदि न लो भगवती देवी ने श्री गुरुदेव जी की आज्ञा को मान कर वैसा ही किया। जिस दिन से उसने पतिदेव का चरणामृत छोड़ दिया उसी दिन से उसके पतिदेव का स्वास्थ्य सुधरने लगा। और वह बहुत ही थोड़े दिन में पूर्ण स्वस्थ हो गये। श्री गुरुदेव ने प्रसाद देकर उनकी ध्यान-स्थिति को भी बढ़ा दिया। इस प्रकार मयासीराम की ध्यान-स्थिति बढ़ जाने पर दोनों पति-पत्नी एक ही नित्य चेतन स्वरूप में लीन रहने लगे। उपरोक्त लेख से ये भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि दीक्षा का कितना महत्व है और स्त्री-पुरुष सभी का सामान्य रूप से दीक्षा लेने का पूरा-पूरा अधिकार है।

स्त्रियाँ और दीक्षा

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'स्त्रियाँ और दीक्षा' सम्बन्धी एक लेख 'सिद्धयोग' के पिछले अंक में प्रकाशित हो चुका है, उसमें स्कन्ध पुराण का एक उपाख्यान दिया गया है। जिसमें कहा गया है कि कलावती नामकी एक काशी नरेश की कन्या का विवाह मथुरा के दर्शाह नाम के राजकुमार से हुआ था। राजकुमारी कलावती अपने बाल्यकाल में ही दुर्वासा मुनि से शक्तिपात-दीक्षा प्राप्त कर चुकी थी जिसके फलस्वरूप वह आध्यात्म-विकास से पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी। उसके हृदय में आत्म-तेज हर समय झिल-मिलाता रहता था। उसका विवाह हो गया था। किन्तु विवाह हो जाने के बाद जब उसके पति ने उसका सम्पर्क करना चाहा तो वह अपनी पत्नी कलावती के आत्म-तेज से पीड़ित होकर पीछे हट गया। उसे अपनी पत्नी का शरीर धधकते हुए अंगारे के समान जान पड़ा। अपनी पत्नी की इस अनुपम प्रतिमा को देखकर उसने सप्रेम पत्नी से पूछा कि इसका क्या कारण है कि मैं तुम्हारे शरीर को जलता हुआ देख रहा हूँ। अपने पति के प्रश्न के उत्तर में राजकुमारी ने कहा कि हे महाराज! मैं बाल्यकाल में ही दुर्वासा ऋषि से दीक्षा प्राप्त कर चुकी हूँ। इसलिये गुरुदेव के द्वारा प्राप्त मंत्र के तेज से मेरे पाप सब प्रकार से दहन हो चुके हैं। यह ऋषि की दीक्षा का प्रभाव है। आपने राजकाज करते हुए अनेक प्रकार के पाप किये हैं। कुलटा स्त्रियों से गमन किया है। अत: आपको भी पूर्ण सामर्थ्यवान गुरु से दीक्षा प्राप्त करके अपने आपको निष्पाप बना लेना चाहिये। तभी आप मेरे साथ सहवास कर सकेंगे। प्रतिकूल इसके सम्पर्क होना असम्भव रहेगा और यदि प्रयास करोगे तो इससे हानि ही होगी। पत्नी के समझाने पर पति ने गर्ग मुनि से जाकर के सपत्नीक दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा लेने के बाद मंत्र के तेज व गुरुदेव के प्रभाव से वह राजा पाप रहित हो गया और बाद में गर्ग मुनि से आज्ञा प्राप्त करके उस राज-दम्पति ने अपना दाम्पत्य जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत किया। यह उपाख्यान स्कन्ध ब्राह्मोत्रखण्ड 3 का है। इस उपाख्यान से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि गुरुदेव के शक्तिपात से क्या परिणाम साधक को हुआ करते हैं और स्त्रियों को दीक्षा लेने का अधिकार भी है या नहीं। स्त्रियों के विषय में आमतौर पर जनता में इस प्रकार का प्रचार है कि उनको किसी गुरु से दीक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिये। उनका पति ही उनका गुरु होता है। इसके अतिरिक्त किसी और से दीक्षा प्राप्त करना उपयुक्त नहीं है। इस उपरोक्त उपाख्यान से लोगों की यह भावना केवल मात्र कपोल-कल्पित ही मालूम पड़ती है। हमारे प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के और भी बहुत से उपाख्यान हैं जिनसे यह भली प्रकार से साबित हो जाता है कि स्त्रियों को अपने कल्याण के लिये यदि सामर्थ्यवान गुरुदेव मिल जायें तो आध्यात्म-विकास हेतु दीक्षा अवश्य प्राप्त करना चाहिये। स्त्रियों के शरीर में और पुरुषों के शरीर में अन्तर ही क्या है। हाड़, मांस और चर्म आदि के द्वारा प्रकृति से एक पुतला निर्मित हुआ। लिंग भेद से हम उसे स्त्री कह दें या पुरुष कह दें। यह तो केवल मात्र मन की विडम्बना है। वस्तुत: तो स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं। आत्मा न पुरुष है न स्त्री है न नपुंसक। केवलमात्र एक अमर-ज्योति के रूप में विशुद्ध प्रकाश है, जो हर शरीर को अपना अधिष्ठान बना करके चमकती रहती है। लिंग भेद से जिन नामों द्वारा उसको अभिव्यक्त किया जाता है उन्हीं नामों से वह व्यावहारिक होता रहता है यदि उसको स्त्री कहा जाता है तो उसके लिये स्त्रीलिंग के शब्दों का प्रयोग होता है और पुरुष कहा जाता है तो पुल्लिंग वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। तत्वत: पुरुषों के अन्दर जो चेतना शक्ति है वही स्त्रियों के अन्दर है। पुरुषों के अन्दर जो मनन करने की शक्ति है वही स्त्रियों के अन्दर भी है पुरुष जिस प्रकार से गन्ध ग्रहण करते हैं उसी प्रकार से स्त्रियां भी गन्ध ग्रहण करती हैं। पुरुष जिस प्रकार से अपने आपको स्वतंत्रता पूर्वक सुखी रखना चाहता है उसी प्रकार से स्त्रियां भी अपने आपको सुखी रखना

चाहती हैं। जब स्त्रियों का खाना-पीना, सोना-बैठना, बोलना-चालना सब कुछ पुरुषों के समान ही है तो पुरुषों के समान अध्यात्म-चिन्तन क्यों नहीं कर सकतीं क्या उनको आत्मोत्थान का अधिकार नहीं है, क्या वे लोग पुरुषों के समान ही आध्यात्मिक क्षेत्र में आकर अपने आपको पूर्णरूपेण विकसित नहीं कर सकतीं? अवश्य कर सकती हैं। आसन बन्ध मुद्रायें या पंचमेसवी योग मुद्रायें क्यों नहीं कर सकतीं। क्या उन लोगों को बिना शिक्षा के अध्यात्म-विद्या प्राप्त हो जायेगी और क्या वे अपना उत्थान कर सकेंगी यद्यपि स्त्रियों का पूर्णरूपेण पतिव्रत और पुरुषों को पूर्णरूपेण पत्नीव्रत होना ही चाहिये। तभी गृहस्थ में पारस्परिक सुख हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता। किन्तु पति व्रत और पत्नीव्रत पालन में गुरुदेव बाधक नहीं होते प्रत्युत पूर्णरूपेण सहायक रहते हैं क्योंकि गुरुदेव का स्वरूप मनुष्य के विकृत मन के अन्दर शुद्ध सात्विक प्रकाश को झिलमिला देना ही है। हमारे शास्त्रों में गुरुदेव की महिमा को बतलाते हुए आचार्य लोग कहते हैं:-

गुकारस्त्वन्धकारस्यात्
रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार निरोधित्वात्
गुरुरित्याभिधीयते।।

'गु' नाम अन्धकार का है और 'रु' नाम प्रकाश का है। अन्धकार को रोकने वाली शक्ति को ही गुरु शब्द से कहा गया है। इसलिये गुरुदेव अज्ञानान्धकार को नाश करने वाले हैं। अज्ञानान्धकार जब तक नष्ट नहीं होगा तब तक वासना का त्याग कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। जो लोग गुरुदेव के उस शुद्ध प्रकाश को नहीं पा सके उनका मन अज्ञानांधकार के अन्दर ग्रसित रहेगा ही और तब तक मनुष्य को यथार्थ सुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। हमारे आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है:-

दुर्लभो विषयत्यागो
दुर्लभं तत्व दर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था
सद्गुरुः करुणां विना।।

अर्थात् विषय-त्याग अत्यन्त दुर्लभ है और तत्व दर्शन प्राप्त करना भी अत्यन्त दुर्लभ है, सहजावस्था प्राप्त करना बहुत ही दुस्तर है जब तक कि साधक गुरुदेव की अनुकम्पा को प्राप्त नहीं करता। यदि वासना-त्याग और तत्व दर्शन सहजावस्था की प्राप्ति यह सब कुछ केवल मात्र पुरुषों के लिये ही निहित हो तो ठीक ही है किन्तु यदि वासना-त्याग स्त्रियों को भी आवश्यक है और तत्व दर्शन की उनको भी आवश्यकता है सहजावस्था उनके लिये भी जरूरी है तो सद्गुरु करुणा भी इन स्त्रियों के लिये आवश्यक ही है।

जैसा कि हमने पहले लिखा था कि भारत में एक ऐसा भी समय था जब देश के कोने-कोने में 'स्त्री शूद्रोनाधीयताम्' का पाठ पढ़ाया जाता था और घरों में स्त्रियां बिल्कुल विद्याहीन और मूर्ख पाई जाती थी किन्तु अब वह समय निकल गया। सद्विचारों का उदय हुआ। शनैः शनैः नारी जाति पढ़-लिखकर विद्वान होकर अपने कर्त्तव्यों को भली प्रकार समझने लगी हैं। भगवान श्रीकृष्ण जी ने गीता में अपने मुखारबिन्द से स्वयं यह आज्ञा दी है कि-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ते परां गतिम्।।

गीता 9:32

अर्थात् मेरे आश्रय को ग्रहण करके जो पाप योनियाँ हैं वे तथा स्त्रियाँ वैश्या और शूद्र सभी परम गति को पा जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों का भी कल्याण परमावश्यक है। और इस प्रकार का पारमार्थिक कल्याण केवल मात्र समर्थ गुरुदेव के द्वारा ही हो सकता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियों को भी गुरुदेव से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है। और इस प्रकार से गुरुदेव से शिक्षा और दीक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियों के उदाहरण बहु संख्यक मिलते हैं। एक साधारण सा उपाख्यान रामायण से भी हम यहां उद्धत करते हैं। भगवान श्री रामचन्द्रजी अनेक राक्षसों को दंड देते हुए मतंग ऋषि के आश्रम में पहुंचे वहां पर तप सिद्धा शबरी निवास करती थी। शबरी ने वहां पर स्वयं बतलाया है कि ब्रह्मलीन होने वाले

उसके गुरुओं ने उसे पहले ही बतलाया था कि वह उनके पवित्र आश्रम में रह करके तपश्चर्या करती रहे और कालान्तर में उसके तप का फल भगवान श्रीराम के दर्शन रूप में अवश्य प्राप्त होगा। समय आने पर भगवान श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मण सहित पम्पा सरोवर के पश्चिम तट पर विद्यमान मतंग ऋषि के आश्रम में गये और शबरी को उनके दर्शन प्राप्त हुए। श्रीराम के वहां आने पर शबरी ने कहा—

अत्राश्रमे रघुश्रेष्ठ!
गुरवो मे महर्षय:।
स्थिता: शुश्रूषणं तेषां
कुर्वती समुपस्थिता।।

यानी शबरी ने कहा कि रघुबीर इस आश्रम में मेरे गुरुदेव रहते थे मैं उनकी सेवा के लिए यहाँ उपस्थित रहती हूँ।

बहुवर्ष सहस्राणि
गतास्ते ब्रह्मण: पदम्।
गमिष्यन्तोऽपि ब्रुवन्मां
त्वं वसात्रैव समाहिता।।

वे मेरे गुरुदेव हजारों वर्ष पहले ब्रह्मलीन हो चुके हैं। जब वे ब्रह्मलीनता को प्राप्त होने लगे तब मुझे इसी आश्रम में वास करने की आज्ञा देकर गये थे। तब से अब तक मैं उनकी आज्ञानुसार इस आश्रम में रह करके बड़े नियम और व्रत के साथ आपके दर्शन की अभिलाषा में ठहरी हुई हूँ। शबरी के ऐसे कहने पर भगवान् रामचन्द्रजी ने अपने मुखारविन्द से प्रश्न किया:-

कच्चिते नियम: प्राप्ता:
कच्चित्ते मनस: सुखम्।
कच्चित्ते गुरु शुश्रूषा
सफला चारुभाषिणी।।

भगवान् श्रीराम ने कहा मृदुभाषिणी शबरी! बतलाओ क्या तुम्हारे नियम परिपूर्ण हैं। तुम्हारा मन सुखी तो है। तुम्हारी गुरु-सेवा सफल हो गई या नहीं। उसके उत्तर में शबरी ने कहा:-

अद्य प्राप्ता तप: सिद्धि-
स्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म
गुरवश्च सुपूजिता:।।

शबरी ने उत्तर दिया- हे श्रीराम! आज मैंने आपके दर्शन से तप-सिद्धि को प्राप्त कर लिया है एवं गुरुदेव के परम आशीर्वाद से आपके दर्शन को पाकर आज मेरा जन्म सफल हो गया। यह गुरुभक्ता शबरी का कथन है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हमारे शास्त्रों में हैं।

श्री पार्वती का नारद मुनि से उपदेश लेकर तप करना आजकल के युग में प्रसारित है ही। जिस समय सप्तऋषि पार्वती की परीक्षा के लिये भगवान शिव के कथन से पार्वती के पास गये तो उन्होंने वहां जा करके नारद मुनि की कुछ अनावश्यक निन्दा की और कहा कि नारद मुनि की बात को मान करके हे पार्वती किसी ने भी आज तक सुख नहीं पाया और तुम ने नारद की बात मान करके परम उदासीन भगवान शिव को प्राप्त करने की इच्छा की है यह ठीक नहीं। भगवान शिव अमंगल वेष हैं सदा जंगलों में पड़े रहते हैं। देखों नारद मुनि ने एक बार दक्ष के पुत्रों को उपदेश दिया था। उन्होंने घर-बार फिर लौट करके नहीं देखा। चित्रकेतु के घर को भी नारद ने चौपट कर दिया था। नारद मन का कपटी है ऊपर से सज्जन दिखाई देता है जो इसके वचन को मानते हैं वे भिखारी बन जाते हैं। इस प्रकार जब नारद मुनि की निन्दा की और भगवान शिव की उपेक्षा कर बैकुण्ड पति विष्णु को वर लेने का आग्रह किया तो जगदम्बा पार्वती जी ने इस प्रकार उत्तर दिया:-

सत्य कहेहु गिरि भव तनु एहा।
हठ न छुटे छुटे बरु देहा।।
कनकउ पुनि पषान ते होई।
जोरेहुं सहज न परिहर सोई।।
नारद वचन न मैं परिहरऊ।
बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊ।।
गुरु के वचन प्रतीति न जेही।
सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।।

अर्थात् हे मुनिद्रो! तुमने सत्य कहा है। मेरा यह शरीर पर्वत से उत्पन्न हुआ है इसलिये हठ नहीं छोड़ा जा सकता। सोना पत्थर से पैदा होता है लोग उसको जला डालते है किन्तु वह अपने स्वभाव स्वर्णत्व को नहीं त्यागता। इसलिये मैं नारद

मुनि के वचन को बिल्कुल नहीं छोड़ सकती क्योंकि शास्त्र का वचन है कि जिसको गुरु के वचन पर विश्वास नहीं होता उसको कभी भी सुख और सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। इतना ही नहीं शाण्डिलस्मृति आदि में तो जिस पुरुष या स्त्री ने दीक्षा प्राप्त नहीं की उनके दर्शन करना भी निषेध कहा है:-

नास्ति येषां गुरुर्नृणां
नारीणां वापि मन्त्रदः।
ने तेषां वदनं वीस्यं
गतिश्चैषां न विद्यते।।

अर्थात् जिन स्त्रियो या पुरुषों का कोई मंत्र दाता गुरु नहीं है उनके दर्शन नहीं करने चाहिये, जो लोग ऐसे पुरुषों के दर्शन करते हैं वे सद्गति को नहीं पाते। रामायण में शबरी का उपाख्यान मिलता ही है जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। तुलसीकृत रामायण में भगवान श्रीराम ने नवधाभक्ति का उपदेश करते हुए इस प्रकार कहा है :-

प्रथम भगति संतन कर संगा।
दुसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरु-पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथिभगतिममगुनगनकरई कपटतजिगान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा।
छठ दम सील विरति कहु करमा।
निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सातव सम मोहि मय जग देखा।
मोते संत अधिक करि लेखा।
आठव जथा लाभ संतोषा।
सपनेहु नहिं देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हिय हरष न दीना।।
नवमहु एकउ जिन्ह के होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।।

अर्थात् भगवान राम ने शबरी को उपदेश करते हुए संतों के संग को प्रथम भक्ति बतलाया है और दूसरी भक्ति उनकी कथा में मन को लगाना और तीसरी भक्ति अभिमान रहित होकर श्री गुरुदेव के चरण कमलों की सेवा कहा है। चौथी भक्ति में कपट रहित होकर अपने गुणगान करने की आज्ञा दी है। पांचवीं भक्ति में स्वाध्याय जप आदि का आदेश दिया है और छठी भक्ति में जितेन्द्रियता अच्छा चरित्र एवं वैराग्य का उपदेश किया है और सातवीं भक्ति में विष्णुमय जगत देखने की एवं संतों के मान का उपदेश किया है। आठवीं भक्ति में जो कुछ मिल जाये उसी में सन्तुष्ट रहना एवं पराये दोषों को न देखने का आदेश दिया है और नवधा-भक्ति के अन्दर सरलता के साथ कपट रहित वर्ताव करना हृदय में अपने प्रति आस्था रखना कहा है। यह सब नवधा भक्ति के रूप हैं। बाद में यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया है कि संसार में जितने स्त्री-पुरुष हैं उन सब में यदि इन नवधा भक्ति का प्रकाश हो जाये वह मुझे अत्यन्त प्यारा है। शबरी को सांत्वना देते हुए भगवान राम ने कहा कि शबरी! यह सब प्रकार की भक्ति तुमने दृढ़ता से की है। वैसी किसी एक व्यक्ति में स्त्री-पुरुषों में होना भी अति उत्कृष्ट समझा जाता है। उन्होंने कहा इन सब में से कोई भी एक प्रकार भी भक्ति करता है तो वह भी मुझे अति प्यारा है और जहां पर तीसरी भक्ति का वर्णन करना आरम्भ किया वहां पर स्पष्ट रूप से कह दिया:-

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान।

अर्थात् श्री गुरुदेव जी के चरण कमलों की अभिमान रहित होकर के सेवा करना तीसरी भक्ति है। यदि श्रीराम को स्त्रियों का गुरुभक्त होना अभीष्ट न होता तो उपरोक्त शब्द किसी भी प्रकार से नहीं कहते। भगवान श्रीराम ने गुरु पद पंकज की अभिमान रहित होकर सेवा करना अपनी भक्ति मानी है। इसलिये जिन लोगों का यह विचार है कि स्त्रियों को दीक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिये यह वे बिल्कुल भ्रम में हैं। विचारने वाली बात एक ही है कि स्त्रियों को पति-परायण रहना चाहिये। व्यभिचारिणी नहीं बनना चाहिये। श्री गुरुदेव के उपदेश लेने वाली स्त्रियाँ व्यभिचारिणी ही हो जायेंगी यह कोई नियम की बात नहीं। जो स्त्रियाँ रसभरे नग्न नृत्य देखती हुई व्यभिचारिणी नहीं हो सकतीं। जो युवती लड़कियाँ युवा लड़कों के साथ सह शिक्षा को प्राप्त करती हुई व्यभिचारिणी